डॉ० जगमोहन चोपड़ा

आधुनिक हिन्दी उपन्यास

डा० चौपडा की पुस्तक 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास' एक विशिष्ट दृष्टि से प्रस्तुत हिन्दी उपन्यासों का अध्ययन है। कथा के क्लासकी प्रतिरूप में धीरोद्वात और धीरप्रशान्त जैसे नायकों के चर्तुदिक वस्तु का नियोजन होता था। रोमांटिक यथार्थ दृष्टि ने साधारण जीवन और चरित्रों को ग्रहण किया, पर उसकी वस्तु योजना में केन्द्रीय महत्वपूर्ण चरित्र का स्थान बना रहा। परन्तु आधुनिक रचना हमारे यथार्थ को उसकी पूर्णता में ग्रहण करना चाहती है, इसलिए किसी घटना या चरित्र को केन्द्रीय महत्व देकर नहीं चलती। उसमें एक स्तर पर भावावेश, भावान्दोलन, भावोद्रेक से बचा जाता है दूसरी ओर चरित्र को गरिमामण्डित रूप में आकर्षक नहीं बनाया जाता। रचना के स्तर पर सामान्य और साधारण यथार्थ भी आकर्षक और व्यंजक हो जाता है। आज का उपन्यास इस दृष्टि को प्रतिफलित करना चाहता है। डा० चौपड़ा ने नायक-विहीन उपन्यासों के अध्ययन से इस महत्वपूर्ण पक्ष को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। इस अध्ययन में स्पष्ट हो सका है कि परम्परागत नायक के स्थान पर वस्तुओं, स्थितियों और अमूर्त्त भावास्थितियों के माध्यम से कथावस्तु का संयोजन उपन्यासों में किया जा रहा है। इस प्रकार नए उपन्यास की विशेष प्रवृत्तियों को भी रेखांकित किया जा सका है।

डा० रघुवंश, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, इलाहालाद
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

हिन्दी उपन्यास की सुदीर्घ यात्रा में आभिजात्य नायक से नायक विहीनता की इस ऐतिहासिक यात्रा का प्रामाणिक, वैज्ञानिक विश्लेषण डाक्टर जगमोहन चौपड़ा ने अपनी नवीन कृति 'आधुनिक हिन्दी उपन्यास' में बहुत सफलता और सबलता के साथ प्रस्तुत प्रस्तावित किया है।

डा० मैथिली प्रसाद भारद्वाज
अध्यक्ष हिन्दी विभाग, पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़-14

आधुनिक हिन्दी उपन्यासों में इधर इस तरह की प्रवृत्ति के उपन्यासों पर यह पुस्तक अपने आप में पहला काम है। नायक विहीनता पर डा० जगमोहन चोपड़ा की बेब.क राय आधुनिक समीक्षा तथा शोध के क्षेत्र में एक नया आयाम प्रदान करेगी।

जगदीश चन्द्र, समाचार सम्पादक
दूरदर्शन केन्द्र, जालन्धर।

आधुनिक हिन्दी उपन्यास में लेखक ने सर्जनात्मक समीक्षा का परिचय देते हुए यह सिद्ध करने की सार्थक कोशिश की है कि किस प्रकार बदलते हुए परिवेश में व्यक्ति का स्थान स्थिति ने ले लिया है। रचनाशीलता का यह संदर्भ जिस तरह से उपन्यास को नया बनाता है उसी तरह से प्रस्तुत समीक्षा को भी सार्थक और प्रासंगिक बनाता है।

डा० विनय, 25 बैंगलोरोड़, दिल्ली।

आधुनिक हिन्दी उपन्यास

आधुनिक हिन्दी उपन्यास

डॉ० जगमोहन चोपड़ा

विक्रान्त प्रेस

प्रथम संस्करण : 1982

प्रकाशक : विक्रान्त प्रेस, 32 वज़ीरपुर
इण्डस्ट्रीयल कॉम्पलेक्स, दिल्ली-110052

आवरण : हरिप्रकाश त्यागी

ADHUNIK HINDI UPANYAS
Dr. JAG MOHAN CHOPRA
Literary Criticism : Hindi Novel   Rs. 60.00

क्रम

अपनी बात

सन् 50 अपने आप में न तो कोई विभाजक रेखा है और न ही इसे किसी विशेष अर्थवत्ता से रेखाँकित किया गया है। सन् 50 से आज तक, यानि सन् 80 तक, की कालावधि पर काम करने का सीधा और स्पष्ट कारण यह है कि डा० भीष्म साहनी 'हिन्दी उपन्यास में नायक का स्वरूप' नामक शोध-प्रबन्ध में सन् 50 से पूर्व नायक के स्वरूप की स्थिति पर काम कर चुके थे। इस लिए सन् 50 से आज तक (सन् 80) की नायक के स्वरूप की स्थिति का विस्तृत अध्ययन और विश्लेषण ही इस पुस्तक का अभीष्ट हो सकता है। यूं सन् 50 से सन् 80 तक की कालावधि हिन्दी उपन्यास के लिए और विशेषकर नायक के स्वरूप की दृष्टि से अपने कई नए प्रयोगों के साथ महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है। यदि यह कहा जाए कि इस पूरे काल में, यानि सन् 50 से सन् 80 तक, हिन्दी औपन्यासिक साहित्य ने वह काम किया है जो वह पिछले 70 वर्षों में नहीं कर सका था तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। यद्यपि इस रचना काल (1950-1980) के दौरान कृति का महत्व पा सकने वाली उपन्यास रचनाएं कुछ अधिक मात्रा में नहीं लिखी गयीं तथापि कृति का माहात्म्य और कृति की सम्भावना को सिद्ध करने वाली कुछ ऐसी रचनाएं उपलब्ध हैं जो आज के हिन्दी उपन्यास को उपन्यास की संज्ञा के निकट लाती हैं। परिणामतः प्रस्तुत पुस्तक में सन् 1980 तक के उपन्यासों को न लेकर केवल चुनींदा उपन्यासों को नायक के स्वरूप की पहचान के लिए लिया जा रहा है। नायक के जिस स्वरूप का खण्ड-खण्ड अंकन विभिन्न उपन्यासों की पूंजी है, उसे ही आज की समूचि आर्थिक-राजनैतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक-नैतिक समस्याओं के बीच से देखना इस पुस्तक का विषय है या ये समस्याएं नायक की आत्मिक समस्याएं बन गयी हैं जिन्हें परिवेश की तंत्री से जोड़कर सही मायनों में नायकत्व की तलाश करती है, चाहे यह तलाश नायकत्व से अनायकत्व की ही क्यों न हो। यदि रोज़मर्रा की ज़िन्दगी का नायक जड़ता और यांत्रिकता के घेराव में जकड़ा गया है, नपुंसक और गतिहीन है तो नायक-

विहीनता का कितना अंश उस पर आरोपित है और कितना उसकी आन्तरिक पहचान का है—इसे समझना समस्या का विशेष संदर्भ हो सकता है।
भारत में वैदिक युग का नायक परम था, मध्ययुग में वह परम द्वारा निःसृत महामानव के रूप में आया और उन्नीसवीं शताब्दी में वह मध्यवर्ग द्वारा निर्मित जन-साधारण के रूप में आ रहा हैं। साथ ही यह लघुमानव की संज्ञा से जुड़ा हुआ निम्न अथवा मध्यवर्गीय व्यक्ति, जिसने आभिजात्य नायक से उसका पद छीना था आज स्वयं भी उसी नायकत्व की भूमिका से बहिष्कृत हो रहा है। मध्यवर्गीय नायक अपनी क्लीवता, निष्क्रियता, अपने आधे-अधूरेपन को खण्डित कर चुका है।

आज इस उपन्यास को प्रश्रय देने वाली प्रवृत्ति के समानान्तर, समकक्ष, एक अन्य नयी प्रवत्ति पनप रही है जिसे नायक-विहीन उपन्यासों की प्रवृत्ति से अभिहित किया जा सकता है। यह परम्परा नायक को प्रश्रय देने वाली औपन्यासिक प्रवृत्ति के कुछ अनजाने ध्रुवों से खण्डित होकर जहां पहले वाली प्रवृत्ति से अलग होती है वहीं परम्परागत सजीव नायक का स्थान शहर, गाँव, समस्या, समय आदि अमूर्त आकार ग्रहण कर लेते हैं। ये मूर्त आकार ही उपन्यास का केन्द्र बन जाते हैं।

इस प्रकार केन्द्रीय पात्र या केन्द्रीय विषय अथवा रूपान्तरण की यह स्थिति परम्परावादी नायक की अवधारणा से मेल नहीं खाती, जहाँ नायक को एक चौखटे में बद्ध रखा जाता था। परन्तु फिर भी आज का आलोचक इस निर्जीव वस्तुओं में नायक को तलाशता है। नायक की तलाश से जुड़ा हुआ आलोचक का यह आग्रह जहाँ वस्तुस्थिति को नकारता है, वहाँ आलोचना को संकुल भी बनाता है। साथ ही समसामयिक बौद्धिक मांग की अपेक्षाओं पर नहीं उतरता। आज जब कि हिन्दी उपन्यास मनःस्थितियों, समस्याओं, परिवेश की समग्रता अथवा वैश्विक स्थितियों में व्यक्ति, समूह, पीढ़ियों के द्वेष, वर्तमान वैज्ञानिक संकट, मूल्यहीनता तथा भविष्यहीनता इत्यादि के विलक्षण प्रश्न खोजता है, वहाँ हम केवल किसी एक पात्र, किसी एक व्यक्ति अथवा किसी एक चरित्र पर अंगुली रखकर उसे नायक की संज्ञा से अभिहित नहीं कर सकते। इस स्थिति में नायक का स्वरूप खोज पाना सहज नहीं है, क्योंकि 'नायक शब्द का अर्थगत आग्रह संकट पैदा करता है। यह बहुत निश्चित है कि नायक शब्द का पारम्परिक अर्थ अब विसंगत हो गया है। इसमें अर्थ का अथवा स्वयं इस शब्द का रूपान्तरण जरूरी हो गया है। प्रायः इस स्थिति में कथा केन्द्र अथवा केन्द्रीय-विषय नायक

का स्थान ले सकता है, परन्तु वह समस्या को और अधिक जटिल एवं विवादास्पद बना सकता है क्योंकि आज का हिन्दी उपन्यास कथा नहीं कहता, मनोभावों एवं मन:स्थितियों की व्याख्या करता है। अत: 'नायक' शब्द के प्रयोग में उन नए अर्थों की तलाशना होगा जो इस संकटकालीन अथवा विवादास्पद समस्या का समाधान कर सकें। जहां तक नायक-विहीन उपन्यासों का प्रश्न है उनमें नायक की तालाश केन्द्रीय विषय, केन्द्रीय पात्र अथवा कथा-केन्द्र की हो सकती है। इस प्रकार के नए अर्थों में परम्परागत 'नायक' शब्द के स्थान पर उन्हें केन्द्रीय पात्र अथवा केन्द्रीय विषय जैसे शब्दों से अभिहित करना अधिक स्वाभाविक और समीचीन होगा।

सन् 47 के पूर्व भारतीय समाज परम्परा निर्दिष्ट था-व्यक्तियों को मान्यता प्राप्त आदर्शों, मूल्यों में जीना होता था उसके व्यवहार की दिशा, उसके जन्म से पूर्व ही निर्धारित हो जाती थी परन्तु विभाजन ने अजीब परिवर्तन ला दिया। पुराने मूल्य टूट गए, पुरानी मान्यताएं नष्ट हो गयीं। इस स्थिति में मूल्य काम चलाऊ, व्यवहारिक, और वैयक्तिक होने थे। देश की आजादी से यह लोग स्वतंत्र थे—शिक्षा और पैसे के बल पर एक नया वर्ग पैदा करने को। इस काल की सबसे बड़ी उपलबिध ही यह नायक और व्यवहारिक, काम चलाऊ मान्यताओं, रिश्तों, आदर्शों का अस्तित्व में आना है। यह नायक निस्संदेह निम्न मध्यवर्गीय होना था। आजादी के द्वारा जगाये गये विश्वासों, स्वप्नों के पूरा न होने से ही व्यक्ति कुंठित, अन्तर्मुखी, नकारावादी, और आत्मघाती बन गया। अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता ने इसे और बिखेरा और उसका व्यक्तित्व टूटने की सीमा तक आ गया। यही व्यक्ति ही 'मैं' और 'आप' हैं—हिन्दी उपन्यासों के पात्र, नायक तो क्या होने थे पात्र के रूप में अपनी पहचान की भी सम्भाल मुश्किल होने लगी। यहां यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए हिन्दी उपन्यास में नायक-विहीन उपन्यासों की प्रवृति यद्यपि अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है, यद्यपि इस प्रवृति के उपन्यासों की संख्या अंगुलियों पर गिनाई जा सकती है। तथापि यह निश्चित है कि यह प्रवृति किसी न किसी रूप में पनप रही है और अपने नए संदर्भ की तलाश में है।

प्रस्तुत समीक्षात्मक पुस्तक के सृजनात्मक क्षणों में प्रामाणिक सामग्री जुटाने में सहयोगी रूप में डा० मैथली प्रसाद भारद्वाज, डा० इन्द्रनाथ मदान,' डॉ० रमेश-कुन्तल 'मेघ', डा० रघुवंश, डा० धर्मवीर भारती, श्री नेमिचन्द्र जैन के अमूल्य सुझावों के अतिरिक्त मैं पाण्डुलिपी में आवश्यक परिवर्तन और

प्रूफ रीडिंग तथा सृजनात्मक सहयोग के लिए अपने अभिन्न मित्र डा० सुरेश धींगड़ा को कभी नहीं भुला सकता।

13 मई, (ग्रीष्मऋतु)

अपने जन्म दिन पर

प्राध्यापक, स्नातकोत्तर, हिन्दी विभाग
पत्राचार पाठयक्रम निदेशालय,
पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़-160014

जगमोहन चोपड़ा

परिच्छेद 1 | सन् १९५० से आज तक नायक की स्थिति

बदलते भारतीय परिवेश में नायक के स्वरूप का ऐतिहासिक सर्वेक्षण करें तो हम पायेंगे कि सन् 50 तक की हिन्दी उपन्यास रचना मूलतः दो रचना-दृष्टियों द्वारा प्रणीत हो रही थी। ये दो रचना दृष्टियाँ समष्टि और व्यष्टि नाम से अभिहित की जाती रही हैं। हिन्दी-उपन्यास कभी इनके स्वतंत्र पक्षों की व्याख्या करता है और कभी इनमें सामंजस्य ढूंढने का प्रयास। अंततः नायक की स्थिति भी इनके केन्द्र से जुड़ी हुई है और प्रायः इन दोनों दृष्टि-बिन्दुओं को अपनी प्रवृत्ति से अलग नहीं कर पायी। इसके बीच में कहीं-कहीं नायक-विहीन उपन्यासों की परिकल्पना भी उपलब्ध होती है, लेकिन वह एक अलग औपन्यासिक-धारा कही जा सकती है। इस औपन्यासिक धारा में नायकत्व को प्रश्रय नहीं मिल सका, बल्कि एक विशिष्ट प्रकार की मनःस्थिति, एक विशिष्ट घटना या काल अथवा समस्या-विशेष या शहर, गाँव इत्यादि ने नायकत्व ग्रहण कर लिया है और यह नायकत्व की पूर्व-स्थिति और पूर्व-अवधारणा का अतिक्रमण करता है। इस स्तर पर यह नायकत्व की कोटि में भी नहीं आता, क्योंकि मूलतः इसकी परिकल्पना नायक-विहीनता की होती है। यह आलोचना की सीमा ही कही जा सकती है कि नायक-विहीन उपन्यासों में भी नायकत्व को खोजा जाता है।

आज के हिन्दी उपन्यास की रचना की मूलभूत प्रक्रिया जिन दो रचना-दृष्टियों से प्रेरित दिखाई देती है और जिनकी आकार एवं मूर्तता प्रदान करने वाले कुछ विशिष्ट स्त्री अथवा पुरुष पात्र उपन्यासों में उपलब्ध होते हैं, वे ही नायक की स्थिति के सही परिप्रेक्ष्यों को स्पष्ट कर सकते हैं और उन्हीं के आधार पर सन् 50 से आज तक के नायक की स्थिति का अध्ययन किया जा सकता है। इसकी पुष्टि के लिए यह कहना भी असंगत न होगा कि आज का हिन्दी उपन्यास

मनःस्थितियों, समस्याओं, परिवेश की समग्रताओं, अथवा वैश्विक स्थितियों में से व्यक्ति, समूह, पीढ़ियों के द्वेष, वर्तमान वैज्ञानिक संकट, मूल्यहीनता तथा भविष्यहीनता आदि के विलक्षण प्रश्न खोजता है, केवल किसी एक पात्र, किसी एक व्यक्ति अथवा किसी एक चरित्र को रेखांकित नहीं करता, इस स्थिति में 'नायक' का स्वरूप खोज पाना सहज नहीं है क्योंकि नायक के शब्दार्थगत आग्रह संकट पैदा करते हैं। इसके मूल में आधुनिकता की प्रक्रिया है जो जीवन की मान्यताओं पर प्रश्न-चिन्ह लगाकर इसे आंकने की प्रेरणा देती है। आधुनिकता की यह प्रक्रिया कुछ अनजाने ध्रुवों पर आकर जहां नायक की परम्परागत अवधारणा को अस्वीकारती है, वही बिन्दु नायक-विहीन उपन्यासों की परिकल्पना का जन्मदाता हो सकता है।

'गोदान' (1936) से 'नदी के द्वीप' (1951) तक की उपन्यास रचना अथवा 'नदी के द्वीप' (1951) से 'श्वेत पत्र' (1980) तक की उपन्यास रचना इस बात का प्रमाण है कि (कुछेक प्रयोगों को छोड़कर) हिन्दी उपन्यास में नायक की 'स्थिति' एक आवश्यक भूमिका की 'स्थिति' है। केवल इसके स्वरूप और इसकी अवधारणा में अन्तर आता गया है, क्योंकि उपन्यासकार जीवन के अधिकाधिक निकट आने की प्रक्रिया में अथवा आदमी की तलाश में उसके परिवेश को छीलता और चीरता निकल गया है। आदमी की खोज उसकी पहली और अंतिम खोज रही है और प्रायः इस खोज में उसे अपने जीवन के व्यक्तिगत अनुभवों की साक्षी में भी अधिकांश लेखन रचना पड़ा है। यद्यपि इस लेखन का एक बड़ा भाग आत्म-अभिव्यक्ति बन गया है, तथापि कुछ ऐसा लेखन शेष बचा रह गया है जो सृजन की दृष्टि से महत्त्व रखता है। अधिकांश उपन्यासों की रचना के स्तर 'कृति' की उपेक्षाओं तक न उतर पाते हुए भी कृति की सम्भावनाओं की ओर इंगित अवश्य करते हैं। इस उपन्यासों में नायक की स्थिति उसकी आवश्यक भूमिका की स्थिति के संकेत देती है।[1]

---

1. 'नदी के द्वीप' (भुवन); 'पथ की खोज' (चन्द्रनाथ); 'बलचनमा (बलचनमा); 'सूरज का सातवां घोड़ा' (माणिक); 'चांदनी के खण्डर' (वसन्त), 'उखड़े हुए लोग' (शरद); 'बूंद और समुद्र' (साजद); 'उसका बचपन' (बीरू); 'कब तक पुकारूं' (सुखराम); 'यह पथ बन्धु था' (श्रीधर); 'शहर में घूमता आईना' (चेतन); 'वे दिन' (मैं); 'अठारह सूरज के पौधे' (मैं); 'न आने वाला कल' (मनोज सक्सेना); 'दूसरी बार' (मैं); 'धूपछांही रंग' (सुकान्त); 'इन्द्रसुने' (ओर्व); 'एक चिथड़ा सुख' (मुनू), 'जिन्दगी नामा' (शाह जी)। इत्यादि।

आज के संकुल जीवन में नायक की भूमिका के अर्थ परम्परागत अर्थ न होकर नए रूप ग्रहण कर चुके हैं। यह ठीक है कि मानवी-विघटन की प्रक्रिया ने नायक के बिम्ब का विघटन किया है, किन्तु यह विघटित बिम्ब ही आज की परिस्थिति में नायक की प्रामाणिक संज्ञाएं जुटा सकता है। प्रायः यही कारण है कि 'उखड़े हुए लोग,' का देशबन्धु, 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' का माणिक अथवा 'धूप छाँही रंग' का जौहरी साहब अथवा डंडास्वामी नायक की सम्भावित भूमिकाएँ बन सकते हैं क्योंकि इन पात्रों में मनुष्य का सही परिचय मिलता है जो उसकी प्रकृति एवं प्रकृति के समूचे अन्तर्वाह्य को समेटने के प्रयास का परिणाम है।

नायक की भूमिका का यह एक पक्ष है इसका दूसरा पक्ष नायक की उच्चतर भूमिका से जुड़ा हुआ है। यह भूमिका समाजवादी दृष्टि एवं साम्यवादी प्रवृत्ति से प्रभावित होकर लिखे गए उपन्यासों में विशेष तौर पर उपलब्ध होती है। इन उपन्यासों में नायक की स्थिति नायकत्व की भूमिका की ही है, लेकिन इसका उच्चतर प्रयाण आस्थावान् मूल्यों की खोज है, अतः नायक एक अन्य रास्ते से शाश्वत आदर्शों और आधुनिक जीवन की अपेक्षाओं के बीच संतुलन खोजने के हेतु एक प्रकार के सक्रिय नायक (पाज़िटिव हीरो) की भूमिका अपना रहा है। नायक की यह स्थिति वांछनीय होते हुए भी वहुत प्रामाणिक नहीं कही जा सकती क्योंकि जीवन की निकटतम स्थितियों में ऐसे नायकत्व का अभाव है। एक प्रकार से इन उपन्यासों के नायको में भी वही अतिरंजना रेखांकित की जा सकती है जो अतिरंजना एक दूसरे ढंग की (मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषणात्मक) उपन्यास-रचना में उपलब्ध होती है। मनोविज्ञानिक के अन्तर्गत अन्तर्मुखी नायकों अथवा पात्रों की कुछ विशेष मनोवृत्तियों की विभिन्न दशाएँ ही उपन्यास का विषय बन जाती हैं। इस प्रकार के सैडिस्ट प्रवृत्ति वाले नायक अथवा पात्र अपने अहं पर ठेस लगते ही जीवन में किसी भी क्षण कोई भी निर्णय ले सकते हैं। इस स्थिति में उनका व्यक्तित्व और उलझने लगता है यहां तक कि उनके जीवन में बिखराव ही बिखराव रह जाता है। यह बिखराव उसी रूप में आता है जिस रूप में 'एडलर' ने अपनी पुस्तक में अहंवादियों के सम्बन्ध में लिखा है—'वे बचपन से ही इस सम्बन्ध में प्रशिक्षित हो जाते हैं और उन कार्यों से डरते, पलायन करते हैं, जिनके सम्बन्ध में उनको यह भय हो कि अपनी दुर्बलताओं के कारण कर सकने में असमर्थ होंगे और यह असफलता उनके अहं को चोट पहुंचायेगी और अपने आपको अग्रणी समझ पाने की भावनाओं पर

कुठाराघात करेगी। इसके कारण व्यक्ति अपने अहं के संघर्ष में और भी उलझ जाता है और इस प्रकार जीवन जीने लगता है जैसे वह अपने शत्रुओं की भूमि में पहुंच गया हो।'[1] इस प्रकार एक ओर मनोविज्ञान के अन्तर्गत यदि ये पात्र अथवा नायक अतिरंजना की ओर प्रेरित लगते हैं तो प्रगतिवादी उपन्यासकारों के नायक अथवा पात्र 'साम्यवादी' राजनीतिक विचारों से प्रभावित अतिरंजना प्रवृत्ति की ओर अग्रसर लगते हैं। एक और 'गंगा मैया' का मटरू नायक की साम्यवादी-अवधारणा है, जबकि दूसरी ओर 'संन्यासी' का नन्दकिशोर एक विशिष्ट प्रकार के सिद्धांत की पुष्टि में ही अतिरंजना का विषय बन गया है। प्रगतिवादी उपन्यासों में नागार्जुन का एक मात्र बलचनमा ही ऐसा नायक है जो इन सब मतवादों से काफी हटकर है। मनोवैज्ञानिक एवं मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों में नंदकिशोर की अतिरंजना उत्तराधिकार के रूप में 'मुक्ति पथ' के नायक राजीव, 'नदी-के द्वीप' के नायक भुवन, 'जहाज का पंछी' के नायक मैं, 'अपने-अपने अजनबी' के पात्र योके तथा सेल्मा, 'सुबह के भूले' के केन्द्रीय पात्र गिरजा, 'मछली मरी हुई,' के पात्र शीरी पद्मावत, 'गिरती दीवारें', 'शहर में घूमता आईना' अथवा 'एक नन्हीं कन्दील' का कुछ हद तक नायक चेतन, 'झूठा सच' के पात्र पुरी, 'चलता हुआ लावा' के नायक 'मैं' आदि में देखी जा सकती है। यह प्रवृत्ति किसी में आंशिक और किसी में प्रायः पूर्ण रूप में उपलब्ध होती है। वस्तुतः ये सभी पात्र अथवा नायक इसी प्रवृत्ति के शिकार हैं जो कभी पलायन करते हैं कभी अपनी सैडिस्ट प्रवृत्ति के कारण आत्मघात के लिए प्रेरित होते हैं। अपने प्रिय को पीड़ा पहुंचा कर खुश होना अथवा उन सब से भाग जाना, भगोड़े हो जाना इसकी एक महत्वपूर्ण विशेषता हो सकती है। इसी लिए इस कड़ी के उपन्यासों के नायक अथवा पात्र आधुनिक उपन्यास में एक विशिष्टता की संज्ञा से जुड़े हुए हैं, जो अन्य दृष्टियों से सामान्य होते हुए भी किसी एक दृष्टि से असमान्य ही नहीं अतिरंजित भी माने गए हैं। इसमें संदेह नहीं कि अतिरंजना की यह प्रवृत्ति सभी प्रकार के उपन्यासों में थोड़ी-बहुत इस अर्थ में उपलब्ध होती रही है किन्तु प्रेमचन्द परम्परा में यह अतिरंजना सीमित ही रहती थी। उदाहरण के लिए सूरदास को लिया जा सकता है जो सामान्य व्यक्ति होते हुए भी असामान्य 'व्यक्तित्व' के स्तर तक पहुंचा दिया गया है। किन्तु आधुनिक उपन्यासों में अतिरंजना पहले से अधिक

1. 'सोशल इन्ट्रेस्ट ए चैलेन्ज टू मैनकाईण्ड,' एलफ्रेड एडलर।

बढ़ गयी है जिसका मूल कारण आज के उपन्यासकार का आधुनिकता और विज्ञान की चुनोती को संवेदना के धरातल पर आत्मसात न कर सैद्धांतिक तथा वैज्ञानिक स्तर पर आत्मसात करना है। इन उपन्यासों में आधुनिकता की चुनौती का स्वीकार जीवन तथा जगत के मूल्यांकन में हुआ है। इस प्रक्रिया के मूल में मनोवैज्ञानिक दृष्टि मनोविश्लेशण सिद्धान्तों के धरातल पर व्यक्ति के नए स्वरुप को आंकती तथा चित्रित करती है और परम्परागत मान्यताओं का विरोध करती है। यही कारण है कि इस कड़ी के उपन्यासों अथवा पात्रों की प्रवृति अतिरंजना की ओर अग्रसर लगती है।

राजेन्द्र यादव के अनुसार ये औपन्यासिक नायक अथवा पात्र शेष समाज से अलग एक विषेष बौद्धिक धरातल पर पहुंचे हुए व्यक्ति अवश्य हैं जो जीवन की हर प्रकार की अनुभूतियों को बुद्धि द्वारा ही ग्रहण करते हैं अन्य इन्द्रियों द्वारा नहीं। लगता ऐसा है कि ये हाड-मांस के शरीर न होकर केवल बड़े-बड़े सिर-ही-सिर वायुमण्डल में तैर रहे हैं। वे चेतना मात्र रह गए हैं। वह आगे कहते हैं उनके क्रियात्मक जीवन में उन्हें आप नहीं देखते, उन्हें देखते तब हैं जब वे उस जीवन से तटस्थ, असफल और निराश होकर (चाहे इसे वे स्वयं स्वीकार न करें) घर भाग आए हों। इतना विद्रोही कर्मठ नायक शेखर भी अपने जीवन को जीता नहीं, एक रात में देखता है। सब से मजे की बात यह है कि विद्रोह के लिए विद्रोह करने वाले बड़े-बड़े क्रांतिकारी, बड़े-बड़े आविष्कारक, रिसर्च स्कालर, दार्शनिक, प्रोफेसर और कवि नाना वेश, स्वभाव और उद्देश्य वाले पात्र इस जगह सब एक हैं चूंकि शरीर और उसका अनिवार्य गुण क्रिया नहीं केवल मात्र चेतना ही है (और वह भी फ्रायडियन चेतना), इस लिए शून्य अन्तरिक्ष में जिधर धुन उठ जाती है, उधर भटक जाते हैं। इस प्रकार से यह सिद्ध हो जाता है कि इन सभी नायकों की सिद्धान्त हीनता और लक्ष्यहीनता ही है। इनका विद्रोह दुनिया की हर बात सिद्धान्त, लक्ष्य, शरीर, क्रिया, जीवन हर चीज को झुठलान और विरोध करने में है।[1] यहां लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय का मत वस्तुस्थिति को और भी स्पष्ट करता है कि इन उपन्यासों में सूक्ष्मता की ओर जाने की प्रवृति लक्षित होती है। लेकिन उनमें खटकने वाली जो बात सबसे अधिक है, वह इन लेखकों का पलायनवादी दृष्टिकोण है। इन लेखकों की अधिकांश रचनाओं में जीवन का यर्थाथ नहीं, कल्पनाशील परिस्थितियों एवं अवचेतन मन की विकृतियों,

---

1. आलोचना-14

वासनामूलक प्रवृत्तियों और अहं का ही चित्रण किया है। इन रचनाओं में जो व्यक्ति चित्रित हुआ, वह सैक्स अभिशाप से ग्रस्त है और उसके जीवन की विभिन्न समस्याओं का समाधान संघर्ष और जूझने में नहीं नारी की गोद में है।[1]

ऐसा नहीं कि इस प्रकार के पात्र वास्तविक जीवन में होते ही नहीं, ऐसे पात्र होते अवश्य हैं परन्तु जब लेखक मनोविज्ञान का उपयोग चिकित्सक के रूप में करने लगता है तब पात्र सैद्धांतिक पक्ष के प्रभावों में आरोपित व्यक्तित्व लिए ही रह जाते हैं, स्वाभाविक रूप में उभर नहीं पाते। वस्तुतः यह पात्र अथवा नायक न तो पागलखानों, विशिष्ट समुदायों या मनोवैज्ञानिक केन्द्रों अथवा रहस्यपूर्ण मन:स्थितियों वाले होते हैं न ही विशिष्ट परिवारों से छाँटे गये होते हैं।[2] बल्कि कई बार यह बहुत ही स्वाभाविक और यथार्थ मन:स्थितियों का उद्घाटन करने वाले हमारे आस-पास के पात्र होते हैं जिन्हें हम सतही तौर पर अथवा बाहर से तो जानते होते हैं परन्तु जब हमें उनकी अन्तश्चेतना अथवा अवचेतन के बारे में पता चलता है तो हम कई बार इस कदर आश्चर्य-चकित होते हैं कि उन्हें पागलखानों और रहस्यपूर्ण मन:स्थितियों वाला समझ लेते हैं जो अपने आप में भ्रामक है।

आज के उपन्यासकार ने नगर और महानगरों को वृहद परिवेश को समेटे हुएं मध्य अथवा निम्न मध्यवर्ग के जीवन को पूर्णतः देने के लिए अन्य वर्गों के जीवन स्तरों का भी स्पर्श किया है। इस प्रयत्न में उसे कई बार अपनी वर्गीय सीमाओं का अतिक्रमण भी करना पड़ा है। यह वह भूमि है जहाँ से उन्होंने स्वतः अपने ही वर्ग के खोखले आदर्शों तथा विश्वासों की धज्जियां उड़ायी हैं।

मोहभंग की यह अनुभूति आज के युवा उपन्यासकार में अधिक तीव्र रूप में लक्षित हुई है।[3] इन लेखकों ने आधुनिकता की चुनौती को प्रायः मानवीय

---

1. 'हिन्दी उपन्यास: उपलब्धियां', लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय पृ० 19
2. 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास' डा० कांति मोहन, पृ० 121
3. इन उपन्यासकारों की कृतियों में नायक अथवा पात्र की स्थिति मानवी-स्थितियों को प्रश्रय देती है और इन स्थितियों में ही अपनी विशिष्ट संज्ञाएं भी ढूंढती हैं। ऐसे उपन्यासों प्रायः इन नायकों अथवा पात्रों को रेखाँकित किया जा सकता है—माणिक ('सूरज का सातवाँ घोड़ा'), वसन्त ('चांदनी के खण्डर'), चन्द्रनाथ ('पथ की खोज'); मैं ('जहाज का पंछी'); 'शरद' ('उखड़े हुए लोग'); मधूसूदन, नीलिमा, हरबंस ('अन्धेरे बन्द कमरे'); रंजना ('एक इंच मुस्कान'); थोके ('अपने अपने अजनबी'); सुषमा ('पचपन खम्बे लाल दीवारों');

सम्बन्धों को निरुपित करने में स्वीकारा है। इसके विरुद्ध मानवीयता के नए अर्थ भी खोजे हैं जिसके मूल में आदर्शवादी एवं सुधारवादी-गांधीवादी दृष्टि का अस्वीकार भी हो सकता है जिसे युवा उपन्यासकारों ने युगानुकूल न होने से अपने साहित्य में स्थान नहीं दिया।

चेतन ('शहर में घूमता आईना' तथा 'एक नन्ही कन्दील'); 'मैं' ('वे दिन'); श्रीधर ('यह पथ बन्धु था'); शीरी पद्मावत ('मछली मरी हुई'); श्याम लाल ('समुद्र में खोया हुआ आदमी'), परमात्मा बाबू ('सुबह अन्धेरे पथ पर'), विपिन ('अलग-अलग वैतरणी'); मैं ('चलता लावा'); मैं ('दीवार') रंगनाथ ('राग दरबारी'), मै ('अपने से अलग'), मनोज सक्सेना ('न आने वाला कल'); किशू ('कन्दील और कुहासे से'), सुकान्न ('धूप छाँही रंग') ओवं ('इन्द्रसुने'), कुछ ('एक बिछड़ा सुख')

परिच्छेद 2 — मध्यवर्गी नायक का ह्रास और नायक-विहीन उपन्यास की परिकल्पना

भारत में वैदिक युग का नायक परम् था, मध्ययुग में वह परम् द्वारा निःसृत महामानव के रूप में आया और उन्नीसवी शताब्दी में वह मध्यवर्ग द्वारा निर्मित आम साधारण मानव (लघु) के रूप में आया। हर युग में, हर देश में, उसका रूप उस युग की आवश्यकतानुसार बदलता रहा है। आज के युग में धीरोदात्त[1] आदि नायकों के प्रकार उस रूप में मान्य नहीं है जिस रूप में संस्कृत नाट्याचार्यों ने उन्हें स्वीकार किया था। आज के नायक को धीरोदात्त आदि नायक के 'कैनवस' में फिट करना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव और भ्रामक भी है। तात्कालिक साहित्य में संस्कृत नाटकों की केवल आदर्शवादी अथवा रसवादी-नाटक-परम्परा थी। उस युग में, आज के उपन्यास की तरह सामाजिक समस्या-प्रधान नाटक नहीं रचे जाते थे, जिनमें आदर्श की अपेक्षा यथार्थ, व्यष्टि की अपेक्षा समष्टि तथा बाह्य की अपेक्षा आभ्यान्तरिक वृत्तियों को अधिक महत्त्व दिया जाता है। वस्तुतः उस समय उपन्यास जैसी विधा थी भी नहीं।

आज जब भारतीय साहित्यकार मानवीय नियति से सम्बद्ध अपने दायित्व का निर्वाह करने के लिए सम्बद्ध होता है तो उसे कुछ और कठिनाइयाँ महसूस होती हैं। उनका समाधान खोजना एक जटिल कार्य है। डॉ० धर्मवीर भारती ने अपनी पुस्तक 'मानव मूल्य और साहित्य' में तत्कालिक लेखक और नायक की स्थिति को स्पष्ट किया है। उसके अनुसार मध्ययुग में साहित्यकार मानवीय नियति से अपना लगाव और उसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए

---

1. धीरललित, धीरप्रशांत, धीरोदत्त और धीरोद्धात्त चार प्रकार के नायकों की परिकल्पना— 'हिन्दी साहित्य कोष' भाग-1, पृ० 430

जिन माध्यमों का आश्रय ग्रहण करता था, वे माध्यम उसके लिए भी उतने ही सार्थक थे, जितने जनता के लिए, अतः उसे अपने दायित्व की दिशा खोजने और उसे जनता तक पहुंचाने में उतनी ही कठिनाई नहीं अनुभव होती थी। वे माध्यम थे— वीर पूजा या धर्म। या तो उसका नायक कोई ऐसा महामानव पुरुष होता था जो समस्त मूल्यों को, मर्यादाओं को निज में समाहित किये रहता था, जनता उसे आदर की दृष्टि से देखती थी, और उसी के सुख-दुःख से अपनी नियति को अनिवार्यत आवद्ध मानती थी। या फिर धर्म को पीठिका के रूप में ग्रहण किया जाता था और प्रभु को जाति की नियति के प्रति संवेदनशील दिखा कर, उनके किसी अवतार के माध्यम से मर्यादाओं का विधान होता था, मूल्यों की नवस्थापना होती थी। आज वीर पूजा का महत्त्व नहीं रहा, नायक विघटित हो गये हैं, धर्म के विषय में सन्देह उत्पन्न हो गया है। जहाँ धर्म को ग्रहण भी किया गया, वहाँ उसके नये मानव परक अर्थ खोजने का प्रयास किया जाता रहा, उसे सफलता मिली या नहीं यह बात और है।

वस्तुतः पूरे का पूरा मध्ययुग अपनी वीर पूजा में, मनुष्य पूजा के उस भाव को लिए हुए था जो हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं की श्रेष्ठतम उपलब्धि कहा जा सकता है और जिसमें मनुष्य की वह अवमानना भी निश्चित रूप में शामिल थी जिससे सारा मध्ययुग बहुत प्रयास करने पर भी छुटकारा नहीं पा सका था।

इस प्रकार एक ओर भारत अपनी विरासत की आध्यात्मिकता के अन्तर्विरोध से परेशान था तो दूसरी ओर शताब्दी पुरानी गुलामी का बोझ उसके लिए असह्य हो रहा था—तीसरी ओर आधुनिक भारत का सम्पर्क पश्चिम से होने से, विज्ञान और भौतिक उन्नति ने अधिकांश मध्ययुगीन मान्यताओं को ध्वंस क.र दिया था।

साहित्यकार के चिन्तन के क्षणों में उठाये गये प्रश्नों को हम स्वतन्त्रता प्राप्ति के राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा प्रभावित होते हुए देखते हैं जिसने हमारे उपन्यास साहित्य के पूरे स्वर को और विशेषकर नायक के स्वरूप को प्रभावित किया। यह प्रभाव केवल विषयवस्तु के चुनाव तक ही सीमित नहीं था बल्कि जिन आदर्शों को, जिन मूल्यों को, मानव नियति की जिन प्रक्रियाओं को साहित्य में उठाया जाये वे बहुत कुछ ऐसी प्रवृत्तियों को प्रतिबिम्बित करती है जिनका उदगम् हमारे राष्ट्रीय-आन्दोलन की विभिन्न धाराओं और उपधाराओं में पाया जा सकता है।

वस्तुतः भारत के लिए तात्कालिक राष्ट्रीय आन्दोलन इस कदर महत्वपूर्ण हो चुका था कि हम जल्दी में कुछ ऐसी विशेष या प्रमुख बातों की उपेक्षा कर गये जिसने हमारी चेतना और अनुभूति में अजीब-सी दरारें डाल दी। इस सब का परिणाम हमारे दिमाग या बुद्धि का वह दिवालियापन था जहां हमने जन-सामान्य के कटु यथार्थ को महत्व देने के स्थान पर नायक-पूजा को महत्त्व दिया। सत्याग्रह युग की इस नायक-पूजा की प्रवृत्ति और उससे उद्भूत छायावादी और प्रगतिवादी नायक तथा नए साहित्य में नायक के निर्वासन का संकेत कई लेखकों ने किया है।[1]

प्रश्न उठता है कि यह विवेकहीन नायक-पूजा, जिसका आज कोई अर्थ शेष नहीं रहा, उस समय साहित्य में एकाधिकार की अधिकारी क्यों हुई? उत्तर बहुत स्पष्ट और स्वाभाविक है। वास्तव में तत्कालिक समाज के उस परिवेश में उसकी एक मांग थी, एक उपयोगिता थी। भारत उस समय राजनीतिक दृष्टि से एक परतन्त्र देश था और कुछ भी न कर सकने की स्थिति में था। शताब्दियों की गुलामी ने उसे सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और साहित्यिक दृष्टि से मात्र कुण्ठाओं के कुछ भी न दिया था। वह विदेशी शासकों के अस्तित्व से इस कदर भयभीत था कि तन कर खड़ा होने से भी डरता था। इतिहास की माँग थी कि इनके आन्तरिक विकास की लम्बी प्रक्रिया पूरी होने की प्रतीक्षा में समय नष्ट न कर, कुछ ठोस कार्य किया जाए। ऐसी स्थिति में छोटे रास्ते से (शार्ट-कट) मात्र नायकपूजा ही सामने आती थी जिसको स्वीकारे बिना इतिहास की मांग को झुठलाना था। 'जनसामान्य' के रूप में यदि अपना नहीं तो कम-से-कम नायक के असाधारण में ही वह गौरव कर सके, आत्मविश्वास नहीं है तो कम-से-कम नायक में ही विश्वास कर सके। इसकी एक तात्कालिक उपयोगिता थी, इसे न केवल राजनीतिक नेता, वरन् हमारे साहित्यकार भी स्वीकार करते थे। जय शंकर प्रसाद ने अपने एक नाटक की भूमिका में स्पष्ट रुप से स्वीकारा था कि 'नाटक' में इतिहास का चित्रण वे इसलिए करते थे कि हमारी गुलाम जाति में आत्म-सम्मान जाग सके—और इतिहास के चित्रण के अर्थ थे महान् ऐतिहासिक नायकों का चित्रण—गौतमबुद्ध, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त और चाणक्य आदि।[2] इस

1. विशेषतया विजय देव नारायण साही तथा स० ही० वात्स्यायन ने। देखिए 'युग परिवर्तन और हिन्दी की दो पीढ़ियाँ'—'राष्ट्रवाणी'।
2. 'मानवमूल्य और साहित्य', डा० धर्मवीर भारती, पृ० 82

प्रकार तात्कालिक कथा-साहित्य, अपने परिवेश के कारण परोक्ष रुप से नायक-पूजा के माध्यम से एक प्रकार की वीरता की भावनाओं को जगाने का प्रयत्न कर रहा था। इस प्रकार के अप्रत्यक्ष रुप से किये गये प्रयत्न, सुधारवाद की प्रवृत्ति के साथ प्रेमचन्द और प्रेमचन्द कालीन साहित्य में सदनों, आश्रमों, दान पुण्य, और जन कल्याण के रुप में (जैनेन्द्र को छोड़कर) देखे जा सकते हैं। यूं कथा नायक अपने अपने समय की मांग की उपज हुआ करते हैं। जो परम्परागत अवधारणाओं के खण्डित होते ही अनिश्च, ह्रास-विघटन के साथ-साथ आधे-अधूरे, क्लीव और पुंस्तत्वहीन होते जाते हैं। इसी का परिणाम था कि हमारे विवेक के ह्रास के साथ, हमारी चेतना की भाव-भूमि भी कुण्ठित हो गयी। क्योंकि नायक पूजा की प्रवृत्ति विवशता में पनपी थी इसलिए इसके पहले कि शताब्दियों से सोया जन-मानस पूरी आंखें खोले उसे 'हिप्नोटाइज़' कर दिया गया। विवेक जगकर अपने मूल्य खोजे और फिर उसके अनुसार कर्म में रत हो, यह अवसर ही न था। राष्ट्रीय-चेतना के निर्माण में बुनियादी प्रश्नों को ताक पर रख दिया था और हमारा विवेक, ध्वंस के कगार पर खड़ा था। इस प्रकार विवेक के ध्वंस ने जहाँ हमारे कर्म और भावनाओं में विघटन उत्पन्न कर दिया वहीं हम एक आरोपित व्यक्तित्व (नायक) को ही सब कुछ समझ कर फूल रहे थे।

यूं अन्तर्विरोध, असंगति, अविवेक, आन्तरिक रिक्तता और विघटन ऊपर से नैतिक प्रभा-मण्डल द्वारा छिप अवश्य गए थे, परन्तु इस प्रभा-मण्डल के क्षीण होते ही अन्तर्द्वन्द्व और संकट की जो स्थिति आने वाली थी उसको लगातार चिन्ता की दृष्टि से उस समय भी महसूस किया जा रहा था। यह स्थिति जल्द ही हमारे सामने आई जब संघर्ष का युग समाप्त हुआ और सत्ता का युग आया वैसे ही यह ऊपरी भव्यता और प्रभा मण्डल अकस्मात निस्तेज पड़ने लगा और सारी परिस्थिति में अन्तर्निहित असंगति और अविवेक स्पष्ट दीखने लगा। सब से भयंकर असर छोड़ा सन् 47 के बटवारे ने। जन-मानस ने देखा जहां इस नर-संहार ने उसमें एक अजीब-सा आतंक उत्पन्न कर दिया है। वहां उसका पुंसत्व छीनने का प्रयत्न भी हुआ है। संस्कृति का पूरे का पूरा ढांचा चूर-चूर हो गया, उसके सभी आदर्श बिलकुल खोखले और बेमानी सिद्ध हुए। देशी सत्ता और शासन का युग शुरु होते ही, जो प्रभा मण्डल संघर्ष में चमक रहा था, वह शासन का युग प्रारंभ होते ही बुझ गया। फिर भी जनमानस सत्ता की ओर

अनजानी आशा से टकटकी बाधें रहा। उसे विश्वास चाहे न भी हो परन्तु कहीं अन्दर से वह आशावान् अवश्य था कि शायद उसका भाग्य पलट जाएगा। जीवन के क्षेत्र में सबके साथ कंधे से कंधा मिलाकार इज्जतदार इन्सान के रुप में रहने की उसकी चाहना उतनी ही स्वाभाविक थी, जितनी उसकी एक अच्छे घर, पत्नी, बच्चे और सुरक्षित भविष्य की। वस्तुतः यह समय एक ओर उसकी परीक्षा का समय था, जब उसने गरीबी और जहालत की हालत में होते हुए भी, सत्ता की इस जर्जर अवस्था को सुधरने का समय दिया। वस्तुतः यह समस्या उसकी अकेले की न होकर उसके साथ करोड़ों लोगों के भविष्य की भी थी। पंचवर्षीय योजनाएं बनी, करोड़ों रुपया देश की उन्नति के नाम पर खर्च हुआ। बड़े-बड़े कारखानों, नदी-घाटी योजनाओं और बांधों का निर्माण हुआ। करोड़ों रुपया व्यापार के ऊपर खर्च हुआ और नए शहरों का निर्माण हुआ। लेकिन राजनीतिक, आर्थिक और नगरीकरण की विकसनशीलता की पूरी प्रक्रिया में जनमानस फिर भी फटे हाल ही रहा। उसने जाना कि उसके सुरक्षित भविष्य, बीवी, बच्चे और घर की मांग मात्र स्वप्न है, जो व्यवहार में शायद कभी भी नहीं आ सकती। उसने यह भी जाना कि आर्थिक क्षेत्र में गरीबों अमीरों में खाई पहले से भी अधिक बढ़ गई है। आजादी के इतने वर्षों के पश्चात भी खाद्यान्न समस्या वैसी की वैसी है। आबादी लगातार बढ़ रही है। गांव के गरीब लोग शहरों में मजदूरी की तलाश में पहले से अधिक मात्रा में लगातार जा रहे हैं। शहरों में लोगों की भीड़ ने और ट्रैफिक की बहुतायत ने जहां मानसिक शांति को कुचल दिया है, वही इन्सान अपने अन्दर अनेक प्रकार के पूर्वाग्रह बनाकार बैठ गया है। इस पूरे परिवेश में तब उसे अपना स्थान इतना छोटा लगा कि वह स्वयं को पूरे महौल में मिसफट-सा पाने लगा। कुंठित, पुंसत्वहीन तो पहले ही था, बौना व्यक्तित्व लिए अपने आर्थिक हालात से जूझता जहां वह निष्क्रिय हुआ, वहीं विद्रोही और विध्वंसक भी। यह स्थिति वस्तुतः एक ऐसे अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति थी जो बहुत गहरी थी, परन्तु आकस्मिक या अस्वाभाविक नहीं। हमने यह पाया कि इस के प्रभाव से साहित्य में एक बिल्कुल नया दृष्टिकोण उभर आया है जो बेहद तीखा है और जिसने पुराने युग-बोध, पुरानी चेतना और पुराने दृष्टिकोण के आगे प्रश्नचिन्ह लगा दिया है। यह नया युग-बोध आडम्बरों, आत्म-प्रवंचनाओं अर्थात् पुरातन मूल्यों का इस कदर पर्दाफाश करने लगा कि तात्कालिक उपन्यास-साहित्य को, दृढ़ता पूर्वक चेतना, अनुभूति और साधारण परिवेश में साधारण जन को प्रतिष्ठित करने का काम करना पड़ा। यही नहीं उससे

सम्बन्धित प्रतिमानों का एक दूसरा स्तर भी उभर कर सामने आया। नये परिप्रेक्ष्य, नये टैम्पर, नयी शब्दावली ने हमें दो भाषाओं में बोलना, दो दुनियाओं में रहना भी सिखाया।[1] प्रश्न उठता है यह सब कैसे हुआ? किस प्रकार हमने दोहरे चेहरे ओढ़कर दुहरी जिन्दगी जीनी शुरु की ? किस प्रकार स्वयं को निष्क्रिय और टूटा हुआ पाया। वस्तुतः इस सम्पूर्ण प्रक्रिया के पीछे अनेक जाने और अनजाने तत्त्व काम करते रहे है, जिसे समझने के लिए हमें इसके पीछे की सारी स्थापनाओं का विश्लेषण करना होगा। इस सारे परिवेश को विषाक्त करने वाले उन कारणों को देखना होगा जिसने 'इन्सान' को इतनी गहराई से प्रभावित किया कि एक युग-बोध का संकट हमारे सामने आ खड़ा हुआ। इस प्रक्रिया को समझने के लिए समाजशास्त्रीय आधार की उस आधुनिकतम प्रणाली का जायज़ा लेना होगा जिसमें नगर सभ्यता का औद्योगीकरण, विकास (शहरीकरण), जनसंख्या का घनत्व (भीड़), सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्थिति, और आर्थिक समस्या (बेरोज़गारी आदि) के वे पहलू आते हैं जिनसे 'इन्सान' और उसका साहित्य प्रभावित हुए बिना नहीं रहा करते।

समाजशास्त्रीय आधार

सामाजिक विचारकों ने विश्व के समाज का दो प्रकार से सामान्य वर्गीकरण किया है—परंपरागत और विवेकशील, ग्रामीण और शहरी, कृषिपरक और औद्योगिक, आदिम और सभ्य, स्थिर और गत्यात्मक, पवित्र और धर्म-निरपेक्ष, लोकतात्विक (फ़ोक) और शहरी सामुदायिक (क्म्यूनल) और सहचर्यात्मक (एसोसियेशनल), परम्परागत और आधुनिक। वस्तुतः यह विश्व के सभी परम्परागत तथा आधुनिक समाजों के सामान्य तत्त्वों का संग्रह है। भारतीय समाज इन दोनों के मध्य संक्रांति (ट्रांज़ीशन) की अवस्था में है। सन् 1887 में फार्डीनांड टोनीज़ (1855-1936) ने अपनी पुस्तक में (समुदाय) नामक उन जटिल सामाजिक सम्बन्धों को लिया जो मनुष्य की 'प्राकृतिक इच्छा' के संवेगात्मक, अविवेकशील आयामों से सम्बद्ध हैं। इनकी अभिव्यक्ति कुलगोत्र, भाईचारा तथा पड़ोसी-भावना में होती है। इस तरह के 'समुदाय' के समाज में सामाजिक सम्बन्धों में तटस्थता होती है। तदुपरांत वह व्यावहारिक बुद्धिमत्तापूर्ण साधन अपनाता है, इसकी अभिव्यक्ति नगर और राज्य में होती है अतः

---

1. 'जलते प्रश्न', 'राष्ट्रवाणी', जून 1956, 'मानव मूल्य और साहित्य,' धर्मवीर भारती।

परम्परागत सामुदायिक समाज में संवेगात्मकता (इमोशनलिटी) और आधुनिक समाज में तटस्थता (न्यूट्र्लिटी) की अपेक्षाकृत प्रधानता होती है।

परम्पागत और संक्रांतिपरक समाज में समूहगत प्रथाओं के विन्यास को और परिवार की स्थितियों को देखा जाता है। क्योंकि यही स्थितियां अन्ततः व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास को प्रभावित करती हैं। यही राज्य की प्रकृति, उसकी शक्ति तथा उसके प्रयोग को भी देखा जाता। संक्रांतिकालीन समाज में प्रायः वर्ग-सम्बन्ध, पारिवारिक-भूमिका तथा राज्य की प्रकृति में धुंधलापन छा जाया करता है। ऐसे मौकों पर दिशा और कर्म का ऐतिहासिक निर्णय राष्ट्रीय प्रश्न हो जाता है, अन्यथा यह कुहासा घनीभूत हो जाता है। इसका एक कारण यह भी है कि सन् 1947 के बाद हमारे राजनीतिक कार्यों का एकान्मुख लक्ष्य नहीं रहा। अब वह कई लक्ष्यों में बंट गया गया है तथा लोगों में भेद, फूट, विघटन, उदासी, निष्क्रियता, न जाने क्या-क्या छा गई, अर्थात् सामाजिक शक्ति के केन्द्रीयकरण के कारण राजनीतिक शक्ति का विघटन हो गया। अतः लोग छोटे स्वार्थों के लिए भी राजनीति का इस्तेमाल करने लगे। अतः धर्म, भाषा, जाति और देश भक्ति की नई व्याख्या हुई। मध्यवर्ग के ऊपर एक नया धनीवर्ग (न्यु रिच क्लास) भी पैदा हुआ जो निम्न पूंजी साहूवर्ग (पेटी बूर्जुवा) है। वे धनी लोग (नेशनल बूर्जुवाजी) जो पहले दानवीर, त्यागमूर्ति, दीनबन्धु थे, अब देश की उन्नति के लिए इजारेदारी (मोनोपली) विकसित करने लगे। निम्नपूंजी साहू तवके के लोग, राष्ट्रीय बुद्धिकर्मी, आत्मपराये (सेल्फ ऐलियेनटिड) राजनीतिक (अपौलिटकल), असम्वद्ध (अन-अटेच्ड) तथा अप्रतिवद्ध (अनकमिटेड) हो गया। सर्वांशतः उनका अराजनीतिकरण और असांस्कृतिकरण होता चला जा रहा है। एक तथ्य और भी ध्यातव्य है कि हमारा राष्ट्रीय मुक्ति-युद्ध, सत्याग्रह ओर असहयोग आन्दोलन के रूप में अहिंसात्मक तथा शांतिपूर्ण रहा है। इसका बौद्धिक नेतृत्व तो वकीलों, डाक्टरों, भूतपूर्व अफसरों, प्रोफेसरों अर्थात् मध्यवर्ग के हाथ में रहा है, किंतु राजनीतिक शक्ति पूंजी साहवर्ग के हाथ में केन्द्रित हुई। इस वजह से हमारे संक्रांतिकालीन समाज में कवाइली, कौटुम्बिक, सामंतीय तथा पूंजीवादी रुपों वाले सम्बन्ध एकसाथ अस्तित्ववान् है। यूं एक और सामाजिक सम्बन्धों में अपरिष्कार है तो दूसरी ओर वर्गों का निर्माण पूरी तरह नहीं हो सका है। इस वजह से हमारे समाज में राजनीतिक

लक्ष्यों का है, नैतिक मूल्यों का पतन है, सांस्कृतिक रचना में आक्रोश है, वैयक्तिक संकल्पनों में निरर्थकता एवं फूहड़ता है। इस लिए हमारा संक्रातिकाल अपेक्षाकृत बहुत लम्वा है। यहां आधुनिकता भ्रमजालिक है। हमारे समाज के जन-प्रतीक्षा करते-करते निष्क्रिय हो गये हैं, हमारे बुद्धिजीवी आदर्शों तथा विचारों में निष्ठा खो चुके हैं ओर यह आर्थिक स्थापना मज़बूत होती जा रही है कि भूतपूर्व उपनिवेशों में पूंजीवाद अनिवार्य है। हमारे समाज में जनता ने सक्रिय सहयोग (पार्टीसिपेशन) नहीं लिया तथा राष्ट्रीय क्रांति के हेतु आवश्यक भौतिक एवं मानवीय साधन नहीं जुटाये गए। अतः विदेशी सहायता भी विशेष कारगर साबित नहीं हुई। ऐसी स्थिति में सामाजिक क्रांति, दानवता, अराजकता, विध्वंस, अभारतीय वना दी गई ओर सामाजिक सुधार की दुहाई दी गई। फलतः भारत के आधुनिकीकरण में सामाजिक एवं आर्थिक क्रांति अवरुद्ध हो गई। जवाहरलाल नेहरु का, अर्थ व्यवस्था को, जनता की अर्थ व्यवस्था वना देने का योजनावद्ध विकास-कार्यक्रम औद्योगिक और कृषि जैसी उत्पादन शक्तियों की अपर्याप्त वृद्धि के कारण सफल न हो सका। इसका कारण जहाँ सरकारी और गैरसरकारी पूंजी में असन्तुलन था, वहीं हमारा औपनिवेशिक अतीत के प्रति आर्कषण और सामंतवाद-विरोध को आगे न वढ़ाना था। 'हमारा उपनिवेश-अतीत' हमारे सामाजिक सम्वन्धों को परिपक्व नहीं होने दे रहा। फलतः समाज में विद्रोह, बीट, आक्रोश, भूखी पीढ़ी, क्रोध, युयुत्सा आदि की 'एडवेंचरिस्ट, किन्तु भावात्मक प्रवृतियां झिलमिला उठती हैं। ऐसी स्थिति में विश्वास के लोप के साथ-साथ आत्मविश्वास का भी विलयन होता है, जिससे क्षण, मृत्यु, अविवेक, निरर्थकता, अप्रतिबद्धता, विचारधारा का अंत, फूहड़ता-अस्तित्व, निराशा और यंत्रणा आदि में सामाजिक चेतना बिखर जाती है। आजादी से पहले हमारा देश पूंजीवाद, विदेशी पूंजीवाद अर्थात् साम्राज्य का शत्रु था किन्तु आज उसकी सहायता से विकसित होने को व्यग्र है। इसलिए अर्न्तविरोध उग्रतर होते जा रहे हैं।

इस प्रकार कुरीतियों की जड़ ने हमारे संक्रांतिकाल को इतना लम्बा कर दिया है कि एक ओर जनता निष्क्रिय एवं निराश हो गई है तो दूसरी ओर समाज के विकास के पथ के बावत घनघोर भ्रांतियां भी छा गयीं। इसी का परिणाम था कि हमारे वर्गीय सम्बन्ध परिष्कृत नहीं हो सके, अर्थात् अधिनियमित पूंजीवादी विकास (रेगुलेटेड कैपिटलिस्टिक डेवलपमेंट) को नियमित मान लिया गया और आर्थिक सम्वन्धों में अनिश्चयता के कारण भारत में क्रमशः राजनीतिकरण

(पोलिटिकलाइज़ेशन) तथा राष्ट्रीयकरण (नैशनलायज़ेशन) की प्रक्रिया भी कुंठित हो गयी ।[1]

आर्थिक अधिकार और एकाधिकार

जवाहर लाल नेहरु ने मिश्रित अर्थ-तंत्र को विकसित करने की दिशा में पंचवर्षीय योजनाएं कायम की थीं, जिनका लक्ष्य था, निजी क्षेत्र को विकसित करने के साथ-साथ अंततः उस पर सरकारी-क्षेत्र एवं सहकारी क्षेत्र का नियंत्रण अथवा नियमन । किन्तु इसका परिणाम सन् 1965 में दी गई मोनोपली कमीशन की रिपोर्ट में मिला । उसके पहले महाल-नोबीस कमीशन की रिपोर्ट आई थी। उसके बाद 1967 में हजारी रिपोर्ट आई । इन सबने केवल यही पाया कि भारत के आर्थिक जीवन में इजारेदारी या एकाधिकार (मोनोपली) बढ़ गई है । अतः यह हमारे पूरे राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन के लिए खतरा है ।

यह एकाधिकार इजारेदार घरानों, उच्चाधिकारियों तथा राजनीतिक दलों का तिगड़ा कायम हो जाने पर ही होता है । हमारे देश में मैनेजिंग ऐजेन्सी-प्रथा, कम्पनियों द्वारा राजनीतिक दलों को चंदा, ऊँचे अफसरों को आला नौकरियां, प्रशासन द्वारा कुछ इजारेदार घरानों को मोटे ऋण, लाइसेंस और अन्य साधनों का दान तथा इजारेदारी द्वारा बैंकों की पूंजी का मोटे मुनाफे के लिए दुरुपयोग आदि ऐसे तत्व हैं, जिन्होंने भारतीय आर्थिक जीवन को अंधकार-पूर्ण बना दिया है । हमारे पूंजीवाद का यह अन्तर्विरोध रहा हैं कि उद्योगों की अवस्था तो पिछड़ी रही, लेकिन सभी प्रमुख उद्योगों में एकाधिकार कायम हो गया । सभी प्रकार के सामानों के उत्पादन में एकाध परिवार या कुछ उद्योग-घरानों का एकाधिकार कायम हो गया । अतः ये कीमतों पर कृत्रिम ढंग से नियंत्रण रख सकते हैं और बैंक उनकी हिम्मत को बढ़ाते हैं । इसलिए पैसा छोटे-छोटे कारखानों में लगाये जाने के बजाय जमीन की खरीद में लुढ़क जाता है । इसका असर ग्रामीण भारत पर पड़ता है जहाँ गैरहाजिर जमींदारी प्रथा तथा फार्मों की पूंजीवादी रचना शुरु हो गई है । इस अन्तर्विरोध का परिणाम ही मुद्रा-स्फीति तथा मंदी के दो दैत्यों का विकास है ।

---

1. बेशक बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो चुका है, परन्तु साधारण जनता को इसका लाभ वर्तमान में कम हुआ है, भविष्य में संम्भवतः अधिक हो ।

कुल मिलाकर मिश्रित अर्थ व्यवस्था के दुष्परिणामों के ही कारण भारत में व्यापक बेरोजगारी, मंदी तथा मुद्रास्फीति वाला आर्थिक संकट गहराया। विदेशी शासक हमें राजनीतिक आजादी देकर खुले दरवाजे से तो बाहर चला गया, किन्तु पिछले दरवाजे से आर्थिक नियंत्रण के रूप में घुस आया। अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर नवोदित भारतीय एकाधिकार वित्ती-पूंजी का भी सहायता, ऋण तकनीकी रहस्य-ज्ञान के रूप में अंतर्बंध कायम हुए हैं। भारत में योजना के पन्द्रह वर्षों के दौरान विदेशी ऋण 1951 में रु० 32.03 करोड़ से बढ़कर 1967 से रु० 4623.55 करोड़ हो गए हैं जिनमें से लगभग 50 प्रतिशत अमरीकी ऋण हैं (रु० 2446.82 करोड़ 1967 में)। पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान रु० 3031.13 करोड़ में से अमेरिका ने 49.2 प्रतिशत ऋण लिए गए थे जो तीसरी योजना के दौरान 72.7 प्रतिशत हो गए। अमेरिका से प्राप्त कुल रु० 1288.13 करोड़ के ऋण में से 4.9 प्रतिशत अर्थात् रु० 073.44 करोड़ का तीनों योजनाओं के काल में भुगतान हो सका। इसके अलावा अमेरिका ने अपने कुल खाद्यान्न निर्यात् का एक तिहाई 'अतिरिक्त' कृषि सम्बन्धी माल भारत को भेजा। यह कृषि-सम्बन्धी माल जितना आया, उतना ही भारतीय कृषि के लिए संकट गहरा होता चला गया। इस कृषि सम्बन्धी माल (खाद्यान्न, रुई, तम्बाकू आदि) के आयात के कारण प्रचलित भारतीय मुद्रा का लगभग आधा भाग (रु० 2070 करोड़) अमेरिका के नियंत्रण में है तथा वस्त्र, बगीचे और कुछ बुनियादी उद्योग बरतानवी हक में। यही नहीं, बकौल 1966 के इकाफे सर्वेक्षण के अनुसार-1951 से 1963 तक हमारी प्रति व्यक्ति आय की औसत दर 1.5 प्रतिशत ही रही तो हमें वर्तमान जापानी स्तर पर पहुंचने में 137 वर्ष तथा वर्तमान न्यूज़ीलैंड स्तर पर पहुंचने में 205 वर्ष लगेंगे। इसीलिए अंकटाड के दूसरे अधिवेशन में विश्व-बैंक के सभापति जार्ज बुड्स (1 फरवरी, 1968) को कहना पड़ा कि भारत के लाखों लोगों को प्रगति की क्षणितम् उपलब्धि का अनुमान होना अभी (बीस वर्षों के बाद) बाकी है। भारत के 'राष्ट्रीय जीवन' में अनिश्चितताएं व्याप्त हैं तथा उम्मीद क्षीणतर होकर हताश हो गई है। उन्होंने यह भी कहा कि विकासकारी सहायता की मात्रा ने गति के बजाय ह्रास को फैलाया है। कई दृष्टांतों में तो पूंजी उन शर्तों पर दी गई है जो सहायता प्राप्त देशों की अगली उन्नति की क्षमता को ही निगल जायेगी।[1] स्वीडेनी अर्थशास्त्री गुन्नार मायर्डल ने अपनी ऐशियन ड्रामा

---

1. पैट्रियट दैनिक, 6-3-65।

(1968) नामक पुस्तक में इसे प्राय: इसी प्रकार से लिया है। उनके अनुसार भारत में भूमि सुधारों की तथा श्रम के प्रति दृष्टिकोण के सुधार की आवश्यकता है। इनके अभाव में नेहरू द्वारा आरम्भ की गई सामाजिक तथा आर्थिक क्रांति विलम्वित हो गई है और लगता है कि यह विलम्ब ही स्थायी हो रहा है। वह भूमि और श्रम को विकास की कुंजी बताते हैं। वह यह भी कहते हैं कि सरकार प्रजातन्त्र और कम्युनिज़म के बारे में हवाई विचार रखने के कारण जनता पर न तो सामाजिक अनुशासन ही लागू कर सकी है और न ही उसमें कर्त्तव्य-भावना भर सकी है। इस वजह से भी अकुशलता, भ्रष्टाचार, असमानता और कट्टरता बढ़ी है जो आर्थिक और सामाजिक सम्बन्धों में फैल गयी है। इस प्रक्रिया को उन्होंने अवरुद्ध सामाजिक क्रांति कहा है। इस अवरुद्ध सामाजिक क्राँति के कारण असमानता बढ़ी है। वह एशिया के समाजों मे आधुनिकीकरण की पूर्व शर्त अधिकाधिक समानता मानते हैं जिसके फलस्वरुप ही उत्पादन और विकास में रफ्तार आयेगी। 'सामाजिक और आर्थिक क्रांति को विलम्बित कर दिया गया है और राजनीतिक क्रांति में यथार्थता क्षीण होनी गई है। बड़े शानदार संसदीय दिखावे के पीछे देश अभी भी अपनी जनता द्वारा नियन्त्रित नहीं हो रहा है, और न ही उसकी नीतियाँ इस प्रकार तय की जा रही हैं कि वे जनता के हित में हो। उत्तरदायित्वों के धुंधला जाने से दिशा और लक्ष्य अर्थात् भविष्य अंधा हो गया है। अत: राजनीतिक दर्शन और साँस्कृतिक सृजन के बजाये गुटबाजी और संकीर्णतावाद बढ़ा है। अगर भारत से विकास प्रयत्नों के कल कल निनादी झरने सूख रहे हैं तो इसकी अधिकांश जिम्मेदारी देश के सामाजिक एवं आर्थिक रचनागठन के सुधार की अयोग्यता एवं अनिच्छा पर ही है। वस्तुत: हमारा साँस्कृतिकरण ही अभी तक यूरोपीयन ज्यादा है।[1]

शहरीक़रण, भीड़ें. बेरोजगारी

वस्तुत: इस पूरी स्थिति की जिम्मेदारो देश के सामाजिम एवं आर्थिक रचना खण्डों की ही नहीं बल्कि इसके पीछे अनेक जाने और अनजाने तत्व पूर्व-पीटिका के रुप में काम करते रहे हैं। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को नगर-सभ्यता के विकास-क्रम में आधुनिकता की एक स्थिति, एक विशिष्ट मानस एवं चेतना के

1. संस्कृतिकरण के लिए देखिए 'आधुनिकता बोध और आधुनिकीकरण'; डा० रमेश कुन्तल मेघ, पृ० 99, 101-102, 'ऐशियन ड्रामा, गुन्नार मायर्डल' भाग 3, पृ० 2284

उद्‌भव के रूप में नगर-बोध, इतिहास क्रम की नवीनतम प्रघटना के रुप में भी आंका जा सकता है। इस चेतना ने जहाँ एक और मनुष्य को तर्क एवं विश्लेषण क्षमता से सम्पृक्त किया वहां दूसरी ओर इस उपलब्धि के लिए उसने एक आन्तरिक अशांति के रुप में भी पर्याप्त मूल्य चुकाया।

लोक समाज की ही भाँति विगत नगरीय समाज जहाँ भावनात्मक सम्बन्धों तथा एक सुनिश्चित जीवन प्रणाली द्वारा संरचित सामुदायिक समाज था, आधुनिक महानगरीय समाज अनुबन्धनात्मक सम्बन्धों द्वारा निर्मित एक बिखराव-सम्पुंज समाज (मास सोसायटी) है। आज सभी शहरों के अंदर दो शहर खण्ड हैं: एक अपेक्षाकृत सम्पन्नों का शहर तथा दूसरा आधुनिक, शूद्रों चाण्डालों-जाहिलों अर्थात् मज़दूरों का झुग्गी-झोंपड़ी-स्लम वाला शहर। यह दूसरा विभाजन नगर निगम की देन न होकर हमारी सामाजिक व्यवस्था का परिणाम है। इस तरह का जंगली शहरीकरण कई सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक समस्यायें उत्पन्न करता है। विगत दशकों में साहित्यकारों, दार्शनिकों, कलाकारों तथा समाज-वैज्ञानिकों का ध्यान महानगरीय सम्पुंज समाज की अशांत एवं रुग्णमना स्थिति की ओर पर्याप्त आकर्षित हुआ है। सामान्यतया जिस प्रकार के नगर-बोध की चर्चा आज साहित्यकारों तथा चिन्तकों द्वारा की जा रही है, वह इसी अशान्त सामाजिक मनःदशा की चर्चा है।

आज का महानगरीय परिवेश वास्तव में महत्त्वाकांक्षाओं, परस्पर विरोधी मूल्यों तथा सफलता और केवल सफलता की कसौटियों का परिवेश है जहाँ केवल गति ही जीवन है, स्थिरता रोग और मृत्यु का प्रतीक है। साथ-साथ और पास-पास होते हुए भी लोग परस्पर निकट नहीं हो पाते। पड़ौसी से पड़ौसी अनभिज्ञ होता है, सम्बन्ध सम्पूर्ण व्यक्तित्वों को समाहित न कर निर्वैयक्तिक तथा कुछ व्यक्तिगत अंशों (निहित स्वार्थों) के सम्बन्ध होते हैं—पूरी तरह कोई किसी से परिचित नहीं व्यक्ति कई खण्डों में तथा कार्य पुंजों का अथवा भूमिकाओं की एक गठरी मात्र बन जाता है। उसके 'स्व' का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंश जिसे अस्तित्ववादी दार्शनिक प्रामाणिक स्व (अथेंटिक) कहते हैं या तो निरन्तर कचोटता रहता है या फिर बाह्य स्वयं के प्रति भी वह एक परकीयता अथवा अलगाव की अनुभूति से ग्रस्त हो जाता है। यूं कुल मिला कर व्यापक संस्कारों के अभाव में अपने आन्तरिक निर्देशनों के स्थान पर भारी नियंत्रणों तथा

आदेशों से संचालित होता रहता है। इस प्रकार व्यक्ति का सुख-इच्छा-विरुद्ध स्थितियों में भी उसके समायोजन कर पाने की क्षमता का ही पर्याय हो जाता है।

वस्तुतः इसी का परिणाम है कि आज महानगरीय परिवेश को सांप से भी अधिक विषमय मानने की प्रवृति पश्चिमी साहित्यकारों में ही नहीं अपितु भारतीय साहित्यकारों में भी निरन्तर बढ़ रही है और हम सभी दैनिक जीवन में अब यह अनुभव भी करने लगे हैं कि विष और विषमयता यहां के नगर जीवन के अंग बनते जा रहे हैं। सभ्यता और विकास-स्थिति के प्रति कुछ चिन्तक तो इतने शंकालु हैं कि इस प्रकार के समाज को सभ्य अर्थात् विवेकशील समाजशील समाज माना जाए या नहीं यह प्रश्न उन्हें निरन्तर मथने लगा है।[1]

इस प्रकार सामाजिक समस्याओं ने अर्थ व्यवस्था के साथ मिल कर जो एक प्रकार की सामाजिक चेतना का प्रयत्न किया वह परम्परागत मूल्यों के प्रति विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ। यह विद्रोह जन-सामान्य में कई रूपों से फूटा। वस्तुतः यह मूल्य राजनीतिक न होकर मुख्यतः बौद्धिक, नैतिक, आर्थिक और धार्मिक प्रकार के कहे जा सकते हैं। यह बात निश्चित है कि जीवन की ऊपरी सतह पर इन सब का प्रभाव हमें स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देता। बेशक सड़कों पर लड़के मौज से सीटी बजाते हुए घूमें या या भीड़ें इधर-उधर निश्चिन्तता से आती जाती रहें या हजारों लाखों दफतरों में सदा की भांति दस से पांच बजे तक काम धंधे में लोग लगे रहें, आधुनिक जीवन की इस सामान्य और दुरुस्त-सी दिखाई देती इस विशाल इमारत में ह्रास के चिन्ह हर जगह ही दृष्टिगोचर हो रहे हैं। इसका सर्व प्रमुख कारण जन-सामान्य (मासिज़) का या जन-साधारण सामाजिक चेतना और जीवन के मूल्यों के प्रति एक विशेष आक्रोश या विद्रोह है। यह विद्रोह न तो आकस्मिक है और न ही अस्वाभाविक। इसका सीधा परिणाम जन सामान्य का वह संघर्ष हैं जिसमें से वह अब तक निकलने के प्रयत्न करता रहा है। उसे प्रारम्भ से अब तक झूठे और बेमानी वायदों ने तथा उसकी आशावादी दृष्टि ने आंखें खोल दी हैं। आर्थिक क्षेत्र में श्रम और कल्याण की की वातों ने उसके श्रम का शोषण किया है। सभी को कार्य दिलाने के वायदों ने शिक्षित और अशिक्षित बेकारों की समस्या को कम करने के वजाये अधिक गहराया

---

1. 'बिन्दु', आनन्द कश्यप, 'आधुनिक बोध-नगर बोध', पृ० 100

है । सन् 1901 की जनगणना से लेकर आज तक के आंकड़ों को यदि देखा जाए तो वेरोज़गारी के आंकड़े इस वात की स्पष्टतया वतायेंगे कि आज का पढ़ा-लिखा वर्ग कितना वेरोज़गार है ।[1]

इन असंगतियों का मूल कारण यह है कि जन-सामान्य अपने उद्देश्यों को प्राप्त करना तो चाहता है किंतु उनके संस्थात्मक तरीके अपर्याप्त हो रहे हैं । उनको तोड़े बिना लक्ष्य-सिद्धि नहीं हो सकती। वह जैसे-जैसे ही उन्हें तोड़ना चाहते हैं समाज में नियम विहीनता बढ़ती है। वह पुराने मूल्यों के स्थान पर नये मूल्यों का निर्माण करना चाहता है परन्तु बदलती आर्थिक अर्थव्यवस्था ने मानव-मानव के सम्बन्धों को व्यापक रूप से मर्माहत कर दिया है । यह बात नहीं कि आर्थिक विभिन्नता पहली बार मनुष्य को समझ आई किन्तु अर्थ की महत्ता इस कदर हमारे जीवन पर हावी हुई है कि उसके जाल में व्यक्ति बुरी तरह से फंस गया है । अर्थव्यवस्था में स्त्री का पहली बार पदार्पण हुआ है और स्त्री पुरुष दोनों ही अर्थ व्यवस्था को ढोने में जुट गए हैं । इस व्यवस्था ने स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में भी परिवर्तन ला दिया है । अर्थ मानव की भावनाओं के स्फुरण तक को प्रभावित करने लग गया है और उसकी सारी रूमानियत जीवन की जटिलताओं में विलीन-सी हो गई है । दूसरी ओर नैतिकता उसके लिए बोझ-सी बन गई है ।

इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि समाज प्रगति करना चाहता है। जहां हैं वहीं रहना भी चाहता है । अर्थात् वह नए मूल्यों को स्वीकार करना चाहता है और पुराने मूल्यों को छोड़ना भी नहीं चाहता । उसका यह विरोधी स्वभाव भी काफी सीमा तक सामाजिक आक्रोश के मूल में है । आज भी यही स्थिति है, हम नए मूल्यों की ओर लालायित भी हैं साथ ही अपने पुराने मूल्य भी हमसे छोड़ते

1.

वर्ष	प्रतिशत बेकारी
1901	7.1
1911	7.6
192I	10.3
1931	14.2

1941 में किसी भी प्रकार के आँकड़े उपलब्ध नहीं फिर भी 1931 से 1951 तक 56 प्रतिशत बेकारी । 1955-55 कलकत्ता नगरी में 100 लोगों के पीछे 47 प्रतिशत बेरोजगार लोग थे । 'पापुलेशन प्रोब्लम इन इंडिया', पी० के० वत्तल, पृ० 191-92

नहीं बनते। ऐसी स्थिति में सामाजिक जीवन में मूल्यहीनता एवं रिक्तता भी प्रतीत होती है और असंतोष की आग भी सुलग रही है।[1]

जन-सामान्य का विद्रोह भीड़ के रूप में एक अन्य प्रकार से फूटा जिसने आभिजात्य-विशेषतया चुनींदा को या अल्पमत को अस्वीकार किया। आज इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि नगर, मकान, रेलें, रेस्तरां, कैफे, पार्क, डाक्टरों के दवाखानों, सिनेमा और प्लेटफ़ार्म, लोगों की भीड़ से उफन रहे हैं। इस प्रकार पहले जो जगह प्राप्त करने की समस्या नहीं थी वही अब रोजमर्रा के जीवन की प्रमुख समस्या बन गई है। सभ्यता के द्वारा बनाये गए स्थानों और साधनों पर आज जन-सामान्य का अधिकार है। वस्तुतः यह वांछनीय है और आदर्श स्थिति है। सिनेमा घर की सीटें इसी लिए होती हैं कि लोग उन पर बैठ सकें और सिनेमा घर इसी लिए हैं वह भर सकें। परन्तु आज वह भरे ही नहीं उफन भी रहे हैं। भीड़ भीतर घुसने की प्रतीक्षा में बाहर खड़ी है। वस्तुतः यह न तो हमारे आश्चर्य का कारण है और न ही अभूतपूर्व। इसके उलट यह स्थिति एकदम स्पष्ट और स्वाभाविक है।[2]

यूं विश्व की कुल जनसंख्या का 1/3 भाग एशिया में ही रहता है, जबकि विश्व-जनसंख्या का 25 प्रतिशत भाग शहरों में रहता है।[3] भारत में शहरी आकर्षण ने एक ओर ग्रामीण आवादी को अपनी ओर खींचा जो कुल जनसंख्या का 1/3 भाग से भी अधिक था और दूसरी ओर शहरी जनसंख्या की वृद्धि ने भीड़ के रूप में महानगरीय और नगरीय समस्याओं को और भी जटिल बना दिया। भारत में सन् 1931 में शहरी आबादी तीन करोड़ पैंतीस लाख थी जो सन् 1991 में बढ़कर अनुमान है कि लगभग सौलह करोड़ हो जाएगी। अत. हमें बीस लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि और करोड़ों मकानों की आवश्यकता पड़ेगी। 1966 की शहरीकरण (अरबनाईजेशन) की रिपोर्ट के अनुसार शहरी-ग्रामीण आबादी का अनुपात लगभग 1.6 है अर्थात् ग्रामीण आवादी लगभग 83 प्रतिशत

1. 'विंदु', होती लाल भारद्वाज।
2. 'युग चिन्तन', अनुवादक—शरद देवड़ा, पृ० 137
3. 'दी इण्डियन जरनल आन पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन', भाग-14, जुलाई, सितम्बर, 1968, पृ० 568

है।[1] अतः हमारे मनुष्यों की प्रमुख समस्या आधुनिकीकरण है तथापि हमारे शहरों में सामुदायिक जीवन की सफलता मूलतः जनसंख्या की वृद्धि तथा वितरण पर निर्भर करेगी। यही नहीं भारत की कुल आबादी में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। सन् 1871 से सन् 1921 तक भारत की कुल आवादी 21.4 करोड़ थी, सन् 1921 से सन् 1951 तक बढ़कर 31.4 करोड़ हो गई। 1951 से 1961 तक यही आबादी 43.4 करोड़ हो गई। 1971 की 56 करोड़ आबादी 1981 में 66 करोड़ से भी ऊपर जा चुकी है।[2]

इस प्रकार हमारे चारों ओर दिखाई देने वाली भीड़ शून्य में पैदा नहीं हुई। यह बात मान्य है कि पहले यह भराव इतना गहरा नहीं था। आज से 25 वर्ष पूर्व यह जनसंख्या इतनी अधिक नहीं थी। अकाल, बाढ़, युद्धों (चीन और पाकिस्तान से) के पश्चात् जिस संख्या को घटना चाहिए था उसके आंकड़े लगातार ऊपर बढ़ते गए। इसका निष्कर्ष यही निकलता है कि आज से पहले इस भीड़ का निर्माण करने वाले एकाकी व्यक्तियों का तो अस्तित्व नहीं था। यह व्यक्ति छोटे-छोटे समूहों में जो जीवन जीते थे, वह एक दूसरे से भिन्न और कटा हुआ होता था। हर व्यक्ति या व्यक्तियों का छोटा समूह किसी गांव में, कस्बे में या नगर के एक हिस्से में अपना एक अलग स्थान रखता था। इसका कारण भारत का कृषि-प्रधान होना था जिसकी अधिकांश आबादी गांव में रहती थी। गांव में परम्परागत चार जातियों के साथ हजारों उपजातियां थी जो परस्पर व्यवहार में बहुत अधिक कट्टर थीं। उनका परस्पर खाना-पीना, विवाह-शादी आदि अपने ढंग से होता था। अपनी कट्टरता के कारण बेशक वह दैनिक वस्तुओं के लिए एक-दूसरे पर निर्भर तो रहते थे परन्तु उनका आना-जाना एक सीमित घेरे में ही रहता था और वह दूर नहीं जा पाते थे। धीरे-धीरे जनसंख्या में वृद्धि होने से भूमि की कमी होती गई और लोग रोजी-रोटी की तलाश में धीरे-धीरे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने लगे, बिखरने लगे। वैज्ञानिक उन्नति और कृषि के उन्नत उपायों के साथ-साथ उनकी कूपमण्डूकता की परम्परा भी टूटने लगी और शिक्षा-प्रणाली के प्रभाव स्वरूप आर्थिक समस्याओं ने इन छुटपुट के झुडों को शहर में लाकर बिखेर

---

1. 'आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण', डा० रमेश कुन्तल मेघ, पृ० 130—31
2. 'पापुलेशन रिव्यू', भाग-7, 1963-प्रो० एस चन्द्रशेखर।

दिया। यह इसलिए भी हुआ कि अब उसकी दैनिक आवश्यकताएं शहरों में एक ही स्थान पर उपलब्ध होने लगी थीं। परिणामत: यह भीड़ मानव संस्कृति के अपेक्षाकृत हर सुन्दर, सूक्ष्मतर और सर्वोत्तम स्थलों पर जो पहले विशिष्ट व्यक्तियों के लिए अल्प संख्यकों के लिए सुरक्षित थे, फैल गई। समाज के विशिष्ट महत्व वाले स्थान भीड़ के कब्जे में हैं और बुरी तरह रोदें जा रहे हैं। यह भीड़ जिधर हमारी दृष्टि जाती है उधर हम आसानी देख सकते हैं। पहले, अगर इसका अस्तित्व था भी तो उसकी ओर किसी का ध्यान नहीं जाता था क्योंकि इसका स्थान समाज के रंगमंच को पृष्ठभूमि में था, अब यह भीड़ अग्रभाग के प्रकाश में निकल आयी है और रंगमंच का प्रमुख पात्र बन गयी है।

मनोवैज्ञानिक आधार

यूं भीड़ के इस तथ्य को मनोवैज्ञानिक आधार द्वारा भी समझा जा सकता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि के अनुसार समाज के दो प्रभुख अंग होते हैं। विशेष और जन-सामान्य। विशेष उन व्यक्तियों या व्यवितयों के उन समूहों को कहते हैं, जो विशेष रूप से योग्यता प्राप्त और निपुण होते हैं। दूसरी ओर जन सामान्य लोगों के उन झुण्ड को कहते हैं, जो विशेष रूप से योग्यता प्राप्त या निपुण नहीं होते। तो, जन-सामान्य से यहाँ आशय, एकान्तिक रूप या प्रमुख रूप से श्रमजीवी लोगों के उस झुण्ड को कहते हैं, जो विशेष रूप से योग्यता प्राप्त या निपुण नहीं होते। तो, जन-सामान्य से यहां आशय, एकान्तिक रूप से या प्रमुख रूप से श्रमजीवी लोगों से नहीं है। जन-सामान्य यहां समान्य इन्सान के लिए प्रयुक्त हुआ है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जन-सामान्य को परिभाषित करने के लिए एक व्यक्ति को लिया जाता है और निष्कर्ष द्वारा आसानी से बता दिया जा सकता है कि वह जन-सामान्य उसको कहेंगे जो स्वयं पर किसी भी तरह का—अच्छा या बुरा कोई ऐसा मूल्य स्थापित नहीं करता जिसके लिए कुछ विशिष्ट आधार की आवश्यकता होती है, बल्कि जो खुद को 'हर सामान्य व्यक्ति' की तरह महसूस करता है और जो इस को लेकर किसी भी तरह की चिन्ता नहीं करता, बल्कि स्वयं को हर साधारण व्यक्ति की तरह महसूस करके सन्तुष्ट और सुखी हो जाता है। एक ऐसे-सामान्य मानसिक स्तरीय व्यक्ति की कल्पना कीजिये जो विशिष्ट धरातलों और कसौटियों पर अपनी कीमत आँकने की

कोशिश करता है और स्वयं से पूछता है कि उसमें ऐसी कोई विशेष योग्यता नहीं है। इस तरह का व्यक्ति महसूस करेगा कि वह मध्यम दर्जे का या साधारण स्तर का है, कि उसमें कोई विशेष योग्यता नहीं है, लेकिन वह खुद को जन-सामान्य की कोटि में नहीं गिनेगा। जब हम चुनींदा विशेष की बात करते हैं, तब चुनींदा व्यक्ति से हमारा तात्पर्य उस अहंवादी व्यक्ति से नहीं होता, जो दूसरों से स्वयं से अधिक मांग करता है, फिर चाहे वह उन उच्चतर मांगों की पूर्ति के लिए आवश्यक तत्त्व अपने भीतर उपस्थित न भी पाए। मानव-समाज को इसी दो भागों में बाँटा गया है। एक में तो वे व्यक्ति आते हैं जो स्वयं से बहुत अधिक की माँग करते हैं, और अपने लिए मुश्किलों और जिम्मेदारियों का पहाड़ खड़ा कर लेते हैं, दूसरे वह लोग आते हैं जो स्वयं से किसी विशेष बात की मांग नहीं करते, बल्कि जो जैसे हैं उसी तरह रहने में सन्तुष्ट महसूस करते हैं और पूर्णता की ओर अग्रसर होने के लिए अपेक्षित किसी भी तरह का कोई प्रयत्न नहीं करना चाहते।

वस्तुत: आज के युग की एक और महत्वपूर्ण विशेषता को नकारा नहीं जा सकता कि निम्नस्तरीय दिमाग अधिकारों की घोषणा करने के लिए और जहाँ कहीं संभव हो उन्हें दूसरों पर थोपने के लिए, सदा आश्वस्त और उद्धत रहता है। आज जन-सामान्य उस सब को अपने पैरों तले कुचलता जा रहा है, जो भिन्न है, शानदार है, व्यक्तिगत है, विशेष रूप से योगतता प्राप्त और चुनींदा है। कोई भी ऐसा व्यक्ति जो हर एक के सदृश नहीं है, जो हर एक की तरह ही सोचता विचारता नहीं है, सदा विनाश के खतरे में रहता है। यहाँ यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि आज का यह 'हर एक' पहले वाला 'हर एक' नहीं है। पहले 'हर एक' का सीधा-सादा मतलब होता था—जन साधारण और विशिष्ट योग्यता वाले अल्प संख्यकों का अनुपम मिश्रण। आज हर एक केवल जन-साधारण होता है। यह हमारे युग का विराट् सत्य है जो अपनी समस्त पाशविक आकृति-विकृति सहित हमारे सामने उपस्थित है।

इस प्रकार एक बात निश्चित हो जाती है कि आज जन-सामान्य का रूप एकदम पहले वाले रूप से भिन्न है। आज वे सामाजिक जीवन के अग्रभाग की ओर अग्रसर है, स्थानों पर कब्जा जमाने, सभ्यता और संस्कृति के साधनों और उपलब्धियों का उपयोग करने के लिए कृत-संकल्प है, जी पहले कुछ विशेष अल्प संख्यकों के लिए सुरक्षित थे। स्पष्ट है कि यह जगहें भीड़ के लिए कभी नहीं

बनी थीं, क्योंकि इनके आयाम बहुत सीमित है, और भीड़ है कि निरन्तर बढ़ती जा रही है। इस तरह हम लोग आंखों के सामने इस विराट्-घटना को बहुत स्पष्ट रूप से घटते हुए देख सकते हैं कि जन-सामान्य बिना जन-सामान्य के घेरे से निकले अल्प-संख्यक विशेष, चुनींदा या आभिजात्य को स्थानच्युत कर रहे हैं।[1]

जन-सामान्य की इस प्रवृत्ति के पीछे जहां समाजशास्त्रीय दृष्टि है, वहीं ऐतिहासिक दृष्टि को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता। ऐतिहासिक दृष्टि के अन्तर्गत आज का इन्सान अपने व्यक्तिगत विचारों और अपने परिवेश के दंश के आधार पर स्वयं को जन-सामान्य की कोटि में खड़ा मामूली इन्सान के रूप में देखने की कोशिश कर रहा है। डॉ० रमेश कुन्तल मेघ ने अपनी पुस्तक 'आधुनिकता-बोध और आधुनिकीकरण, में उसकी इस प्रवृत्ति को इस प्रकार स्पष्ट किया है—'जब हमारा कोई व्यक्तिगत भोग, हमारा व्यक्तिगत समय, इतना व्यापक और इतना गहरा हो जाता है कि इतिहास के मूल्यों में, या जीवन की रचना में कोई विलक्षणता, कोई नवीनता, कोई अद्वितीयता ला देता है, तब उसका आधेय अर्थात् व्यक्तिगत समय खण्ड ऐतिहासिक खण्ड पर हावी हो जाता है। उस समय हमारा वह व्यक्तिगत समय ही ऐतिहासिक समय हो जाता है। इस तरह हम 'खलनायक समय' से उसके ऐतिहासिक क्षणों को छीन उस पर अपना अधिकार जमा लेते हैं। जिस घड़ी या जिस तरह हमारा व्यक्तिगत समय-खण्ड ऐतिहासिक समय-खण्ड को पा लेता है हमारा या (मेरा) वह मामूलीपन विशिष्ट हो जाता है। तो इस व्यक्तिगत काल तथा ऐतिहासिक काल (वर्तमान एवं अतीत) में ही जिन्दा मैं नहीं हूं। मैं महाकाल (ग्रेट टाईम)—त्रिकालवादी महाकाल का भी एक अंग हूं। मैंने अपने व्यक्तिगत काल के अन्तर्गत तो अपना व्यक्तिगत इतिहास भोगा है। और यह भोग ऐतिहासिक काल के अन्तर्गत असंख्य जनों के इतिहास भोगों के परिणामों द्वारा दिशा एवं तीव्रता पाता रहा है। इस तरह मैं ऐतिहासिक काल को संस्कृति, इतिहास, समाज, जीवन के रूप में भोगता हूं। किन्तु मेरा भोग नितांत वर्तमान में है। मेरे रहने के बाद मेरा व्यक्तिगत काल तुरन्त विलुप्त हो जाएगा, मेरे व्यक्तिगत समय खण्ड (स्मृतियों और चिन्तन और अनुभव) लुप्त हो जाएंगे। केवल वे समय-खण्ड ही शेष रहेंगे, जिन्हें मैं खलनायक समय से छीन सका हूं अर्थात् जिन्हें मैं अपने सर्जन तथा पुनःसर्जन द्वारा ऐतिहासिक काल पर आच्छादित कर सका हूं।

---

1. 'युग-चिन्तन, शरद देवड़ा, पृ० 139, 141, 142

मेरे भोग के केवल सर्जन-बद्ध क्षण ही ऐतिहासिक क्षण हो सकेंगे। बाकी मेरे प्राणांत के साथ ही विलुप्त हो जाएँगे। इसलिए में महाकाल की चिन्ता क्यों करूँ ?[1]

इस तरह मामूली मैं अपने व्यक्तिगत काल के कुछ खण्डों को (अपनी इस व्यवस्था के अन्तर्गत) खलनायक समय से छीन कर सर्जन, स्वातन्त्र्य, तया निर्णय की त्रयी द्वारा ऐतिहासिक काल के प्रवाह में अंकित कर देता हूं, और इस क्रम में स्वयं महाकाल अर्थात् ऐतिहासिक निश्चय समग्र धारा-प्रवाह में एक अंश हो जाता हूं। अपने वर्तमान में मैं अतीत को भोगता हूं किन्तु भविष्य को नहीं भोग कर सकेगा। दिन भर में मैं जो कुछ करता हूं वे सब मेरे यदा कदा के 'मामूली' (मीडियाकर) काम है—'मामूली या साधारण काम। ये कटु भी हैं, मधु भी, श्रेयस भी आत्मदा भी है।···कुल मिलाकर मेरे पास तत्काल में केवल चौबीस घन्टे हैं। इनमें कम-से-कम छः या आठ घण्टे सोने में बीत जाते हैं। और इनमें भी कुछ को सपने हथिया लेते हैं। कम-से-कम चार घण्टे दिन के निवृत्त होने वाले कामों में खर्च हो जाते हैं। मसलन नहाना, खाना, शेव करना, कपड़े पहनना, धोना आदि। कम से कम छः या आठ घण्टे जीविका साधनों (नौकरी, व्यापार, मजदूरी आदि) में लग जाते हैं। केवल बाकी रह जाते हैं पाँच या चार घन्टे। ये केवल मेरे अपने प्रहर निमिष पल या क्षण हैं। बाकी इनमें से कुछ में हम सामाजिक संगठन को मजबूत करने में लगाते हैं। (यहां उन्होंने बेरोज़गारी की अवस्था में क्या स्थिति होगी इसका संकेत नहीं किया। वस्तुतः बेरोज़गारी की अवस्था में यह स्थिति बिलकुल बदल जाएगी---तब हम निष्क्रिय भी हो सकते हैं और तोड़-फोड़ की कार्यवाही के अगुवा भी। हम हिंसात्मक भीड़ के जन्मदाता भी हो सकते हैं और डरपोक नपुंसक पलायनवादी इन्सान भी)। सामाजिक उत्पादन या सामाजिक संघर्ष को तेज करने में कुछ समय लग सकता है। बाकी के प्रहरों में या तो मैं अपने गुजारे गये लगभग अठारह बीस घण्टों को दुहराता हूं, या इनमें से कुछ नये और महत्त्वपूर्ण अनुभवों को कुछ निजी या सामूहिक अनुभूतियों में डूब जाता हूं। उन्हीं चार-पांच खण्डित घण्टों में मैं अपनी अन्तर्मुखी या बहिर्मुखी प्रवृत्तियों का प्रकाशन करता हूं। महान् पुरुषों या लघु मानवों की सत्ताओं या क्षुद्रताओं के मूल्य से झुण्ड के प्रति सहानुभूति दिखाता हूं या उससे

---

1. पृ० 442-43

नफरत करता हूं। अपने को विशाल समाज की एक लतर बना देता हूं या उससे कटकर एक द्वीप बन जाता हूं, मैं किसी विचारधारा के अनुसार इस सारे सामाजिक चिंतन से आजाद होकर कुछ व्यक्तिगत नतीजे निकालने की कोशिश करता हूं या निष्क्रिय पड़ा रहता हूं। वहरहाल यदि मैं सर्व-साधारण जन हूं तो इन दशाओं को भोगता ही रहता हूं (जिसे अस्तित्ववादी शब्दावली में जैविक मूल्य कह लूं) तथा उन्हें कोई सम्पृक्त अर्थ नहीं दे पाता हूं। यदि मैं थोड़ा अथवा बहुचिन्तक और बुद्धिजीवी (इंटेलेक्चुअल) हुआ या दिशा कर्मी (पार्टी जन) हुआ तो, इस माँग का अर्थ भी खोजता हूं। इस अर्थ की सामाजिक समस्या, इतिहास का नतीजा, और युग का धर्म मानता दू। यूं इन्हीं पांच घण्टों में मामूली मैं कुछ विशेष प्रकार का अनुभव करता हूं। कुल मिलाकर मेरा एक दिन का जीवन एक मामूली आदमी का जीवन है। इस तरह सवसे पहले में एक व्यक्ति मामूली 'मैं' हूं। मैं न महान मानव हूं, न ही लघु मानव। यदि हूं तो मामूली मानव, एक विशेष अनुभव करने वाला।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त स्थिति के परिणामस्वरुप हम यह कह सकते हैं कि आज विशेष, या चुनींदा वर्ग की प्रवृत्ति का झुकाव लघु मानव से बढ़कर मामूली इन्सान की तरफ है चाहे यह प्रवृत्ति शत प्रतिशत न होकर उसके करीब की हो।

जन सामान्य की इस ऐतिहासिक दृष्टि की प्रवृत्ति के मूल में गति, निर्वैयक्तिकता आन्तरिक घृणा, अनिवार्य समायोजन, भीड़ और एकाकीपन ताथ बाह्य नियन्त्रण-प्रधान विशेष काम करता है। जिसके परिणामस्वरुप कुछ ऐसी अनाम शक्तियां उत्पन्न हो जाती है जिनके विषय में कार्ल यास्पर्स ने लिखा है— जिस प्रकार आदिम मनुष्य स्वयं को सदा कुछ दानवीय शक्तियों से घिरा हुआ महसूस करता था और यह विश्वास करता था कि यदि वह उनका नाम भर ही जान पाने में समर्थं हो पाता तो उन पर अवश्य ही अधिकार कर लेता। उसी प्रकार ईश्वर को अपने मन से निष्कासित कर देने के वाद आज का जन-सामान्य ही कुछ ऐसी ही अनाम शक्तियों से भय-ग्रस्त है जो उनके प्रयत्नों तथा प्राप्त निष्कर्षों को सदा अनकिया कर देती है।

---

1. 'आधुनिकता-बोध और आधुनिकरण', डा० रमेश कुंतल मेघ, पृ० 438, 439, 443

वास्तव में मनुष्यों को पहचानने तथा अपने अंतस के गठन के लिए सदैव किसी ऐसे सन्दर्भ अथवा दर्पण की खोज रही है जिसके काल्पनिक सम्पर्क भर से ही वह अपने अस्तित्व का निर्माण कर सकें। प्रत्येक इतिहास काल के मूल्य किसी ऐसे सन्दर्भ अथवा धुरी के चारों ओर संगठित होते हैं—विगत युग में ईश्वर, ब्रह्म आदि स्थितियां या अवधारणायें इसी प्रकार के दर्पण के केन्द्र रहे हैं, लेकिन आज के ऐहिकता कथवा लौकिकता-प्रधान युग में अब तक इस प्रकार का कोई भी एक केन्द्र अथवा दर्पण नहीं बन पाया है जो मनुष्य को उसके अस्तित्व या जीवन का कोई स्पष्ट अर्थ तथा लक्ष्य बना सके। महानगरीय परिवेश तादात्म्य की तथा अस्तित्व की दृष्टि से अनेकानेक परस्पर विरोधी मूल्यों तथा खण्डित दर्पणों का परिवेश है जिसमें दृढ़ता एवं आस्थापूर्वक किसी भी स्थिति को काटा नहीं जा सकता। जो कुछ हैं वह केवल द्विधा है।

वैदिक काल के प्राचीन भारतीय समाज ने मनुष्य की इस आन्तरिक आवश्यकता को भली-भाँति स्वीकार किया था। आज के अकेन्द्रित या कि विकेन्द्रित सम्पुंज समाजीय व्यक्ति की भाँति उस व्यक्ति को अपने प्रामाणिक 'स्व' की अभिव्यक्ति तथा सार्थकता-सिद्धि के समाज विरोधी कार्यों, आत्मपीड़न तथा परपीड़न जैसे आत्म-प्लायन के मार्गों का आधार ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी, समाज स्वयं संन्यास आदि आश्रमों तथा मोक्ष जैसे पुरुषार्थों द्वारा उसे इस विमुक्ति तथा स्वातन्त्र्यानुभूति को सुविधा प्रदान करता था।

ऐरिक फ्राम की शब्दावली में कहें तो उसे रचनात्मक स्वतंत्रता अथवा सकारात्मक स्वतंत्रता की पूर्ण सुविधा थी जबकि आज के महानगरवासी व्यक्ति को मुक्ति के अर्थ में केवल नकारात्मक स्वतंत्रता ही प्राप्त है। वह पिछले सम्बन्धों अथवा स्थितियों से तो मुक्त हो सकता है लेकिन आगे क्या है, इसके लिए उसके पास न तो कोई ऐसा सुस्पष्ट लक्ष्य ही है और न वह इसके लिए स्वायत्त तथा स्वतंत्र है। सूखी पीढ़ी, बीटनिक्स तथा बीटल्स के आन्दोलनों तथा गतिविधियों को नकारात्मक स्वतंत्रता के उदाहरण स्वरूप रखा जा सकता है। जिस ध्यान अथवा योग की ओर आज बीटल्स एल. एस. डी. तथा अन्य मादक पदार्थों को छोड़कर अग्रसर हुए, वह सकारात्मक स्वतंत्रता तथा आत्मविमुक्ति के प्रति उनकी छटपटाहट को ही दर्शाती है।

ठोस संस्कारों तथा सकारात्मक मूल्यों के अभाव में अनिवार्य समायोजनों तथा अनाम शक्तियों के निरन्तर बढ़ते हुए दबावों के प्रति जन-सामान्य के मन में

एक खीज और ग्लानि का भाव निरंतर सुलगता रहता है, लेकिन कर्म तथा विद्रोह के प्रसंग में इसका कोई अर्थ नहीं होता, यह क्रोध वास्तव में सम्पुंज समाजीय व्यक्ति के पुंसत्वहीनता को ही प्रकट करता है। यदि वह इन अनाम शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष भी करना चाहे, तो उसे अधिकांशतः स्वयं से ही संघर्ष करना होता है।

केवल असफलता और अनिवार्य समायोजनों के इस परिवेश में काफ्का के आकृतिहीन नायक का शून्य के एक अटूट गढ़ से निरन्तर टकराते रहना, कामू के भाव शून्य विवश अजनबी का विसंगतियों से युद्ध करते हुए मृत्यु की ओर जाने वाली पगडंडियों की दूरियों की परस्पर तुलना करते रहना एक स्वभाविक नियति बन जाती है।[1]

वर्तमान गतिविधि

द्विधा और असफलता के इस संक्रांतिकालीन युग में आज का हिन्दी-साहित्यकार एक ऐसे बिन्दु पर पहुंचने का दावा कर रहा है जहां नायक नामक चीज़ का महत्त्व निश्चित रूप से परम्परागत अवधारणा से कम होता जा रहा है। आधुनिक जीवन समस्याओं, परिस्थितियों और जटिलताओं ने हमारा ध्यान एक केन्द्र से उखाड़ कर उसे सृष्टि और मानव के बीच बिखेर दिया है, जहां केवल लघु मानव है, उसका जीवन है, उसकी समस्याऐं हैं। महानगरी सभ्यता, भीड़ ने इन्सान के सामने ऐसी परिस्थितियां ला खड़ी की हैं कि आज मानव उनमें कुल बुला कर रहा गया है। छुटकारा पाना चाहते हुए भी छुटकारा नहीं पा सकता। अपने परिवेश से बुरी तरह त्रस्त स्वतंत्र और चुनाव का दास भर सलीब पर लटके निशान की भांति बन कर रह गया है।

आज वह अपने आप को इस कदर अधूरा और अधचरा समझ रहा है कि स्वयं को पूर्णतः देने की बात उसने कब की दिल और दिमाग से निकाल दी। लाख कोशिशों के बाद भी उसने अपने आप को कुतरता और तड़पता हुआ पाया है। मुहों-मुहं की स्थिति उसके आगे सबसे भयंकर रूप से आयी है। अपने अधूरेपन के कारण तो 'फिर और या' जैसे शब्दों पर उसे अपने संवाद समाप्त करने पड़ते है और पुनः घबराया-सा यह फिर 'तो' 'फिर' तथा 'या' पर आ

---

1. 'बिंदु', आनन्द कश्यप, पृ० 101

जाता है ।[1] उसे न तो अपने प्रश्नों का उत्तर मिलता है और न ही वह दुनियादारी प्रश्नचिन्हों को उखाड़ सकने की सामर्थ्य रखता है । वह कहां से आया है ग्रौर उसे कहां जाना है ? उसकी नियति क्या है ? यह सब वह नहीं जानता । हां, कभी कभी दूसरों से पूछता जरुर है कि मैं यहाँ क्यों हूं ? कैसे हूं और किस लिए हूं ? अतीत उसे बुरी तरह कचोटता है, वर्तमान से वह सन्तुष्ट नहीं, आगत की आशंका से त्रस्त होकर वह धुरीहीन व्यक्तित्व लिए रह गया है। इस कुछ न कर सकने की स्थिति को वह सम्पूर्ण सामाजिक परिवेश के दंश, परिवार, मां-बाप, यार-दोस्त, नेता-राजनीति, आर्थिक नीति (वेरोज़गारी) और कुछ अंशों तक उदजन ग्रस्त्रों के आतंक में ग्रांकता है । कभी-कभी उसे लगता है मानों उसकी सांस रुक रही है, कोई उसका गला दबा रहा है, समाज में अपने को पूर्णतया मिसफिट समझता हुग्रा वह न बर्दाशत कर सकने की स्थिति में गांजा, अफीम, मारिजुआना, एल० एस० डी० और अनेक प्रकार के मादक द्रव्यों के नशे में अपने आप को भुलाने की कोशिश करता है । यौन-तुष्टि के न होने पर वह खुद को नंगा करके देखता है ।[2] कई बार विपरीत लिंग के अभाव में या ऊब से उसने समलिंग (होमोसैक्सुअलिटी) यौन सम्बन्धों द्वारा अपने को पूर्णता देने का भी प्रयत्न किया है । लेकिन हर जगह वह अशान्त और उद्विग्न ही रहा है । प्रति दिन उसका कोई-न-कोई हिस्सा टूटकर गिरता रहा है। यह ठीक है कि मनुष्य ग्रपने रोजमर्रा के कार्य को करते समय निश्चिन्तता की नकाब चेहरे पर ग्रोढ़े रहता है, परन्तु इस प्रतिदिन की लगातार टूटन से वह आंखें वंद किये रहता हो यह बात कदापि नहीं । वस्तुतः यह अपने चारों ओर फैलती हुई अव्यवस्था और विशृंखलता को आंखें खोल कर देखता है और परिणामतः महसूसता है स्वयं की नग्नता और नपुंसकता—अपनी निरर्थकता । वह अनुभव करता है जैसे समय ग्रपने भीतर ही सिमटता जा रहा है, विगत की कोई सार्थकता नहीं और आगत उसके नियन्त्रण से दूर और दूर हटता जा रहा है । पहले वह अतीत और वर्तमान भोगता था परन्तु अब वह अतीत से छुटकारा पाना चाहता है । अतीत और भविष्य उसके लिए बेमानी से हो गये हैं । केवल वर्तमान क्षण ही ऐसा है जो उसके लिए अर्थ रख सकता है, वही ऐसा है, जिस पर अधिकार रख सकता है ।

---

1. 'अन्धेरे बन्द कमरे', 'अपने अपने अजनवी', 'वे दिन', 'न आने वाला कल', 'दूसरी वार', 'सुवह अन्धेरे पथ पर' इत्यादि ।
2. 'मछली मरी हुई' में शीरीं पद्मावत् ।

केवल वर्तमान में ही रहने का उसका यह निश्चय उसे मजबूर करता है कि वह स्वयं को उन मूल्यों से काटकर अलग करले, जिसके कारण वह अपने आप को इतिसास का नायक समझता आया है। वे संस्थाएं भी जो कभी उसके उद्देश्यों की प्राप्ति में उसके लिए सहायक सिद्ध हुई थीं, अब कड़ी कसौटी पर कसी जाती है। मसलन, विवाह कभी पारिवारिक जीवन के स्थायित्व के लिए आवश्यक समझा गया था, वह इस युग में निरर्थक प्रतीत होने लगा है। आने वाले कल के क्षितिज पर सम्भाव्य विनाश के बादल मंडराते दिखाई देते हैं। श्रम और काय, जो कभी उन्नति और प्रगति के लए आवश्यक समझा जाता था, आज ऐसे लगने लगा मानो समय का व्यर्थ नाश हो। मतलब यह कि आज कोई भी ऐसी संस्था या कोई भी ऐसा कार्य, जिसका फल लम्बे समय के बाद जाकर उपलब्ध होता हो, और जो किसी उद्देश्य की प्राप्ति का साधन मात्र हो, आज निरर्थक समझा जाना लगा है।

आज का मनुष्य सोचता है कि क्या अब भी उन भ्रांतियों का शिकार बना रहें, जिसके बारे में वह जानता है कि वे असत्य है? अथवा वह इस झूठी प्रतिष्ठा की नकाब फाड़ डाले और जीवन के ऐसे क्षेत्र से प्रवेश करे, जहां स्वयं के एकाकीपन और किसी समय आ दबोच लेने वाली मृत्यु की सम्भावना की स्वीकृति के द्वारा वह स्वतंत्रता और स्वयं के अस्तित्व की सार्थकता के तत्वों को पा सकता है।

आज जब कि राजनीति वाहियात बनकर रह गयी है। पुलिस-राज्य को व्यक्ति के विकास के लिए सबसे ज्यादा बाधक माना जाने लगा है। आधुनिक सभ्यता औद्योगीकरण, मशीनीकरण, और सामाजिक आडम्बर एवं दिखावे ने जहां व्यक्ति की स्वतंत्रता छीन ली है, वहीं उसे गुलाम भी बना दिया है। लेकिन इसका इलाज वह राजनीतिक क्रांति में नही ढूंढ पाता। मानव जाति का इतिहास क्रांतियों की सार्थकता के लिए विश्वासपूर्ण नहीं रहा। प्राचीन संस्थाओं में भी उनकी आस्था नहीं रही चाहे वह संस्था धार्मिक क्षेत्र में चर्च (मन्दिर) हो, राजनीतिक क्षेत्र में शादी-ब्याह एवं परिवार हो। मानव जाति का इतिहास उनके लिए सिवाये अत्याचार उत्पीड़न और बड़े-बड़े युद्धों में वही रक्त की नदियों और सड़ती लाशों के सिवाये कुछ नहीं। इसी लिए वह अपनी स्मृति पटल से मानव-इतिहास का सम्पूर्ण अतीत हटा देने को आमादा है। भविष्य के बारे में वह सोचना बेकार समझता है जबकि समूची पृथ्वी का अस्तित्व कुल तीन-चार

पागल नेताओं के हाथ में हो जिनके इशारे पर न्यूक्लयर बमों के विशाल गोदामों के दरवाजे खुल जायें और पृथ्वी नामक इस छोटे से ग्रह का नाम-निशान तक न बचे, वहां भविष्य की चिन्ता पागलपन है। दरअसल मृत्यु आज के युग का एक मात्र पर्याप्य है, वह किसी भी क्षण उसे दबोच सकती है। ऐसी स्थिति में लम्बे भविष्य की बात भी सोचना एब्सर्ड है। इसी लिए उनकी आस्था मात्र क्षण में है और उससे उपलब्ध होने वाली तीक्ष्ण अनुभूतियों में हैं। यही कारण है कि वर्तमान के किसी भी अनुभव को वर्जित नहीं मानते। हर चीज को 'डिग' करना चाहते हैं, अनुभूतियों की तह में पहुंचना चाहते है। उनके पीछे सामाजिक, राजनीतिक या मार्मिक्र उद्देश्य नहीं, मात्र वे अनुभूतियां ही अंतिम लक्ष्य हैं।

यह जो अन्तर्द्वन्द्व की, विघटन की स्थिति आई वह इसलिए आकस्मिक लगने लगी क्योंकि हमने पाया कि साहित्य में एक नया दृष्टिकोण उभर आया है जो बेहद तीखा है और जिसने पुराने युग-बोध, पुरानी चेतना, पुराने दृष्टिकोण के आगे प्रश्नचिन्ह लगा दिये हैं। अतः पुरातन और नूतन में पारस्परिक अविश्वास, तनाव और क्षोभ का होना अनिवार्य है।

इस सबका परिणाम यह हुआ कि औपन्यासिक लेखक ने सामाजिक एवं दार्शनिक विचारों के आधार पर जिस नायक को खड़ा करके अपने चिन्तन को विकासशील बनाने का प्रयत्न किया था, जिस नायक की चरम सीमा अति, उत्साह, तीक्ष्ण बौद्धिकता और राजनीतिक विद्रोह द्वारा नायक-पूजा का आरम्भ किया था 'उस नायक पूजा' को आज के उपन्यासकार ने अस्वीकार कर दिया। यह समय की माँग थी जिसे आज का उपन्यासकार भली भाँति जान गया था क्योंकि आज जो स्थिति है वह पहले जैसी नहीं हो सकती। आज आदर्श, अच्छाई या भलेमानसपन जैसे प्रेमचन्द-कालीन विचारों से भले ही आंशिक रूप में लाईन में खड़े होकर काम करने की आदत पड़ गई हो परन्तु जन-सामान्य कटु यथार्थ के आगे आदर्शवादी प्रवृत्ति को कब का भूल चुका है। आज की दृष्टि समष्टि सत्य से व्यष्टि सत्य की ओर उन्मुख है। मानवीय सम्बन्धों को शंका की दृष्टि से देखने के कारण उन पर पुनः विचार शुरू हो गया है। इतनी मुद्दत की मुक्ति के पश्चात् जन-मानस को खुशियों के स्थान पर स्वार्थ, घृणा, भाई-भतीजावाद, वहशीपन, कुंठा, त्रास, इत्यादि ही मिले जिनके कारण जीवन के प्रति अस्वीकार का रुख विकसित हो गया है। वेबसी,

लाचारी, बेरोज़गारी ने इन तमाम पहलुओं के साथ मिलकर जहां इन्सान के मूल्यों का विघटन किया वही उसे खण्ड-खण्ड कर बोना भी कर दिया और एक हद तक हठी और विद्रोही भी।

अतः आज मानवीय प्रयत्न की विद्रोही संस्कृति विरोधी दिशा को आम तौर पर नकारा नहीं जा सकता, जबकि इस से पूर्व इस तरह का दवाव इतने गहरे और व्यापक रूप में मस्तिष्क और संवेदना को कभी भी प्रभावित नहीं कर सका। इसका सीधा परिणाम खीझ, तनाव, संघर्ष और व्यंगपूर्ण व्यवहार में होता है। जब सारे के सारे युग का मिजाज़ इस तरह का हो, तब वह मिजाज़ अपने आप में चुनौती का रूप ग्रहण कर लेता है। आज जीवन और साहित्यिक विधा के हर क्षेत्र में यह चुनौती उभर आई है।[1] इस चुनौती को नायक-पूजा के आग्रह में नायक के पतन के रूप में विभिन्न धरातलों पर भिन्न भिन्न दृष्टियों से स्वीकारा और नकारा गया है।

पश्चिम तथा भारत में औपन्यासिक नायक की स्थिति

हिन्दी उपन्यास-साहित्य में नायक की पूर्व अवधारणा का अस्वीकार या नायक का ह्रास जहां आंशिक रूप में हुआ है, वहीं पश्चिम के उपन्यास-साहित्य में (रूस को छोड़कर) नायक की पूर्व अवधारणा का, व्यक्ति-महात्म्य का पूर्णतः अंत स्वीकार कर लिया गया है। थैकरे ने एब्सर्ड नायक की परिकल्पना कर परम्परागत नायक को बहिष्कृत कर दिया। उसने परम्परा से हटकर आम-साधारण आदमी को उपन्यास का पात्र बनाया, ऐसा पात्र जो न तो इज्जतदार है न मकान मालिक का किराया ही दे सकता है, यहाँ तक कि पैसे-पैसे के लिए वह रोता झींकता है। इस प्रकार जीवन की अनगिनत विसंगतियों के यथार्थ चित्रण थैकरे ने अपन उपन्यासों मे किये। थैकरे के इन नायकों को परम्परावादी उपन्यासकारों ने ऐन्टी-हीरो (अनायक) का दोष लगाया। परम्परावादी ज्याँ ओ' फलोन ने 'दि वैनिशिंग हीरों' नामक पुस्तक में नायक को सामाजिक नायक कहा जो कानून की लम्बी बाहों, चर्च या धर्म, मुख्याध्यापक या समाज के मुखिया की भूमिका अदा कर, हमारा मनोरंजन कर वापिस अपनी परम्परा में चला जाता रहा हैं।[2] थैकरे ने इस परम्परावाद से हट कर जो 'ऐन्टी-हीरो' की

---

1. 'आलोचना' 12, पृ० 27, जनवरी-मार्च, 1970
2. 'दि वेनिशिंग हीरो' ज्यां औ फलौन, पृ० 14

परिकलपना की, उस परिकलपना का परिणाम पश्चात् के पश्चिमी उपन्यासकारों में जाकर नायक का ह्रास और नायक पूजा के अन्त में हुआ।[1] अमेरिकी उपन्यासकार फाक्नर ने तो नायक का पूर्णतया वहिष्कार ही कर दिया।[2]

पश्चिमी उपन्यास साहित्य में तालस्ताय, दास्तायवस्की, तुर्गनेव, फलावेयर, जोला, मौपासां आदि के उपन्यासों में नायकत्व-भाव तो है लेकिन कथा-संचालन का सूत्र उन नायकों के हाथ में नहीं है। परम्परागत रुढ़ियों के पालन मात्र के लिए ये नायक अपना अस्तित्व रखते हैं। वे अपने किसी व्यक्तिगत वैशिष्टय या चमत्कार से भी हमें आकृष्ट नहीं कर पाते, जो इनकी पूर्व अवधारणा में उपलब्ध होता है। इसके विरुद्ध हमारा ध्यान उपन्यासों में विद्यमान सामाजिक जीवन की गतिविधियों के प्रति और नायकों की प्रवृत्तियों को भी संचालित करने वाली सामाजिक शक्तियों के प्रति अधिक जाता है। यह शक्तियाँ दो प्रकार की हैं। व्यक्ति के बाहर की सामाजिक शक्तियां और समाज से प्रभावित व्यक्ति की मानसिक शक्तियाँ। उपर्युक्त सभी पश्चिमी लेखकों ने विभिन्न अनुपातों में इन दोनों शक्तियों को अपने पात्रों की प्रेरणा बनाया है।

पश्चिमी उपन्यास में क्षीण होते हुए नायक को रूसी सामाजिक यथार्थ-वादी और समाजवादी यथार्थवादी उपन्यास ने एकदम समाप्त कर दिया। सन् 1925 के पश्चात् राष्ट्रीय विकास-योजनाओं के सम्बन्ध में जो रचनाएँ हुई उनमें नायकों का स्थान समाज ने ग्रहण कर लिया। नवस्थापित साम्यवादी देशों ने वीर-पूजा और व्यक्ति माहात्म्य की मान्यता का अन्त कर दिया, कम-से-कम सैद्धान्तिक रूप में। राजनीतिक क्षेत्र में यह सिद्धांत सक्रिय नायक (पाज़िटिव हीरो) के जन्म के रूप में हुआ। जब भारत तथा पश्चिम क्लीव, निराश, पंगु और असमर्थ नायकों का चित्रण कर रहा था, उस समय सोवियत साहित्य में यह नकारात्मक वहिष्कृत नायक सक्रिय नायक के रूप में पुनः प्रतिष्ठित होने लगा था। सोवियत रूस अपनी पंचवर्षीय योजनाओं को पूर्ण करने में लगा हुआ था,

---

1. 'वैनिटी फैयर' का उपशीर्षक ('ए नावल विदाउट ए हीरो', थैकरे)
2. 'दि एज आफ डिफीट' कालन विलसन पृ० 59 ('लाईन इन अगस्त', तथा 'दि साउण्ड एण्ड दी फरी')
   रुस में एण्टी हीरो के स्थान पर सक्रिय नायक (पोजिटिव हीरो) का जन्म हुआ। 'मानव मूल्य और साहित्य' धर्मवीर भारती-पृ० 50

उसे चिन्तन और आत्म विश्लेषण में डूबे रहने वाले नायक के स्थान पर सक्रिय नायक की तलाश थी जो बांध बनाये, टैंक चलाये, पैदावार बढ़ाए। क्योंकि इस प्रकार का सक्रिय नायक सृजनशील नायक नहीं हो सकता था इस लिए जहां यह दृष्टिकोण अपने आप में खोखला, सतही और पार्टी के फरमानों द्वारा परिचालित सिद्ध हुआ, वहीं इसे विश्व-साहित्य ने भी अस्वीकार दिया। 'शोलोखोव' की 'नयी जुती ज़मीन' में किसी एक पात्र को नायक कहना कठिन है। इससे भी सुन्दर उदाहरण इल्याएहरनवर्ग के उपन्यास 'आंधी' और 'नवम तरंग' है। इनमें विश्व-युद्ध के समय के और उसके बाद पश्चिम का विस्तृत समाज-शास्त्रीय इतिहास प्रस्तुत है। सम्पूर्ण मानवता रंगमंच पर आती है। एक-एक राज्य की जनता एक-एक पात्र का रूप धारण कर लेती है। जर्मन, फ्रैंच, रूसी जनताएँ अपने-अपने मुंह से बोलती है। हजारों माताओं का आर्त-क्रन्दन, युवक-युवतियों का आत्मोत्सर्ग, बालक-वालिकाओं के करुण-विलाप इन सब के बीच में हम किसी नायक की खोज में जाएं तो, सम्पूर्ण मनुष्यता ही हमारे हाथ आयेगी। इसके पश्चात् भी उपन्यासों में नायक का महत्व कम रहा है। फलारिंग स्तानित्सा, 'हाऊ दि स्टील वाज़ टेम्पर्ड, 'नो आर्डिनरी समर,' 'स्प्रिंग आन द आर्डर' 'फिशनमेनशन,' 'लिविंग वाटर' आदि में नायक केवल नाम के लिये ही उपस्थित हैं। इल्याएहरनवर्ग के समान नायक की पूर्ण उपेक्षा अन्य लेखन नहीं कर सके, क्योंकि नायक का आलम्बन छोड़कर कथानक आगे बढ़ाना कलाकार के लिए सहज कर्म नहीं है, अतः इन सब रचनाकारों को नायक का आश्रय लेकर ही सामाजिक विकास का अध्ययन प्रस्तुत करना पड़ा है।

यही विश्व साहित्य की एक और विशेष महत्वपूर्ण प्रवृत्ति को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता। यह प्रवृत्ति आभिजात्य से सामान्य के प्रति उसका प्रयाण है। जीवन से दूर, किन्तु जीवन से उन्नत मानी जाने वाली वस्तुओं का तिरस्कार उपन्यास में बढ़ता आ रहा है उन्नत अभिजात नायक, अभिजात वर्ग की उदार एवं कोमल प्रवृत्तियों की उपेक्षा करता आ रहा है। नाटक और महा-काव्य की तुलना में उपन्यास में अभिजात वर्ग का आधिपत्य सदा कम रहा है। उपन्यास के प्रारम्भ काल में ही महान् एव उत्तम व्यक्ति को नायक बनाने की आवश्यकता नहीं समझी गयी, अतः उपन्यास सदा सामान्य जीवन के अधिक निकट रहा है।

इस प्रकार पश्चिमी उपन्यास साहित्य की इस प्रवृत्ति के समानान्तर यदि भारतीय साहित्य की इस प्रवृत्ति का अध्ययन किया जाये तो अधिक स्पष्ट और समीचीन होगा। समानान्तर इसलिए क्योंकि दोनों प्रवृत्तियाँ कहीं-न-कहीं जाकर मिलती अवश्य हैं, जैसे अभिजात्य से सामान्य की ओर झुकाव दोनों प्रवृत्तियों में एक-सा है। बेशक हिन्दी साहित्य में अभिजात्य का आंतक बहुत समय तक व्याप्त रहा है। दरिद्रों और वेश्याओं के उद्धार के लिए आलौकिक-न्याय करने वाले और पैसा लुटाने वाले आभिजात्य पात्र हमारे कथा-साहित्य में अनगिनत रहे हैं। प्रेमचन्द के सुधारवादी पात्रों को हम देख सकते हैं, उनमें सामाजिक क्राँतिकारी का जो भाव है, वह दीन-दरिद्रों और अबला नारियों पर अपार दया के रूप में प्रकट हुआ है किन्तु 'गोदान' के होरी ने सिद्ध कर दिया है कि उपन्यास के लिए आभिजात्य इतना आवश्यक नहीं है जितना कि जीवन।[1]

अत: आभिजात्य नायक का ह्रास प्रेमचन्द काल से लेकर आज तक अपनी उसी परम्परा को (अपवाद को छोड़कर) निभाता आ रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि वह परम्परा कथ्य के बदलते आयामों में कुछ भिन्न हो गयी है, परन्तु जन-सामान्य आज भी आभिजात्य का द्वार बन्द किए हुए है।

इसी आभिजात्य नायक का ह्रास हम मनोवैज्ञानिक उपन्यासों द्वारा भी दूसरे ढंग से देख सकते हैं। डॉ० गणेशन ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी उपन्यास-साहित्य का अध्ययन' में नायक ह्रास को इस प्रकार भी लिया है—ये उपन्य स वस्तुत: हद के व्यक्तिवादी रहे हैं, व्यक्ति की मानसिक ग्रन्थियों को सुलझाने के प्रयत्न में यह उपन्यास मनुष्य की सामाजिक सत्ता के प्रति अत्यन्त उदासीन रहते हैं। पात्रों की संख्या सीमित रहती है, और प्राय: एक दो पात्रों का मनोविश्लेषण गहराई से किया जाता है। किन्तु इन एक-दो पात्रों के भी व्यक्तित्व का स्वरूप क्या है ? वस्तुत: उनका व्यक्तित्व उनका अपना नहीं है, वे किसी सर्वमान्य या अर्धमान्य-मनोवैज्ञानिक सिद्धांत को विशद करने के निमित ही अपना अस्तित्व रखते हैं। वे समाज के ही कुछ विशेष प्रकार के या कुछ 'टाईप' के प्रतीक होते हैं, उनका मनोविश्लेषण समाज का सामूहिक मनोविश्लेषण नहीं है, किन्तु ऐसे कुछ व्यक्तियों का मनोविश्लेषण है जो समाज के ही अंग हैं, और समाज की कुछ विशिष्ट मनोवृतियों से ग्रस्त है। दुर्भाग्यवश ऐसे उपन्यासों के लिए जो पात्र चुने

---

1. 'हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन' डा० गणेशन, पृ० 132-133

गये हैं, वे साधारण नहीं, असाधारण हैं, हिन्दी में भी और पाश्चात्य उपन्यासों में भी। जेम्स ज्वायस का 'युलीसिस', मई सिक्लेयर का 'तीन बहनें', रेवेका वेस्ट का 'जज' आदि के पात्र इसके अच्छे उदाहरण हैं। इनमें और अधिकांश अन्य व्यक्तिवादी उपन्यासों में चित्तवृत्तियों का ही विश्लेषण किया गया है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में भी इस प्रकार के चित्तवृत्ति वाले नायकों की संख्या भी कम नहीं है। उदाहरण स्वरूप इलाचन्द्र जोशी के 'मुक्ति पथ' और 'जहाज का पंछी' के पात्रों, अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' और 'अपने-अपने अजनवी' के पात्रों, राजेन्द्र यादव के 'उखड़े हुए लोग', और 'एक इंच मुस्कान' के पात्रों, राजकमल चौधरी के 'दे गाथा', और 'मछली मरी हुई' के पात्रों, रमेश बक्षी के 'किस्से ऊपर किस्सा', 'अठारह सूरज के पौधे' और 'चलता हुआ लावा' के पात्रों नरेश मेहता के 'डूबते मस्तूल' के पात्रों तथा श्रीकान्त वर्मा के 'दूसरी वार' आदि के पात्रों को असाधारण और विकृत चित्र के कारण अतिरंजित अथवा अतिरंजना की ओर अग्रसर देखा जा सकता है। यहाँ डॉ० गणेशन की यह बात बहुत उपयुक्त लगती है कि इस प्रकार की चित्त विकृति और असाधारणता इस लिए लायी गई है क्योंकि उपन्यासकार को इस प्रकार की प्रवृत्तियां समाज में दिखाइ देती हैं। अतः उपन्यासकार उन्हें मात्र स्पष्ट करना चाहता है, इसके आगे उन व्यक्तियों के प्रति लेखक को भी आस्था नहीं। इसके परिणामस्वरुप वह पात्र नायक के स्थान पर प्रतिष्ठित होने पर भी प्राचीन उपन्यासों के नायकों के समान कथानक के संचालक नहीं हैं। वे किसी महान कार्य के प्रवर्तक न होकर कुछ प्राकृतिक शक्तियों से संचालित हुए हैं। इसलिए आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में उदात्त पात्रों का अभाव है। यह परिवर्तन कहां तक उचित है यह दूसरी बात है। पर यह निश्चित है कि आज का मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार भी अपने पात्र को किसी ऊँचे स्थान पर प्रतिष्ठित करके उसको सबसे आदर का पात्र बनाने को तैयार नहीं।[1]

यही नहीं, हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के साथ अन्य उपन्यासों में भी यह प्रवृत्ति सामान्य की ओर ही अधिक है। इस प्रवृत्ति को इलाचन्द्र जोशी के 'मुक्तिपथ' (1950) से लेकर गिरीश अस्थाना के 'श्वेत पत्र' (1980) तक देखा जा सकता है। सन् 1950 से 1980 के इन उपन्यासों में यदि कहीं नायक

1. 'हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन', डा० गणेशन, पृ० 135

को स्थान भी मिला है, तो वह मात्र मध्य और निम्न मध्यवर्गीय पात्र को ही। इस पूरे काल में यह मध्य वर्ग ही ऐसा है जिसको उसके सारे गुणों और अवगुणों के साथ यथार्थ दृष्टि से देखने का प्रयत्न हुआ है। आभिजात्य के परित्याग को आज के उपन्यासकार ने अपने सारे प्रयत्नों द्वारा अस्वीकारा है।[1]

हिन्दी उपन्यास साहित्य में प्रारम्भिक उपन्यासों की स्थिति कुछ दूसरी ही प्रकार की थी। तात्कालिक उपन्यासकार रहस्य तथा रोमांस को ही स्थान देता था। लेखक का ध्यान घटनाओं तथा खोजों की तरफ ही रहता था और नायक एक टाइप-विशेष बन कर रह जाता था। परन्तु कालान्तर में नायक के व्यक्तिगत चरित्र पर अधिक बल दिया जाने लगा। इससे पूर्व का नायक सामाजिक गुणों का पुंज मात्र ही चित्रित होता था। बाद में जाकर इसी नायक के गुणों तथा अवगुणों में लेखक संघर्ष की स्थितियां भी उभारने लगा। मानव चेतना और इच्छा में संघर्ष भी लक्षित होने लगा। मनुष्य के अन्तःकरण की प्रवृत्तियों और उसके संघर्ष की ओर भी ध्यान दिया जाने लगा। धीरे-धीरे उसके मनुष्य की अन्तश्चेतना की गहराइयों का वर्णन शुरु किया जिससे उपन्यास में एक नया व्यक्ति प्रविष्ट हुआ। इस नये व्यक्ति का आविर्भाव आभिजात्य के

---

1. इस बात को स्पष्टतः हम इलाचन्द्र जोशी-'मुक्तिपथ', 'जहाज का पंछी', अज्ञेय-'नदी के द्वीप', 'अपने-अपने अजनबी', डा. देवराज-'पथ की खोज', नागार्जुन-'बलचनमा', शिव प्रसाद मिश्र रुद्र-'बहती गंगा', धर्मवीर भारती-'सूरज का सातवाँ घोड़ा', रेणु-'मैला आंचल' 'परती-परिकथा', उदयशंकर भट्ट-'सागर लहरें और मनुष्य', अमृत लाल नागर-'बूंद और समुद्र', कृष्ण बलदेव वैद-'उसका बचपन', राजेन्द्र यादव-'सारा आकाश', नरेश मेहता-'यह पथ बंधु था', 'दो एकान्त', हजारी प्रसाद द्विवेदी-'चारु चन्द्र लेख', रमेश बक्षी-'किस्से ऊपर किस्सा', 'अठारह सूरज के पौधे', 'चलता हुआ लावा', 'बैसाखियों वाली इमारत', उषा प्रियम्वदा-'पचपन खम्बे लाल दीवारें', उपेन्द्रनाथ अश्क-'शहर में घूमता आईना', 'एक नन्हीं कन्दील', गिरिधर गोपाल-'चाँदनी के खण्डहर', 'कन्दील और कुहासे', निर्मल वर्मा-'वे दिन', कमलेश्वर-'समुद्र में खोया हुआ आदमी', कृष्णचन्द्र शर्मा भिक्खू-'असगतता', राजकमल चौधरी-'मछली मरी हुई', शरद देवड़ा-'कालेज स्ट्रीट के नये मसीहा', शिव प्रसाद सिंह-'अलग-अलग वैतरणी', डा. सुरेश सिन्हा-'सुबह अंधेरे पथ पर', भीष्म साहनी-'झरोखे', श्रीकान्त वर्मा-'दूसरी बार', मोहन राकेश-'अंधेरे बन्द कमरे', 'न आने वाला कल', श्रीलाल शुक्ल-'राग दरबारी', डा. गंगाप्रसाद विमल-'अपने से अलग', रामदरश मिश्र-'जल टूटता हुआ', भगवती चरण वर्मा-'सबहिं नचावत राम गोसाईं', गिरीश अस्थाना-'धूप छाँहीं रंग' तथा 'श्वेत पत्र' आदि उपन्यासों में देख सकते हैं।

त्याग के पश्चात् हुआ । इसी ने नायक के स्वरूप में अस्थिरता की स्थिति को पैदा किया ।

'कमलेश्वर' के अनुसार यह नया व्यक्ति स्वतंत्रता के पश्चात् की युवा लेखकों की पीढ़ी की देन है जिसने बहुत कम समय के लिए भारत को परतंत्र अवस्था में देखा और जिसका पालन-पोषण और विकास स्वतंत्र भारत में हुआ। इस पीढ़ी ने स्वतंत्रता के सही अर्थ या मूल्य को देखने के स्थान पर अपने चारों ओर भ्रष्टाचार, जातिवाद, भाई-भतीजावाद, प्रान्तीय संकीर्णता, गुटबन्दी, बेरोज़गारी और नौकरशाही के घृणित परिणाम ही देखे और अपने को अनेक प्रकार के निषेधों में घिरा पाया।...नास्टेलिज्या, दुख-दर्द, गरीबी, भय, आशंका, घृणा, बोरियत, दहशत, बेरोजगारी और अपमान के बीच उसका जन्म और विकास हुआ। इस नए व्यक्ति को कमलेश्वर ने विचारमण्डित व्यक्ति की भंगिमा लिए क्लीव और नपुंसक पुतले की तरह लेखक की कुण्ठाओं को वहन करने वाला कहा है ।[1] ज्याँ ओ फलोन ने भी अपनी पुस्तक 'दि वैनिशिंग हीरो' में कुछ इसी प्रकार के विचार प्रकट किए हैं : उसने आज के व्यक्ति का स्वरूप तुच्छ से तुच्छ माना है, जो अंधेरे में टटोलने वाला या भटकने वाला है। उसने इसे उलझा हुआ, दुरात्मा, कुंठित, एकाकी और सलीब पर टंगे निशान की भांति भी माना है। वस्तुतः उसके यह शब्द अपने आप में बहुत मायने रखते हैं जब वह कहता है कि चाहे वह कमजोर है या बहादुर, समझदार है या नासमझ उसका निर्माणकर्ता तो लेखक ही है। जबकि वह अपनी नियति को न ढो कर लेखक की नियति को ढो रहा है ।[2]

अमृत लाल नागर ने इसे अनास्था और घुटन भरे कुंठित विद्रोह मानस वाला तटस्थ अर्थात् निष्क्रिय चिंतन करने वाला नायक माना है। डा० धर्मवीर भारती ने इसे वही पुराना मध्यमर्ग की संकट-ग्रस्त संवेदना वाला माना है। जब कि मोहन राकेश को नया अथवा विशिष्ट न लगकर साधारण व्यक्ति लगता है। इसी तरह यशपाल इसे व्यवहारिक और व्यवसायी दृष्टि से नया मानते हैं ।[3]

1. 'वमयुग', फरवरी-मार्च, 1169
2. 'दि वैनिशिंग हीरो', ज्याँ औ फ्लोन, पृ० 17
3. 'नई धारा', अंक 11-12, फरवरी-मार्च, 1966

वस्तुत: आज का उपन्यासकार अपनी परम्परा से हटकर नायक को विभिन्न मन:स्थितियों में रख नए ढंग से उसकी चीर-फाड़ करने पर तुला है। उपन्यासकार ने कभी इसे कथा का केन्द्र बनाया, कभी मात्र माध्यम। कभी इसके द्वारा आदर्श की व्याख्या की गई है, कभी इसका आधार बना कर किसी समस्या अथवा मूलभूत सिद्धांतों की व्याख्या की गयी है। इस प्रकार आज का यह नया व्यक्ति पहले परम्परावादी नायक से पूर्णतया भिन्न है जिसकी हम शताब्दियों से घुट्टी पीते आ रहे थे। गांधीवादी आदर्शवादी नायक का अस्वीकार उस पर करारी व्यंग भरी चोट के साथ हुआ। डा०विजयेन्द्र स्नातक ने ठीक ही कहा है कि हिन्दी साहित्य में गांधीवादी प्रभाव जितनी क्षिप्रता और गम्भीरता से हिन्दी साहित्यकारों पर पड़ा था, कदाचित् उनके अवसान के बाद उतनी ही द्रुत गति से वह लुप्त भी हो गया।[1] इस सब का परिणाम यह हुआ कि नायक मिसफिट, सम्पत्ति नष्ट करने वाला, किसी की परवाह न करने वाला अपराधी, आत्महत्या की ओर अग्रसर, क्लीव, नपुंसक और आधे-अधूरे रूप में आने लगा। 'नदी के द्वीप' का 'भुवन', 'पथ की खोज' का 'चन्द्रनाथ', 'चांदनी के खण्डहर' का 'बसन्त', 'जहाज के पंछी' का 'मैं', 'उखड़े हुए लोग' का 'शरद', 'कब तक पुकारुं' का 'सुखराम' 'झूठा सच' का 'पुरी', 'सारा आकाश' का 'समर', 'एक इंच मुस्कान' का 'अमर', 'अन्धेरे बन्द कमरे' का 'मधुसूदन', 'यह पथ बन्धु था', का 'श्रीधर', 'चारु चन्द्रलेख' का 'राजा सातवाहन,' 'किस्से ऊपर किस्सा' का 'मैं', 'अपने-अपने अजनबी' की 'योके' 'शहर में घूमता आईना' और 'एक नन्हीं-सी कन्दील' का 'चेतन', 'वे दिन' के 'मैं' और 'रायना', 'अठारह सूरज के पौधे' व 'चलता हुआ लावा' का 'मैं' 'समुद्र में खोया हुआ आदमी' का 'श्यामलाल', 'मछली मरी हुई' की 'शीरी पद्मावत' अथवा 'निर्मिल पद्मावत', 'अलग-अलग वैतरणी' का 'विपिन', 'रागदरबारी' का 'रगंनाथ', 'अपने से अलग' का 'मैं', 'न आने वाला कल' का 'मनोज सक्सेना', 'कन्दील और कुहासे का' 'किशू', 'जल टूटता हुआ' का 'सतीश', और 'सबहिं नचावत राम गोसाई' का 'जबरसिंह', 'दूसरी बार' का 'मैं', 'धूपछांही रंग' का 'सुकान्त' ये सभी उक्त किसी न किसी प्रवृति को अपनी प्रकृति में लिए हुए हैं। कथा-संचालन में इनका स्थान प्राय: वह नहीं जो परम्परागत रूप में मान्य था। अर्थात् ये सभी नायक 'सेवासदन' (प्रेमचन्द), के 'सुमन' या 'प्रेमाश्रम' के ज्ञानशंकर समान न तो कोई आदर्श ही उपस्थित कर पाये हैं और न ही समाज को रास्ता ही दिखाने का दावा करते हैं।

---

1. 'परिशोध',सम्पादक डा. इन्द्रनाथ मदान, डा. मैथिली प्रसाद भारद्वाज, पृ० 35

आज यह हमारे सामने क्लर्क, नौकरी पेशा, छात्र, अध्यापक, दुकानदार, रेडियो-नाटककार, टेलीफोन आपरेटर, युवालेखक, निजी सहायक, नृत्य शिक्षक, पत्रकार, फौजी-सिपाही, चित्रकार, वेरोजगार, डाक्टर, वैज्ञानिक, कम्पनी डायरेक्टर, नट, भूखी पीढ़ी, कृषक, शोध-छात्र, और एक वच्चे आदि कई रूप में आ रहे हैं। इन लोगों का जायज़ा लेने से पता चलता है कि यह हमारे सम-सामयिक समाज के ऐसे पात्र हैं जिनसे हमारा वास्ता पड़ता है।[1] यह नायक परम्परावादी आभिजात्य नायक न होकर आम साधारण आदमी के रूप में आज आ रहें हैं। कुल मिलाकर यह हमारी नज़र से बहुत दूर के पात्र नहीं है परन्तु एक वात निश्चित है कि यह पात्र नायकत्व गुणों के अभाव में पात्र भर है, नायक नहीं।

इस प्रकार इन नायकों की स्थिति, टूटन, हार, क्लीवता, अधूरेपन और नपुंसकता में है जहां वह अन्त:निर्दिष्ट की श्रेणी में अन्तर्मुखी होकर रह गये हैं। इनमें से कुछ में समाज से टक्कर लेने की भावना तो मिलती है परन्तु अपने काम में सफल सम्भवतः कोई भी नहीं हो पाता। कई बार ऐसा लगता है कि टूटा व्यक्तित्व लिए ये जीने का वहाना किए हों। या यूं भी कहा जा सकता है कि कई चेहरे ओढ़े हुए दोहरी अथवा तिहरी जिन्दगी जीने के लिए अभिशप्त हों। भगवतीचरण वर्मा ने इस स्थिति को जिस तरह लिया है, वह अपने आप में नायक के ह्रास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार मूल्यों की अराजकता और जीवन की निरर्थकता के प्रति आत्म-समर्पण का परिणाम यही होगा कि उपन्यास का नायक अपने नायक-गुणों से विहीन होकर जीवन की जटिल समस्याओं और संघर्ष की चुनौती को अस्वीकार कर दे और पलातकों की इस बढ़ती हुई सेना में भरती हो जाये क्योंकि कौन जाने कौन क्या जीतेगा भविष्य में? आदमी तो वर्तमान में जी रहा है और वर्तमान को देखकर बड़ी निराशा होती है।[2]

मोहभंग से उत्पन्न मन:स्थिति, प्रगतिवाद की संकीर्ण राजनीति के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया और जीवन के अस्तित्ववादी एवं अस्तित्व के संकट की लोकप्रियता ने लेखक को एक प्रकार की प्रतिवद्धता से मुक्त होने का तर्क उपलब्ध कर दिया

1. 'धर्मयुग', कमलेश्वर, 4 जून, 1966
2. 'सर्वहि नचावत राम गोसाई', भगवतीचरण वर्मा, पृ. 28, 29

है और वह तटस्थ होकर यथाथ क प्रामाणिक अभिव्यक्ति को ही सृजनात्मक क्रिया की चरम उपलब्धि स्वीकार करने लगा है।

आधुनिक हिन्दी उपन्यास में नायक के चित्रण में करीव करीव यही दृष्टि काम कर रही है। लेखक इस सत्य को प्रामाणिक मानता है कि मनुष्य मूल्य-शून्यता, निरर्थता और विसंगति की घोर निराशा के वातावरण में भटकने के लिए विवश है क्योंकि सब आदर्श गलत सिद्ध हो चुके हैं। इसलिए उपन्यास के नायक में समाज, व्यवस्था या राजनीति और सत्ता में परिवर्तन लाने की न इच्छा ही शेष है और न ही उसके लिए वह समर्थ है। हम इस समस्त विघटन के केवल मौन दर्शक ही हो सकते हैं।

इस प्रकार हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि उपन्यास-साहित्य में कुछ नया अवश्य आ रहा है चाहे यह हमारे आस-पास के, हमारी आम पहचान के पात्र के रूप में आ रहा हो, चाहे यह क्लीव, नपुंसक और निष्क्रिय पात्र के रूप में आ रहा हो। यह नया अपनी परम्परा से हटकर है इसे साहित्यकारों ने, आलोचकों ने स्वयं स्वीकार किया है, स्वयं ही आंका है। उनका यह आंकना चाहे तटस्थ, निखट्टू, दार्शनिक, क्षणवादी, अपराधी या किसी की परवाह न करने वाले के रूप में आंकना हो, यह तो निश्चित हो जाता है कि नायक अथवा पात्र पहले वाले नायक से हर तरह से भिन्न है, हटकर है।[1] इतना ही नहीं, इनमें नायकत्व-भाव को समेटने वाले अर्थ भी शेष नहीं ऐसी स्थिति में इनकी नायकत्व-भावविहीनता ही स्पष्ट होती है जो भावी नायक-विहीन उपन्यास में आने वाले पात्रों को अनायकत्व अथवा प्रति-नायक या नायक-विहीन प्रवृत्ति की ओर ले गयी है।

नायक-विहीन उपन्यास

आभिजात्य के परित्याग और मध्य या निम्नमध्यवर्गीय क्लीव, अधूरे तथा नपुंसक नायक के जन्म तक ही या आम-साधारण की प्रतिष्ठा तक ही आकर आज का उपन्यास स्थिर नहीं हो जाता। इस क्लीव, अधूरेपन, निष्क्रियपन और पंगुपन की स्थिति ने जीवन के मूल्यों के विघटन के साथ इतिहास चक्र को कई

---

1. 'नई धारा', अंक-11-12, फरवरी-मार्च, 1966
2. 'हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन', डा. गणेशन, पृ० 135

नये आयाम दिए हैं। जैसे ही उपन्यास साहित्य में व्यक्ति और समाज का समाज शास्त्रीय अध्ययन शुरू होता है, वहां व्यक्ति की प्रमुखता तो कम हो ही जाती है, नायक की महत्ता पर भी एक बड़ा-सा प्रश्नचिन्ह लग जाता है। यहीं एडलर और युंग ने मनुष्य के मानसिक व्यापारों का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है उसमें मनुष्य अवचेतन प्रेरिकाओं द्वारा संचालित एक माध्यम बन गया है— दमित इच्छाओं का शिकार, यौन ग्रस्त, शक्ति लोलुप, हीन भाव से पीड़ित, कुण्ठाओं और ग्रथिओं में जकड़ा हुआ। स्पष्ट है कि कोई भी व्यक्ति मनोविश्लेपण के सामने नायक (हीरो) नहीं रह सकता—यह केवल एक पात्र होकर रह गया है। इस प्रवृत्ति को आज के उपन्यासकार ने अपने सृजन का अंग घोषित किया है। देवेन्द्र इस्सर ने इस विषय में उपयुक्त ही कहा है कि आधुनिक औपन्यासिक कृतियों में मूल्य-विघटन, मूल्य-शून्यता, मूल्य-विहीनता और मूल्य निरपेक्षता की दुहाई बार-बार दी जा रही है जो बाह्य जगत् की राजनीतिक विडम्बनाओं, आर्थिक विसंगतियों और सामाजिक विषमताओं के रूप में दृष्टिगोचर होती है और व्यक्ति के आत्मिक स्वर पर कुण्ठा, भय, संत्रास, अलगाव, संशय, आध्यात्मिक बांझपन और यौन-स्वच्छंदता के रूप में है। इसके फलस्व प व्यक्ति-व्यक्ति के सम्बन्ध और व्यक्ति-समाज के सम्बन्ध नये अर्थ धारण कर रहे हैं। विवाह और परिवार की व्यवस्था जीर्ण, विघटित और अर्थहीन होती जा रही है। सत्य, मूल्य और आस्था में अविश्वास के कारण मनुष्य में केवल अस्वीकार का स्वर ही प्रमुख हो सका है। आदर्शहीन आस्थाहीन, मूल्यहीन संशित व्यक्ति 'हीरो' (नायक) की भूमिका नहीं निभा सकता। वह पात्रों की सामान्य भीड़ में एक साधारण पात्र ही हो सकता है, कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं। वह भीड़ में व्यक्तित्वहीन भीड़ का ही प्रतिरूप है।[1]

गंगा प्रसाद गुप्त के शब्दों में कहें तो आज का व्यक्ति अपने सम्पूर्ण परिवेश के दंश से अपने ही स्थिति-जाल में इस कदर उलझ गया है कि उसे आंतरिक और बाह्य दोनों ही रूपों से बड़ी वेदना हो रही है। उससे छुटकारा पाने का उसका हर प्रयास उसे अधिक उलझाता गया है। परिणामस्वरूप उसकी उदारता, व्यापक अनुभूति, उसकी सूक्ष्म, दृष्टि आदि ने विषम प्रभाव ही डाला है। एक ओर परिस्थितियों ने व्यक्ति को दुर्बल बना दिया है, दूसरी ओर बाहरी

---

1. 'कल्पना', अंक-12, दिसम्बर, 1970

स्वार्थ स्वरूपों ने ऐसा जाल बिछाया कि व्यक्ति को सिवाय अपने तक सीमित रहने के और कोई मार्ग दृष्टिगोचर नहीं होता। परिणामस्वरूप वह अतीत, वर्तमान, भविष्य, आदर्श, आध्यात्म और सिद्धांत आदि की बातों से अनजाने ही उदासीन होकर कट गया है। इसे दूसरे शब्दों में ऐसे भी कह सकते हैं प्रबुद्ध कहा जाने वाला आज का व्यक्ति इतना निर्बल और असाहासिक है कि वह संघर्ष से दूर भागने की चेष्टा करता है और अपनी इस बच निकलने की पलायन-वृत्ति को साहसिकता और सचेष्टता के आवरण में ढंकने का असफल कर रहा है।

युग की प्रतिगामी और प्रतियोगी गति ने शिक्षित, संवेदनहीन, चिन्तकों में यह भी भावना भर दी है कि यदि ससम्मान जीवित रहना है, तो 'वह' दिखाने का प्रयास करना होगा जो आप में वस्तुतः नहीं है।[1]

इस प्रकार कुल मिलाकर उपर्युक्त स्थिति के अन्तर्गत जब बीसवीं शताब्दी का उपन्यास नयी परम्पराओं, नयी मान्यताओं को लेकर चलता है या किसी भी तरह की परम्परा या मान्यता को केन्द्र में नहीं लेकर चलता तो नये आयामों को खोलता है, नए संदर्भों को खोजता है। परिवेश से बुरी तरह छीला गया पात्र बिलकुल अनजाने लेकिन गहरे क्षितिजों को उभारता है। उदात्त मानव के बाद शायद शोधकों ने लघु मानव की स्थापना इसीलिए की है। बहुत निश्चित है कि जिन अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों की उपज को हम जी रहे हैं, वह हमारे लघु मानव को अमानवीय स्थितियों की ओर ले जावे। पश्चिम उपन्यासकारों ने मानव के इस स्वरूप पर अपना अध्ययन शुरू कर दिया है। हमारे यहां भी मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग से उठा हुआ पात्र आज नायकत्व की इस प्रवृत्ति और प्रकृति का शिकार जाने-बूझे और अनजाने हो रहा हैं।

आभिजात्य के परित्याग, के पश्चात आर्थिक और सामाजिक परिवेश में मनुष्य को खंडित कर अदना-सा कर दिया। उसकी इस लघुता, इस पलायन वृत्ति, इस निष्क्रियता, इस क्लीवता और नपुंसकता ने विज्ञान और मनोविश्लेपण के साथ मिल कर जब मनुष्य से उसके विश्वास की धुरियां छीन लीं, जब भीड़ (मोब) की समस्याएं हर व्यक्ति के साथ वैयक्तिक स्तर पर जुड़ी रहने लगीं उस

1. 'बिन्दु', गंगा प्रसाद गुप्त, पृ० 29

समय नायक की संज्ञा के लिए कोई ऐसा न बचा जिसे किसी भी आदर्श के रूप में खड़ा कर उपन्यासकार अपना माध्यम बना अपने दार्शनिक विचारों, सामाजिक परिवेश या समसामयिकता के बदलते कथ्य और आयामों को अभिव्यक्ति दे पाता है। क्योंकि तब कोई ऐसा पूर्ण मनुष्य न बचा था जो नायक के लबादे को ढोता, जो अपने आप को आदर्श की नपी तुली संकीर्ण दीवारों के चोखटे में बांध रखता। जीवन का स्वीकार और अस्वीकार यथार्थ के आगे रेत के ढूहों भी भांति कभी भी बिखर सकता था। जब समस्याओं के समाधान के आगे बड़े-बड़े प्रश्न चिन्हों की निरन्तरता बढ़ने लगी, जब भगोड़ेपन (पलायन) और आत्महत्या के अंदेशों ने हर जगह अपने कौशल दिखाए तब नायक का अपनी पूर्व अवधारणा से खण्डित हो जाना स्वाभाविक ही है। नायक-विहीनता की उक्त स्थिति की एक दूसरी भंगिमा भी हिन्दी-उपन्यास कथा-केन्द्र को अपूर्व परिप्रेक्ष्यों की ओर ले जाकर नायक के अमूर्त स्वरूप की व्यंजना भी करता है। इस भूमिका के अन्तर्गत नायक की मुद्रा शहर, गांव, अंचल अथवा किसी मनुष्येतर वस्तु ने ग्रहण करली है।[1] इन्सान के स्थान पर अमूर्त अथवा मनुष्येतर वस्तुओं को महत्व देना नायक की परम्परागत अवधारणा का निश्चित रूप से अन्त था वहां आभिजात्य अथवा अतिमानव सर्वगुण सम्पन्न की शर्त से प्रतिबद्ध था। यही नहीं इसके पश्चात् का निम्न अथवा मध्यवर्गीय नायक भी जिसने आभिजात्य को अस्वीकारा था अब खुद त्याज्य हो गया। वस्तुतः यह समसामयिकता की बौद्धिक मांग थी और इसके नए आयामों की अर्थवत्ता को सिद्ध करने वाली थी। क्योंकि आज का उपन्यासकार मनुष्य के व्यक्तिगत टूटन को दर्शाना चाहता है—इसलिए वह उस टूटन में समाज, धर्म, देश, शहर, गांव, राजनीति और वहां के रहने वाले लोगों और परिवेश के प्रभाव की उपेक्षा नहीं कर सकता। प्रायः इसीलिए आज के उपन्यासकार ने एक ही समय में कई चरित्रों (पात्रों) के जीवन के प्रसंगों को (जो नायक से भी महत्वपूर्ण समझे गए हैं) सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक उथल-पुथल में यथार्थ दृष्टि से आँकने का भी निर्णय किया। इस निर्णय में उसने उस पिसते हुए तथाकथित फालतू व्यक्ति को भी अभिव्यक्ति दी जो पहले नायक की संज्ञा से तो दूर उपन्यास में आने का हक तक नहीं रखता था। उसी फालतू व्यक्ति को उपन्यास में अभि-

---

1. रेणु-'मैला आँचल', शिव प्रसाद मिश्र 'रुद्र'-'वहती गंगा', शिव प्रसाद सिंह-'अलग अलग वैतरणी, अज्ञेय 'अपने-अपने अजनबी', नागार्जुन-'बाबा बटेसरनाथ' इत्यादि।

व्यक्ति देने के लिए उपन्यासकार ने नायक जैसी भारी-भरकम और शताब्दियों से चली आ रही तथाकथित गरिमामय आभिजात्य परम्परा को नकारा। वहीं मध्य अथवा निम्न-मध्यवर्गीय नायक की परम्परा से हट कर दोनों के एकाधिकार का भी अस्वीकार किया। इसके परिणामस्वरूप औपन्यासिक साहित्य में एक नई 'प्रवृत्ति' का जन्म हुआ जिसे हम नायक विहीन उपन्यासों की परिकल्पना के नाम से अभिहित कर सकते हैं।

वस्तुतः नायक विहीन उपन्यासों की परिकल्पना न तो आकस्मिक है और न ही अस्वाभाविक। इतना अवश्य है कि हम निश्चित रुप से नायक-विहीन उपन्यासों की परिकल्पना के सूत्रपात के बारे में नहीं बता सकते। यह उसी प्रकार कठिन है जैसे गंगा की धारा को देश के गर्म-सर्द इलाकों से निकलते हुए विना छुए यह बताना कि कहाँ से यह धारा ठण्डी है अथवा गर्म। परन्तु छू कर या महसूस कर जैसे इसका समाधान पा लेते हैं वैस ही नायक-विहीन उपन्यासों की परिकल्पना को महसूस किया जा सकता है। परन्तु यह निश्चित है कि उपन्यास-साहित्य के विकास क्रम में नायक की पूर्व अवधारणा कुछ अनजाने ध्रुवों पर आ कर खण्डित हो जाती है। इसी बिन्दु से नायक का ह्रास होता है और नायक-विहीन उपन्यासों की शुरुआत।

नायक-विहीन उपन्यासों की परिकल्पना की प्रवृति को कुछ आलोचकों ने इसलिए महत्व नहीं दिया क्योंकि यह प्रवृति आंशिक हैं, क्योंकि इस प्रवृति के उपन्यास अंगुलियों पर गिनाये जा सकते हैं। वस्तुतः इस प्रकार की घोषणाएँ अपने आप में ही भ्रामक और बेमानी है। इसका दोष हमारा या आलोचक का भी इतना नहीं जितनी हमारी शताब्दियों पुरानी परम्पराओं के प्रभाव का है। हम लोग अपनी पुरानी परम्परा से इस कदर जुड़े हुए हैं, वह इस कदर हमारी नसों में बह रही है कि वस्तु-स्थिति का स्वीकार हम करना चाहते हुए भी नहीं कर सकते या कर पाते। मसलन 'नायक' शब्द इतना समय बीत जाने के पश्चात् आज भी हमें उसी तरह से 'हांट' करता है जिस प्रकार वह अपनी प्रारम्भिक अवस्था में किया करता था। शताब्दियों के बीत जाने के पश्चात् भी हमारे साहित्य में उसका एकाधिकार आज भी उतना ही है। यह एकाधिकार की संकुलता का परिणाम है कि आज जब नायक-विहीन उपन्यासों की परम्परा का अस्तित्व हमारे सामने है, आज जब नायक अपनी पूर्व अवधारणा से हट कर

विघटित रुप में गाँव, शहर, समस्या, समाज आदि अमूर्त आकारों में हो चुका है जिसमें न तो पहले जैसा कोई नायक है और न हीं कोई व्यक्ति इतने सशक्त रुप में उभर कर सामने आया है फिर भी हम अपने पूर्वाग्रह के कारण 'नायक-विहीन उपन्यास' की परिकल्पना को बेमानी माने हुए हैं। यह ठीक है कि इस प्रकार के उपन्यासों में व्यक्ति के स्थान हर शहर, गाँव, समस्या आदि उभर कर सामने आते हैं परन्तु प्रश्न यह है कि क्या हम इन्हें पहले जैसा नायक मान सकते हैं ? यदि इन्सान से हटकर नायक का विघटन इन अमूर्त आकारों में हुआ है, तो भी वह पहले वाले नायक की संज्ञा से अभिहित नहीं किये जा सकते। गाँव, शहर, समाज, समस्या अथवा समय आदि को यदि नायक की संज्ञा देनी ही है तो इसे कुछ दूसरे ही अर्थ देने होंगे। 'नायक' जैसे शब्द को बदलना होगा और उसे सही अभिव्यक्ति देनी होगी। इसे नायक के रुप में पहले की भांति ही संबोधित करना या मानना अपने युग की बौद्धिक माँग को ठुकराने जैसा होगा, अपने समय के समसामयिक पहलुओं से पलायन करना होगा।

सन् 1950 से आज तक के वर्षों में नायक-विहीन उपन्यासों की स्थिति प्राय: इस प्रकार हैं : शिवकुमार मित्र रुद्र 'बहती गंगा' (1952), रेणु 'मैला आँचल', (1954); उदयशंकर भट्ट 'सागर लहरें और मनुष्य' (1956) ; रेणु 'परती परिकथा' (1957), यशपाल 'झूठा सच' (1958), मोहन राकेश 'अंधेरे बन्द कमरे', (1961); राजेन्द्र यादव मन्नू भंडारी 'एक इंच मुस्कान' (1962); अज्ञेय 'अपने-अपने अजनबी' (1963); ऊषा प्रियम्वदा 'पचपन खम्बे लाल दीवारें' (1963), कृष्ण चन्द्र शर्मा 'भिक्खू' 'अस्तंगता' (1966); शरद देवड़ा 'कॉलेज स्ट्रीट के नए मसीहा' (1966); शिवप्रसाद सिंह 'अलग-अलग वैतरणी' (1967); श्रीलाल शुक्ल 'राग दरबारी' (1968); रामदरश मिश्र 'जल टूटता हुआ' (1969); भगवती चरण वर्मा 'सबहिं नचावत राम गोसाईं' (1970) 'बदीउ ज़मा का 'एक चूहे की मौत' (1975), जगदम्बा प्रसाद दीक्षित 'मुर्दाघर' तथा विवेकीराम का 'श्वेत पत्र' (1980) आदि उपन्यास नायक विहीन उपन्यासों की कड़ी के उपन्यास हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से उपन्यास है जो या तो पूर्णतया इस प्रदृति के अंतर्गत आते हैं अथवा उनका झुकाव इस प्रवृत्ति की ओर है। इस प्रकार के उपन्यासों में शरद देवड़ा के उपन्यास 'टूटती इकाइयाँ' राही मासूम रजा का 'आधा गांव' और 'टोपी शुक्ला', रमेश बक्षी का 'चलता हुआ लावा' यशपाल का 'बारह घंटे', रेणु का 'दीर्घतपा 'उषा प्रियम्दा का 'रुकोगी

नहीं राधिका' नरेश मेहता का 'डूबते मस्तूल', आदि उपन्यास गिनाये जा सकते हैं।

नायक विहीन उपन्यासों का विशद वर्णन हमने पांचवें परिच्छेद में किया है। यहाँ इस प्रवृति के उपन्यासों का मोटे रूप में जायजा लेंगे। सन् पचास के पश्चात् शिव प्रसाद मिश्र रुद्र की 'बहती गंगा' इस कड़ी की सबसे सशक्त रचना है। इस उपन्यास ने परम्परिक नायक की अवधारणा का पूर्णतः अन्त कर दिया। इस उपन्यास में परम्परागत नायक जैसी किसी भी चीज़ के दर्शन नहीं होते, केवल बनारस नगरी है जो अपने अन्दर दो सौ वर्षों का इतिहास समेटे हुए है।

इस प्रकार 'रेणु' का 'मैला आंचल', 'परती परिकथा', शिवप्रसाद सिंह का 'अलग-अलग वैतरणी', श्री लाल शुक्ल का 'राग दरबारी', राम दरश मिश्र का 'जल टूटता हुआ', नागार्जुन का 'बाबा बटेसरनाथ', राही मासूम रजा का 'आधा गांव' और 'टोपी शुक्ला' शिव प्रसाद मिश्र का 'मुर्दाघर', बदीउज्ज़मा का 'एक चूहे की मौत' तथा विवेकी राम का 'श्वेत पत्र' आदि उपन्यास अपने-अपने अंचल, परिवेश, धरती, जन-जातियों के जीवन, समुदायों के पारस्परिक सम्बन्धों, समस्याओं और राजनीतिक टेप रिकार्डिंग के अनगिनत सजीव चित्र लिए हुए हैं। इन सभी उपन्यासों में प्रायः अपने विशाल केनवास में क्रमशः शहर और राजनीति, गाँव और समाज इस कदर छा गए हैं कि अनेक पात्रों के होते हुए भी हम किसी एक पात्र पर अंगुली रखकर उसे नायक की संज्ञा से अभिहित नहीं कर सकते।

प्रायः यही स्थिति मोहन राकेश-'अंधेरे बन्द कमरे', राजेन्द्र यादव-मन्नू भण्डारी-'एक इंच मुस्कान', अज्ञेय-'अपने-अपने अजनबी', उदयशंकर भट्ट-'सागर लहरें और मनुष्य', भगवतीचरण वर्मा-'सबहिं नचावत राम गोसाई', यशपाल-'झूठा सच', 'बारह घण्टे', रेणु-'दीर्घतपा', नागार्जुन-'उग्रतारा', उषा प्रियम्वदा-'रुकोगी नहीं राधिका' और नरेश मेहता के 'डूबते मस्तूल' की भी है। इन सभी उपयान्सों में अनेक पात्र हैं, अनेक समस्याएं हैं जो हमारे आज के जीवन से सम्बन्धित हैं और जिनका उतना ही महत्व है जितना कि हमारे जीवन का। 'अंधेरे बन्द कमरे' यदि महानगरीय अकेलेपन और वैवाहिक जीवन के संघर्ष को लिए हुए हैं, 'तो एक इंच मुस्कान', 'बारह घण्टे', 'दीर्घतपा', 'अपने-अपने अजनबी',

'रुकोगी नहीं राधिका' और 'डूबते मस्तूल', आदि में भी यही समस्याएं सैक्स और अर्थ, विवाह और प्रेम, मैं हूं या नहीं हूं (अस्तित्ववादी) आदि रूप में उभरी हैं। यहाँ भी स्थापित होने की, सुरक्षित भविष्य की समस्या है जहां अकेलेपन का डर हमेशा पात्रों को सालता रहता है। 'श्वेत पत्र' राजनीतिक आन्दोलदों को ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में व्यंग्य के आधार पर देखता है।

'सबहिं नचावत राम गोसाईं' में 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' (भगवतीचरण वर्मा) की भांति भारत के राष्ट्रीय वातावरण की उथल-पुथल की दृष्टि से ही अनुवीक्षण मिलता है। इसमें समाविष्ट घटनाओं में किसी भी व्यक्ति का महत्व नहीं। इसमें भारत की स्वतंत्रता से पूर्व और पश्चात् का सम्पूर्ण राजनीतिक परिवेश दिखाने का प्रयत्न किया गया है।

'झूठा सच' विभाजन जैसी विघटन की स्थिति के कोई भी दूरव्यापी परिणाम अपने इतर वृहद उपन्यास में नहीं दिखा पाता। 'सागर लहरें और मनुष्य' मछेरों के सामाजिक जीवन को दर्शाता है 'रत्ना नामक पात्र के माध्यम से लेखकों ने बदलते परिवेश और मूल्यों दर्शाया है। अज्ञेय 'अपने अपने अजनबी' में योके और सेल्मा दो स्त्री पात्रों के माध्यम से अपने दार्शनिक विचारों को जामा पहनाने का प्रयत्न करते हैं। 'दीर्घतपा', 'उग्रतारा', 'पचपन खम्बे लाल दीवारें', 'डूबते मस्तूल' के स्त्री पात्रों को जीवन के मोहभंग के कारण पुनः उसी अकेलापन और अंधकार में लौटना पड़ता है।

इसी प्रकार इन उपन्यासों में पुरुष पात्र के रूप में या तो नायक है ही नहीं यदि है भी ती उन तमाम पात्रों में कोई ऐसा सशक्त पात्र नहीं जिसे नायक की संज्ञा दी जा सके। कुछ उपन्यसाों में स्त्री पात्र अवश्य हैं जो पुरुष पात्रों के अभाव में या पुरुष पात्रों से सशक्त होते हुए नायकत्व गुणों के कारण नायक का स्थान लेने को प्रयत्नशील हैं। वस्तुतः यदि हम परम्परागत दृष्टि से नायक से पुरुष पात्र का ही अर्थ ले तो यह स्त्री पात्र नायक न होकर नायिकाएं ही रह जाती हैं अतः ऐसे उपन्यास जिसमें पुरुष पात्र का अभाव है नायक-विहीन उपन्यासों की कड़ी के अन्तर्गत ही आयेंगे। शरद देवड़ा की रचनाओं में 'कालेज स्ट्रीट के नए मसीहा' आधुनिक भारतीय बीटल्स वर्ग और भूखी पीढ़ी की समस्याओं के साथ नयी पीढ़ी में उभरती हुई समलिंगी रति आदि की प्रवृतियों की ओर इंगित

करता हैं। इन्हीं के उपन्यास 'टूटती इकाइयां' पति-पत्नी अथवा प्रेमी-प्रेमिका के सम्बन्धों का विशद वर्णन नायक की सहायता के विना ही हुआ है।

इस तरह नायक-विहीन उपन्यासों के पात्र कभी तो अपनी कमजोर और पलायनवादी प्रवृत्ति के कारण कभी अपना नायक पद गंवा लेते हैं और कभी परस्पर दो या तीन पात्र इतने सशक्त रूप से उभरते हैं कि उनमें किसी एक को नायक के पद के लिए रेखांकित नहीं किया जा सकता।

निष्कर्ष रूप से हम यही कह सकते हैं कि आज का उपन्यासकार कई प्रकार की कठिनाइयों से गुजर रहा है। समाज के ढाँचे में परिवर्तन इतनी तेजी से हो रहा है कि किसी भी बात को वतलाने के पहले ही वह बात पुरानी हो जाती है यानि कि स्याही सूखने से पहले ही बात पुरानी पड़ जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि किसी भी सम्प्रदाय के छोटे से भाग के लोगों का या अल्प संख्यक लोगों के विचारों को पूर्ण रूप या उनकी माँगों, इच्छाओं को पूर्णता से दर्शाने के लिए अभिव्यक्ति के लिए समय ही नहीं मिल पाता। इन्सान हजारों प्रकार की राय, मार्ग दर्शकों, हुक्मों तथा सम्प्रदायों में इस प्रकार खो जाता है कि उसके बारे में कुछ भी कहना आरोपित-सा लगने लगता है। और इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में नायक की खोज बेमानी सिद्ध हो जाती है।

इस प्रकार आज के उपन्यास में जहां एक ओर कुंठित, निष्क्रिय, मिसफिट अपराधी, आत्महत्या की ओर अग्रसर नायक को जन्मते देखते हैं तो दूसरी ओर अपने सशक्त परिवेश द्वारा सम्पूर्ण जीवन के मृदु-कटु प्रसंगों को लिए गाँव, शहर, समाज, समस्या और समय आदि को सजीव नायक का स्थान लेते हुए भी देखते हैं। हिन्दी उपन्यास में नायक को प्रश्रय देने वाली प्रवृति ने मानव-नियति की अभिशप्तता की ओर इंगित कर नायक के स्वरूप की अस्थिरता को दर्शाया है, वहीं नायक को प्रश्रय देने वाली औपन्यासिक प्रवृति ने नायक के स्वरूप की स्थिरता के लिए प्रयत्न भी किया है।

जहाँ तक पश्चिमी उपन्यास-साहित्य की बात है वहां तो नायक की विदाई निश्चित रूप से हो चुकी है। परन्तु हिन्दी-उपन्यास-साहित्य में नायक की विदाई अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है। या यूं भी कहा जा सकता है कि उसका अस्वीकार अभी आंशिक रूप में हुआ है। इसका महत्त्वपूर्ण कारण नायक का वह

आधार या आलम्बन है जिसके बिना उपन्यासकार कथानक को आगे नहीं ले जा सकता। क्योंकि उसके लिए ऐसा कार्य सहज नहीं है, इसलिए उसको नायक का आश्रय लेकर ही सामाजिक विकास का अध्ययन प्रस्तुत करना पड़ता है। एक बात निश्चित है कि यह नायक पहले वाले नायक की अवधारणा से कोसों दूर हैं। एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि आज के उपन्यास साहित्य में नायक के गरिमामय चरित्र का अंत हो गया है। उसका स्थान आदमी की संगतियों, विसंगतियों और उसके परिवेश की कुरूपताओं, अभद्र स्थितियों, भदेस वातावरणों और निन्दनीय प्रकृतियों ने ले लिया है। आदमी इन्हीं के गवाह के रूप में उपन्यास में आता है और उसका यह आना नायकत्व-भाव का नहीं, वरन नायकत्व के बहिष्कार का है जो विलुप्तिकरण का साक्षी भी है। नायक-विहीन उपन्यासों की परम्परा उसकी पुष्टि करती है।

परिच्छेद 3

आज के हिन्दी उपन्यास में नायक का स्वरूप : क्रमिक अध्ययन (१९५० से १९७० तक)

'मुक्ति पथ' : इलाचन्द्र जोशी

'मुक्ति पथ' (1950) इलाचन्द्र जोशी के अन्य उपन्यासों से हट कर जहां अधिक सरल पात्र लिए हुए हैं, वहीं इसमें परिस्थितियां भी पहले के उपन्यासों से कम उलझी हुई हैं। कथानायक राजीव एक पुराना क्रांतिकारी है, लेकिन अब देश के स्वतंत्र हो जाने पर बेकार है। वर्तमान समाज-व्यवस्था के प्रति असन्तोष, घृणा एंव विद्रोह की भावनाएं उसके मन को प्रबल रूप से अशान्त बनाए हुए हैं। इस अशांत मन:स्थिति की परिणित एक फर्म के संचालक को कम वेतन की नौकरी देने पर पिटाई में होती है। दुनियां इसके लिए ढकोसला है—जनहित, दलितोद्धार, महामानव का विकास, सब मानवता के पंडो द्वारा रचित अत्यंत घृणित ढोंग हैं—सब झूठ है, सब स्वार्थियों के हथकंडे हैं। सब धूर्तता का विश्व-व्यापी चक्रजाल है।[1] अमीर वर्ग खटमलीय (पेरासाइट्स) जाति है, जो दूसरों का शोषण है जिसका ध्वंस करना है। उच्च वर्ग का विध्वंस करने की भावना दिल में ही लिए अपनी वर्तमान स्थिति से मजबूर होकर उसे अपने एक भाई उमा प्रसाद के यहां शरण लेनी पड़ती है। यहां सुनन्दा जैसी विधवा का संसर्ग उसके क्रांतिकारी, विद्रोही रूप को भला लगता है और वह कुछ सरस हो उठता है। यहां तक सुनन्दा की भाभी जब उनके परस्पर आकर्षण को वर्दाशत नहीं कर पाती तब वह असाधारण विद्रोही अपनी भाभी से सुनंदा की ओर से क्षमा

---

1. 'मुक्तिपथ', इलाचन्द्र जोशी, पृ० 5

मांगने में भी नहीं हिचकिचाता। सुनंदा को जब उसका यह क्षमा-प्रार्थी रूप अच्छा नहीं लगता तब वह अपनी कमजोरी स्वीकार करते हुए कहता है—'तुम ठीक कहती हो सुनंदा, इधर कुछ समय से मैं स्वयं यह महसूस करने लगा हूं कि मेरे स्वभाव में किन्हीं कारणों से कायरता आने लगी है। जिस बात को मैं नैतिक और चारित्रिक दृष्टि से उचित और न्याय संगत मानता हूं उसे न तो स्पष्ट कह पाता हूं न उसके अनुसार चल पाता हूं। यह बात सदा मेरे स्वभाव के विपरीत रही। जेल से छूटने के बाद मैं अपने चारों ओर जिन झूठे बंधनों से जकड़ा हुआ पा रहा हूं, वे यद्यपि मकड़ी के जाले से ज्यादा मज़बूत नहीं है, तथापि बड़े चिपचिपे हैं। ये जाले केवल मेरे चारों ओर तने हुए नहीं है, बल्कि जैसे कोई उन्हें मेरे भीतर भी बुनता चला जा रहा हो।'[1] इसमें कोई शक नहीं कि समय और परिस्थिति के अनुसार वह कुछ ढीला, कुछ अवश-सा जरूर होता गया है। परन्तु सुनंदा को अपनी जिस जीवनदायिनी शक्ति से परिचित कराता है और उसे गृहस्थी के संकीर्ण घेरे से निकालकर जिस विराट् विश्व में महाशक्ति की संरचना के लिए प्रेरित करता है, वह शक्ति उसकी स्वयं की न होकर निश्चित रूप से उस पर आरोपित अधिक लगती है। उसका मात्र सुनंदा को ही लेकर एक नव निर्माण 'मुक्ति-निवेश' की स्थापना उसके उस स्वरुप से मेल नहीं खाती।

इसी प्रकार 'मुक्ति-निवेश' में श्रम को महत्व देना उसके प्रगतिशील विचारों को तो दर्शाता है परन्तु एक क्रांतिकारी, विध्वंसक, विद्रोही प्रवृति वाले, आदर्श और समाज को ढकोसला समझने वाले को गांधीवादी, सुधारवादी दृष्टि द्वारा सामूहिक चेतना के प्रतीक के रूप में आदर्श को साकार बनाने के लिये अपने सुख-दुःख की आहुति देने की बात करना उस द्वारा निसृत न होकर उस पर थोपी गयी लगती है। ऐसा नहीं कि उसमें समाज-कल्याण की भावना नहीं, क्रांतिकारी जीवन में उसकी यह प्रवृति अवश्य रही है परन्तु वर्तमान स्थिति में अपनी भयंकर बेरोज़गारी के क्षणों में विराट पुरुष की कल्पना, या मुक्ति पथ की सम-श्रम भावना द्वारा 'मुक्ति-निवेश' की स्थापना करना सर्वोदय की नीति के सन्निकट ही लगता है। या राजीव की तुलना प्रेमचन्द के उन सदनवादी, आश्रम-वासी, नायकों से भी की जा सकती है जो प्रेमचन्द की गांधीवादी, सुधारवादी, विचारधारा से प्रभावित थे।

---

1. 'मुक्ति पथ', इलाचन्द्र जोशी, पृ० 57

वस्तुतः इस प्रकार के नायक स्वयं न चल कर प्रायः लेखकीय विचारों के साथ साथ चलते हैं। यही स्थिति सुनंदा की भी है। सुनंदा को वह अपनी जीवन-दायिनी शक्ति से परिचित कराने के लिए ले तो आता है परन्तु दो साल बाद सुनंदा को उसके आर्दशवाद से गंध आने लगती है। दो साल वह निवेश के कामों में इस प्रकार व्यस्त रहता है कि सुनंदा को वह एकदम भूल जाता है। सुनन्दा इस उपेक्षा को सहन नहीं कर पाती—'उस श्रम का क्या महत्त्व जिसके सुख का अनुभव विश्राम के एकान्त क्षणों में न किया जा सके, उस मुक्ति का क्या मूल्य जो सहस्त्रों वन्धनों के बीच अपना आभास न दे सके।' राजीव प वह आरोप लगाती हुई कहती है—'आपने केवल श्रम को ही स्वीकार किया है मेरे प्राणों को नहीं। .. मैं मनुष्य हूं, राजीव बाबू, कोई यंत्र चलित पुतली नहीं, मैंने सारे पिछले बंधनों को छोड़कर जो आपका साथ दिया था वह केवल इन मूलगत आशा से कि मेरे अंतर्जीवन की अन्तःप्रसारित जलती हुई मरुभूमि को भी आप अंतःप्राणों के अविरल स्नेह-रस से सींच-सींच कर, बाहर की बंजर भूमि की तरह उर्वरा और हरा भरा बना पायेंगे। पर आपको तो केवल मेरे बाहरी जड़ श्रम की आवश्यकता थी, भीतर के स्नेह रस-सिंचित आश्रय को नहीं।...[1] इस प्रकार सुनंदा का मुक्ति-निवेश से अलगाव नायक के आर्दशवाद पर चोट करने की तैयारी मात्र ही अधिक लगता है।

ऐसा लगता है जैसे लेखक ने बौद्धिक पात्रों की परिकल्पना पहले ही बना रखी है और घटनाओं को इसमें फ़िट करना चाहा है। गंगाप्रसाद पाण्डेय के शब्दों में कहें तो 'लेखक का उद्देश्य राजीव के कोरे आर्दशवाद पर आघात करना है, अन्यथा वह सुनन्दा के विद्रोह की चर्चा न करता। अगर राजीव ने आर्दश के साथ जीवन की मोह ममता का भी सामंजस्य कर लिया होता, तो सम्भवतः उसका जीवन अधिक सफल होता। जीवन के किसी भी विद्रोह में ध्वंस और निर्माण की धाराओं के संगम बिना कभी कोई रस प्राप्त नहीं हो सकता, यही इस उपन्यास का उद्देश्य है।[2] इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए नायक का स्वरूप लेखक के आदर्शवाद द्वारा अनजाने ध्रुवों तक खींचा जाता रहा है। इस खींच-तान में नायक लेखक के बौद्धिक विचारों का वाहक बन कर रह गया। 'मुक्ति पथ' की खोज

---

1. 'मुक्तिपथ', इलाचन्द्र जोशी, पृ० 324
2. गंगा प्रसाद पाण्डेय, 'हिन्दी कथा साहित्य', पृ० 134

का समाधान संवेदना के धरातल पर न होकर मात्र वैचारिक धरातल पर होने से आरोपित हो कर रह गया। इसी लिए श्रम द्वारा सामूहिक समाधान का संदेश मानवीय स्थित से सहज निसृत न होकर निष्कर्षवादी अधिक लगता है।

'नदी के द्वीप' : अज्ञेय

'शेखर: एक जीवनी' (1941-44) के पश्चात् 'नदी के द्वीप' (1951) अज्ञेय का दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास है 'शेखर: एक जीवनी' के नायक शेखर का ही अगला रूप इस उपन्यास के नायक भुवन को माना गया है। शेखर अपने विद्रोहशील व्यक्तित्व के विफल होने पर जहां स्वयं को एकाकी समझने लगता है, वहां अपने जीवन को विशादमय भी मान बैठता है। श्रांत और क्लांत होकर 'नदी के द्वीप' में भुवन बन गया है जहाँ इसके विद्रोह के नाखून टूट चुके हैं। इसी लिए इस उपन्यास में वह न तो विद्रोही ही है और न ही विध्वंसक ही। उसका व्यक्तित्व यहां सशक्त न होकर बुझा हुआ है, मंद पड़ गया है। शेखर के स्वरुप-विकास की सम्भावनाएं कुंठित होकर भुवन में जाकर संकुचित हो गयी है। इसी लिए भुवन का स्वरुप शेखर के स्वरुप से भिन्न है। इसी लिए भुवन के बारे में आलोचकों के विभिन्न मत हैं। भगवती चरण उपाध्याय ने भुवन को कामुकता और मैथुन के कारण अश्लील मानते हुए रेखा के काउण्टरपार्ट भुवन के दो पहलू रखे हैं— 'सभ्य और चरित्रवान'। उनके अनुसार भुवन को सर्वत्र वैज्ञानिक बताकर, उसकी कास्मिक रश्मि सम्बन्धी खोजों की ओर संकेत देकर एक स्थल पर भी उसके प्रति उसकी निष्ठा का सही उद्घाटन नहीं है। उसके इष्ट से यत्र-तत्र भुवन के जाने की बात कही गयी है। यत्र सर्वत्र उसे रेखा अथवा गौरा परोक्ष या अपरोक्ष रूप से घेरे घेरे फिरती है।[1] लेखक के कहने मात्र से पाठक को आभास होता है कि भुवन खोजी है, पर कथा के घटना क्रम में उसे कभी उसका ज्ञान नहीं होता। लगता है आरम्भ से अन्त तक वह रेखा तथा गौरा को प्रभावित ही करता रहता है। अनेक बार प्रश्न सामने आता है, भुवन की नियति क्या है—भुवन का उद्देश्य क्या है—रेखा (गौरा) या विज्ञान? और उसका स्वाभाविक निर्णय पहले के पक्ष में होता है। सारे उपन्यास में रेखा के साथ उसकी एकान्त चेतना सजग है— कुर्दसिया बाग में, जमुना के कछार में, नौकुछिया ताल के तट पर, काश्मीर की

---

1. 'सुन्दर पके फल में कीड़े', भगवतशरण उपाध्याय, 'विवेक के रंग', सम्पादक देवी शंकर अवस्थी, पृ० 181

उंचाइयों पर, सर्वत्र कामुक। भुवन उसके अंग-अंग का परिचय पाता है, कोष के समान नारी को खोलता है और उसे लूटता है। वहीं वह उसके गीले पलक चूमता है, कहीं होंठ, कहीं उन्मुख स्तनों के बीच की गहराई।1 रेखा उसकी निश्छल ऋजुता के नीचे इतना भोला, इतना कौतुक प्रिय शिशु-हृदय देखती है, पर वह सब वस्तुत. 'सभ्य चरित्रहीनता' की तैयारी मात्र हैं। उसका रेखा को स्टेशन पहुंचाने आना और सहसा, तथापि स्वाभाविक रूप से, मुरादाबाद, नैनीताल, सप्तताल चला जाना कार्यशून्य व्यक्ति का उपक्रम नहीं है बल्कि नैनीताल और सप्तताल में इसे लूटना अधिक सुविधाजनक है। तुलियन झील के किनारे रेखा को सम्पूर्ण पाकर भी उसका मादक आदिम उष्ण स्पर्श रीयल लगता है और वह भुवन को आत्म-समर्पण कर देती है। रेखा को इस प्रकार पूर्ण में पा कर भी वह उसे छोड़ देता है। वस्तुतः उसका यह आचरण नारी को सम्पूर्ण पाकर उसे ठुकरा देने में है। शेखर यदि शशि पर पूरा अधिकार नहीं पा सका तो भुवन रेखा पर पूरा अधिकार अवश्य पाना चाहता है। भुवन का इष्ट विज्ञान भी है, रेखा-गोरा भी, बौद्धिक विकास भी और काम-तृप्ति भी। वह शोधक भी है और बोधक भी, अनुसन्धान भी है और काव्य भी। डा० मदान के अनुसार शशि और रेखा दोनों ही विवाहिता हैं और विवाहिता पर अधिकार जमाने में अज्ञेय के नायक को विशेष सन्तोष मिलता है। वह नारी पर विजय पाना, और वशीकृत होकर भी नारी के अभिमान को तोड़ना चाहता है। वह एक कवि की कुछ एक पंक्तियों का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि इनके नायक भी प्रायः इसी प्रवृति के हैं—

> तोड़ दूंगा मैं तुम्हारा आज का अभिमान
> तुम हंसो कह दो कि अब उत्सर्ग वर्जित है
> छोड़ दूं कैसे भला जो अभीप्सित है
> कोषवत् सिमटी रहे यह चाहती नारी
> खोल देने लूटने का पुरुष अधिकारी।[2]

यही नहीं, शेखर इस जयमाला को पहनने से वंचित रहा, भुवन उसकी टूटी माला

---

1. 'सुन्दर पके फल में कीड़े', भगवतशरण उपाध्याय, 'विवेक के रंग', सं० देवी शंकर अवस्थी, पृ० 188-189
2. 'आज का हिन्दी उपन्यास', डा० मदान, पृ० 50

को पिरो कर उसे जयमाला बना लेता है तो लगता है डा० मदान सच्चाई के एक आयाम के पास हैं ।[1] वस्तुत: नारी को सम्पूर्ण रूप में पाकर भी वह पलायन करता है जो उसके स्वभाव में शामिल है । रेखा से इस प्रकार भागने में, उसके पात्रों का उत्तर न देने में अपनी उदासीनता की सफाई वह रेखा पर 'अजात' की हत्या का आरोप लगा देता है । उसका यह आचरण रेखा से गौरा की ओर उन्मुख होने के कारण है । डा० मदान के अनुसार रेखा से उसका विवाह की बात चलाना, और गौरा से उसका यह कहना कि विज्ञान से उसकी शादी हो गयी है, उसे फिर और कुछ नहीं सोचना चाहिए, यह सब उसके व्यक्तित्व के अभिन्न अंग हैं जिन्हें हमें स्वीकारना होगा ।[2]

वस्तुत: वह पलायनवादी, कमजोर और भगोड़ा है । लेखक उसे समाज की आंखों से बचाए रखता है, पर प्रकृत्या भी वह एकांतप्रिय है । समाज से टक्कर लेने की बात तो दूर, सामाजिक संघर्ष का संकेत पाकर वह ऐसा भागता है कि पीछे मुड़कर नहीं देखता । रेखा को लेकर वह कई दिनों तक उसके साथ दिल्ली घूमता है । वहां से वह नैनीताल भी जाता है । उसे हर जगह अपने दो के अतिरिक्त किसी तीसरे के अस्तित्व का ध्यान ही नहीं रहता, समाज मानों उसके लिए हो ही नहीं । पर जब नैनीताल के होटल में मैनेजर द्वारा पूछे जाने पर किस नाम से दो कमरे किराये पर लिखे, वह ठिठक जाता है । सब समस्याएं उसकी नज़र के आगे कौंध जाती हैं । वह वहां से भी भाग लेता है ।[3] वस्तुत : सामाजिक संघर्ष को सामने देखकर ही वह रेखा से विवाह के प्रस्ताव की बात करता है । अपनी तृप्ति के पश्चात् रेखा को छोड़कर, गौरा को पाकर भी उसका पलायन नहीं रुकता । इसका कारण कहीं अन्दर से रेखा के साथ उसका जुड़ा होना है और इसी कारण गौरा के सम्मुख वह अपने आप को अपराधी महसूस करता है । अपनी इस अपराध भावना में वह गौरा से मुहोमुंह की स्थिति बर्दाश्त नहीं कर पाता और भाग कर पहले जावा में भटकता रहता है फिर बाद में सेना में भरती होकर उस विरोधाभास की स्थिति में बर्मा चला जाता है । बाद में गौरा के सामने वह स्वयं अपनी इस कमजोरी को स्वीकार भी कर लेता

---

1. 'आज का हिन्दी उपन्यास', डा० मदान, पृ० 50
2. वही, पृ० 50
3. 'नदी के दीप', अज्ञेय, पृ० 163

है, 'गौरा, मैं भाग गया था—तुम से भागा था—पर तुमसे भागने के लिए नहीं —-एक बोझ मुझे दबा लिए जा रहा था।[1] ऐसा कह कर वह अपना भार तो हलका कर लेता है परन्तु इसे पूर्णतया उतार नहीं पाता। रेखा कहीं धुंधले रूप में ही सही पर उस पर छायी जरूर रहती हैं। उसकी पलायन वृत्ति और उसके स्वभाव को लेकर डा० मदान उसका व्यक्तित्व, उसमें बौद्धिकता होते हुए भी, मूलतः रोमांटिक ही मानते हैं। उनके अनुसार उसका स्वरूप अंत में आकर संकुचित और जड़ हो जाता है।[2] नेमिचन्द्र जैन भुवन के व्यक्तित्व को इतना परिपुष्ट और सक्षम् नहीं मानते जितना उनके अनुसार लेखक मानकर चलता है। वह कभी इसे अतिरंजित और आदर्शीकृत पात्र मानते हैं ओर कभी उसमें एक प्रकार से स्वयं लेखक का आत्म-प्रक्षेपण।[3] जबकि यथार्थ में भुवन रोमांटिक व्यक्तित्व का होते हुए अपनी पलायनवादी वृत्ति के कारण, अपने व्यक्तित्व में पूरी न सही आंशिक रूप से अतिरंजित प्रवृत्तियों को लिए हुए अवश्य है। या यूं भी कहा जा सकता है कि उसकी प्रवृति अतिरंजिता की ओर अग्रसर है।

'पथ की खोज' : डा० देवराज

देवराज के उपन्यास 'पथ की खोज' (1951) का नायक चन्द्रनाथ है जो जीवन और साहित्य में आर्दशवादी दृष्टिकोण अपनाये हुये है। उसका स्वरुप विकास उसका आदर्श से यथार्थ की ओर उन्मुख होने में देखा जा सकता है। आदर्श से यथार्थ की ओर ले जाने वालों में साधना, सुशीला और आशालता तीन नारियों के संसर्ग को देखा जा सकता है, जहां उसे घोर मानसिक यातना सहनी पड़ती है। साधना चन्द्रनाथ की पत्नी सुशीला की सहेली है और चन्द्रनाथ के जीवन की साध है। चन्द्रनाथ बौद्धिक युवक है। एम.ए. करने के पश्चात् साहित्य पर विचार भी करता है, और कहानी के रूप में उसे क्रियात्मक रूप भी देता है। वह उनके व्यक्तिगत और समाजगत समस्याओं का समाधान व्यक्तिवादी दृष्टिकोण द्वारा सोचता है। ये समस्यायें हैं, प्रेम, विवाह, वासना, तलाक, धर्म, पार्टीबाजी और अस्तित्व आदि। पत्नी के होते हुए भी वह साधना को प्राप्त करना चाहता है। सुशीला असाहित्यिक है। इसलिए वह अपने पति की रचनाओं की प्रशंसा

---

1. 'नदी के दीप', अज्ञेय, पृ० 163
2. 'आज का हिन्दी उपन्यास', इन्द्रनाथ मदान, पृ० 51
3. 'अधूरे साक्षात्कार', नेमिचन्द्र जैन, पृ० 27

नहीं कर पाती जबकि साधना स्वभाव से ही बौद्धिक तथा साहित्यिक है। पत्नी की असाहित्यिकता जहां उसे अपनी उपेक्षा लगती है, वहीं उसे कटु भी बना देती है। परन्तु साधना का प्रशंसात्मक पत्र उसको किसी अस्पष्ट सुदूर से आया मीठा संदेश लगता है, तब उसकी दुनियां कुछ क्षणों के लिए किसी अज्ञात दिशा में विस्तृत हो जाती है।[1] वह अब मृदु है, उसे अपने अस्तित्व और अपने अहं के बारे में जानने की जिज्ञासा होती है—'क्यों कलाकार को उपेक्षा खलती है? क्यों कोई भी व्यक्ति उपेक्षित नहीं रहना चाहता। हर एक मनुष्य जैसे मानवता के सम्मुख अपने अस्तित्व की सार्थकता सिद्ध करने को व्याकुल है?'[2] वह पत्नी के होते हुए भी स्वयं को अकेला महसूस करता है। वह चाहता है कि उसकी पत्नी साधना की भाँति पढ़े, परन्तु जब ऐसा होना सम्भव नहीं दीखता तो उसका हृदय एक अजब कसैले स्वाद से भर जाता है। अंतश्चेतन में उसकी सोई हुई साध, 'साधना' की प्राप्ति जाग उठती है। यह अवचेतन उभर कर उस समय सामने आता है जब उसकी पत्नी बच्चे को जन्म देने से पूर्व ही मर जाती है। अपनी पत्नी की यह मौत उसे इसलिए रास नहीं आती, क्योंकि वह साधना की शादी के साल बाद मरी है। यदि वह एक साल पहले मर जाती तब···वह शायद साधना को पा सकता।[3] पत्नी उसके लिए महज सद्भावनाओं और सहज द्रवित स्नेह की पिटारी मात्र है जो अवसर होने पर उसे तृप्त कर सके। जो जीवन में उसके साथ नहीं चल सकती। उसका निर्भर स्पर्श क्लोरोफार्म की भांति क्षण भर चेतना को आत्म-विस्तृत रख सकता है, पर उसे सहानुभूति के स्थान से खींचकर पुष्ट और गतिशील नहीं बना सकता।[4] इस सबके लिए उसे साधना जैसी स्त्री की आवश्यकता है जो उसके विचारों पर खरी उतर सके। इसीलिए साधना के पत्र में अपने लिए 'भाई' सम्बोधन पढ़कर वह उसे बर्दाश्त नहीं कर पाता और पत्रोत्तर में लिखता है—'तुम भाई बनाकर हंसी करने का अधिकार क्यों छीन रही हो।'[5] वस्तुतः चन्द्रनाथ कई स्थानों पर साधारण मानव की-सी स्वाभाविकता लिए हुए है। आर्थिक संकट के कारण नागर के इशारों पर चलना और मदन

---

1. 'पथ की खोज', देवराज, पृ० 48
2. 'पथ की खोज', देवराज, पृ० 32
3. वही, पृ० 409
4. वही, पृ० 45
5. वही, पृ० 96

की नौकरी के लिए अपने सहायकों से सिफारिश करना उसके व्यवहार के साधारण पहलू हैं। इसी प्रकार वासना भी उसमें आम साधारण लोगों की भांति ही देखी जा सकती है। वासना को वह सहज समझता है, उसका विरोध उसे अवांछनीय लगता है—'क्या है मनुष्य, कौन है वह, क्यों वह यहाँ आता है? धर्माचार्य कहते हैं कि प्रकृति की इन प्रेरणाओं से लड़ो, उस पर नियन्त्रण करो, उन्हें दबा डालो—जैसे वह भयंकर द्वन्द्व, यह अनावश्यक संघर्ष ही जीवन का एक मात्र ध्येय हो, लक्ष्य हो।—और यदि वासनाओं को दबाना ही उद्दिष्ठ है तो वे हमारे अन्दर आई ही क्यों? क्या उष्णता का दमन या उससे मुक्ति भी आग का लक्ष्य हो सकता है।[1] इस प्रकार वासना को स्वच्छन्द मानते हुए वासना के लिए वह वेश्या के कोठे पर भी जाता है।

इस प्रकार नायक मध्यवर्गीय समाज की मान्यताओं, उसके थोथेपन या खोखलेपन को स्पष्ट करता हुआ नये पथ पर चलने का आग्रह करता है। यह नया पथ वास्तव में यथार्थ से दूर वैचारिक स्तर की खोज का पथ है। इस पथ पर चलने वाले अस्तित्ववाद और मानव की स्वतंत्रता को महत्व देते हैं, जबकि ये दोनों मनुष्य मात्र के पास नहीं है।…'कौन कहता है व्यक्ति स्वतन्त्र है, मनुष्य स्वाधीन है। न जाने वह किन अज्ञात शक्तियों के हाथ की कठपुतली है—न जाने कहाँ से उसकी इच्छायें, उसकी वासनाएँ, उसके जीवन की सबसे प्रबल प्रेरणा निर्धारित होती है।[2] इस प्रकार के अनेक प्रश्न नायक की मानसिक अवस्था को उद्वेलित करते हैं। नायक प्रारम्भ से अन्त तक विश्वास, निराशा, स्वप्न तथा जागरण जीवन के चार चरणों में से गुजरता है जो उसके मानसिक विकास के प्रतीक हैं। यही मानसिक विकास की अवस्थाएँ उससे स्वरूप विकास को भी निर्धारित करती है। विश्वास और निराशा उसके जीवन के दो चरण हैं जहां प्रेम की शक्ति में उसकी दृढ़ आदर्शवादी दृष्टि टूटकर निराशा में परिणत हो जाती है जो आगे जाकर स्वप्न और जागरण (यथार्थवादी दृष्टि) का रूप धारण कर लेती है। साधना से उसका प्रणय-सम्बन्ध टूट चुका है।[3]

इस प्रकार चन्द्रनाथ और साधना के पारस्परिक सम्बन्धों की समस्या को

---

1. 'पथ की खोज', देवराज, पृ० 375
2. वही, पृ० 375
3. 'हिन्दी उपन्यास' डा. सुषमा धवन, पृ० 254

उठाने में आधुनिकता की चुनौती है और और उसके समाधाव के लिए चन्द्रनाथ को नए पथ की खोज में संलग्न होना पड़ा है। इस पथ की खोज में नायक के स्वरूप विकास में कितनी स्वाभाविकता या अस्वाभाविकता आयी है, उसके बारे में धर्मवीर भारती का मत है—'नायक एक बुद्धिजीवी व्यक्ति का सामान्य जीवन व्यतीत कर रहा है। वह न तो स्थापित व्यवस्थाओं को स्वीकार करता है और न ही उन्हें कार्य रूप में अस्वीकार करने का साहस रखता है। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण सैनिक का नहीं, बुद्धिजीवी का है। इसका कारण यह है कि नायक का व्यक्तित्व निष्क्रिय है। 'वह केवल' तटस्थ दर्शक मात्र है, जो उसके जीवन में आ गया सो आ गया, जो चला गया सो चला गया, न उसे बांध रखने के लिए आग्रह है, न किसी को निकाल फेंकने का दर्द-भरा निर्णय। साधना और आशालता जैसे उसके जीवन में आती हैं, चली जाती हैं, और फिर चली आती हैं, उसमें कहीं भी न उनको बुलाने की आतुरता है, न ही उसके अभाव की पीड़ा।[1] इस प्रकार भारती यह भूल जाते हैं कि वह अन्त तक सुशीला को याद करता है और साधना के लिए तड़पता है। और फिर किसी बुद्धिजीवी में साहस की कमी के कारण उसे दोषी नहीं ठहराया जा सकता, जबकि वस्तुत: उसका दोषी लेखक स्वयं है जिस ने अपने विचारों तथा चिंतन की अभिव्यक्ति का माध्यम चन्द्रनाथ को बनाया है। इसी लिए डा० मदान से सहमत होना पड़ता है कि डा० देवराज ने इस उपन्यास में हर पात्र की बौद्धिक परिकल्पना पहले ही बना रखी है और घटनाओं को इसमें फिट करना चाहा है। इसलिए लेखक अपनी कृति पर इतना हावी हो गया है कि इसकी रचना नहीं कर पाया हैं। इसमें जिस परिस्थिति तथा समस्या को उठाया गया है, वह धनी और जटिल है, परन्तु इनकी अभिव्यक्ति उथली तथा कमजोर है।[2] इसका कारण आधुनिकता की चुनौती को संवेदना के धरातल के वजाय वैचारिक स्तर पर आत्मसात करना है।

इस प्रकार लेखक नायक को इस कदर अपने पंजे में कसे हुए है कि उसके वैचारिक स्तर को अभिव्यक्ति देने के लिए उसका अपना स्वरूप अवरूद्ध हो गया है। इसीलिए अन्त में नायक की नियति उसकी नियति न लगकर लेखक द्वारा थोपी गई नियति लगती हैं। जहां नायक मात्र लेखक के सैद्धान्तिक पक्ष को ढो रहा है।

---

1. 'प्रतीक', वर्ष 3, संख्या 11, पृ० 64
2. 'आज का हिन्दी उपन्यास', डा० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 53-54

'बहती गंगा' : शिवप्रसाद मित्र रुद्र

शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' की 'बहती गंगा' (1952) नायक विहीन उपन्यासों की कड़ी की एक सशक्त रचना है। इस उपन्यास का केन्द्रीय विषय काशी नगरी और पात्र हैं इस पर से गुजरी हुई शताब्दियाँ, घटनाएं हैं उन लोगों के जीवन और कृतित्व जिन्होंने इन शताब्दियों के जीवन और समाज की चुनौती को मर्दानगी से स्वीकर किया है।[1] दो सौ वर्षों के समय-प्रवाह के भीतर ये आंचलिक विशेषताएँ सुरक्षित हैं। साथ ही काशी का साहित्यिक माध्यम से एक प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया गया है जिसमें एक से एक सशक्त, सजीव मूर्तियाँ एवं साहिसिक प्रसंग हैं। इनमें विभिन्न वर्गों—राजवर्ग, मध्यवर्ग-निम्नवर्ग-आदि के अनेक पात्र हैं जिनका अपना अपना व्यक्तित्व है।

'बहती गंगा' में सत्रह तरंगे हैं—एक दूसरे से अलग, परस्पर स्वतंत्रा। परन्तु धारा-और तरंग—न्याय से आपस में बंधी हुई भी है। यही नहीं प्रत्येक तरंग का आधार कोई-न-कोई ऐतिहासिक घटना, व्यक्ति, प्रथा या परम्परागत जन श्रुति है। जैसे व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व होता है, उसी प्रकार काशी नगरी की भी अपनी विशेषता है। अद्‌भुत मस्ती, निपट निर्द्वन्द्वता, उत्कट स्वातन्त्रय-प्रेम और परम प्राचीनतावाद उक्त विशेषता के ही अंग हैं। 'बहती गंगा' के समकक्ष 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' के उपन्यास को लिया जा सकता है। जो इसी प्रकार से सात कहानियों को लेकर लिखा गया है। परन्तु इन दोनों उपन्यासों में भारी अन्तर है। 'सूरज का सातवां घोड़ा' में नायक माणिक मुल्ला उपन्यास के विभिन्न प्रसंगों में जहाँ एक सूत्रता लाने का कार्य करता है वहीं 'बहती गंगा' में सत्रह कहानियों में एकसूत्रता स्थापित करने वाला एक भी ऐसा नायक नहीं जो उपन्यास के आरम्भ से अंत तक 'सूरज का सातवां घोड़ा' की भाँति दिखलाई पड़ता हो। यहाँ इतना जरूर हुआ है कि एक कहानी का अगली दूसरी कहानी में विकास होता रहा है। और पहलो कहानी का कोई-न-कोई पात्र दूसरी कहानी का नायक बन जाता रहा है। डा० त्रिभुवन ने ठीक कहा है कि जिस प्रकार समाज में कुछ लोगों की ऐहिक लीला समाप्त होती है और उन्हीं के रक्त और वीर्य से उत्पन्न नयी पीढ़ी की नवीन भूमिका

---

1. 'हिन्दी उपन्यास', शिवनरायण श्रीवास्तव, पृ० 413

आरम्भ होती है जिससे समाज का विकास-क्रम उत्तरोत्तर आगे बढ़ता रहता है, उसी प्रकार 'बहती गंगा' का कथानक उत्तरोत्तर विकसित होता गया हैं।[1]

सौ वर्ष पूर्व काशी निवासियों के सम्बन्ध में पिछली शताब्दी के एक अंग्रेज इतिहासकार ने लिखा है, 'काशी निवासी अभिमानी और दुर्दान्त थे। वे प्राचीन प्रथाओं के प्रेमी थे और नवीनता के प्रति असहनशील। सन् 1851 से पहले तक उन्होंने अपनी प्रथाओं में हस्तक्षेप के सभी प्रयत्नों का सफलतापूर्वक विरोध किया था।[2] इस प्रकार सन् 1750 से सन् 1950 तक अर्थात् दो सौ वर्षों की घटनाओं ने 'बहती गंगा' में प्रतिनिधित्व प्राप्त किया है।

इस उपन्यास में अनेक पात्र हैं जिनका अपना-अपना व्यक्तित्व है। इन्हें बड़े ही सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट स्पर्शों द्वारा रूप दिया गया है और उनमें रंग भरा गया है। प्रत्येक की परिस्थिति भिन्न है, प्रकृति और प्रवृत्ति भिन्न है। किन्तु सहृदयता, उदारता, मस्ती, बेफिक्री, आन, साहस आदि कुछ गुण ऐसे हैं जो भिन्न परिणाम में सबमें वर्तमान हैं। इतना होने पर भी एक बात निश्चित है कि इसमें परम्परागत नायक कोई भी नहीं।

इसकी पहली कहानी राजा बलवन्त सिंह और रानी पन्ना के तनावपूर्ण जीवन की कहानी है। एक ऐसा परिवेश जहां रानी पन्ना कभी सुखी न हो सकी। उसका सारा जीवन रोते झींकते ही निकलता है। यही रोने झींकने वाली रानी पन्ना जब वारेन हैस्टिंगस की एक न चलने देकर उसे काशी से भगा देती है, तो उस पन्ना से एक दूसरीं पन्ना झाँकती दिखती है, जहां उसका शौर्य और समझदारी है।

दूसरी कहानी को जब यही पात्र आगे बढ़ाते हैं तो दाताराम-नागर और भंगड़ भिक्षुक का साहस और शौर्य सामने आता है। अंग्रेज़ों के अत्याचारों से तंग आकर दाताराम नागर और भिक्षुक दिन दहाड़े ही अंग्रेजों का कतल करने लगते हैं। परिणामस्वरूप दाताराम नागर पकड़ लिया जाता है और भिक्षुक की कुटिया को घेर लिया जाता है। अपनी झोंपड़ी में घिरा होने पर मात्र लोटे (बर्तन) से भिक्षुक छः सिपाहियों को मौत के घाट उतार कर ही मरता है।

---

1. 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद', डा० त्रिभुवन सिंह, पृ० 440
2. 'बहती गंगा', शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', पृ० 10

इसी प्रकार तीसरी, चौथी और पाँचवी कहानी से लेकर सत्रह की सत्रह कहानियों के पात्र एक-एक कहानी को आगे बढ़ाते हैं। कहीं दुलारी की मार्मिक कहानी है तो कहीं सुधा, राय साहब और झिंगुर की प्रेम कहानियाँ हैं। यहीं एक ऐतिहासिक कहानी मेजर बकले की भी है। मेजर का अपनी प्रेमिका को लिखा गया पत्र उसके अत्याचारों और क्रूरता की कहानी को खुद ही कहता है—'गदर बिलकुल दबा दिया गया है। अब हम लोग विद्रोहियों को दण्ड देने के बहाने हिन्दुस्तानियों को ऐसी सीख दे रहे हैं कि वे सैकड़ों वर्षों तक सिर न उठा सकेंगे। सचमुच कर्नल नील, बड़ा बहादुर आदमी है। वह जैसा बहादुर है वैसा ही बुद्धिमान। उसने यहाँ सड़क की दोनों पटरियों पर सैकड़ों टाईबर्न (लन्दन में वह स्थान जहाँ उन दिनों मृत्यु-दण्ड प्राप्त अपराधियों की सजा सार्वजनिक रूप से कार्यान्वित की जाती थी) बना दिए हैं, वह अपने साथ फौज और रस्सियों के हजारों टुकड़े ले कर चलता है। सड़क पर जहाँ कोई नेटिव (भारतवासी) दिखाई पड़ा कि फिर उसकी खैर नहीं। वह बूढ़ा हो या जवान, तुरन्त पकड़ लिया जाता है। रस्सी के टुकड़ों से उसके हाथ पीछे बांध दिये जाते हैं और दूसरा टुकड़ा उसके गले में बाँध कर सड़क के किनारे किसी वृक्ष की डाली से उसे लटका देते हैं। यह वस्तुतः मजेदार चीज होती है—ऊपर हवा में पांच मिनट अद्‌भुत नृत्य होता है और नीचे हम लोग 'इन आनर आफ ओल्ड इंगलैण्ड' (प्राचीन इंगलैण्ड की प्रतिष्ठा के लिए) थ्री चीयर्स (तीन बार हर्ष ध्वनियां) देते हैं।' ऐसा नहीं कि भारतीय इन्हें क्षमा कर देते थे, समय मिलते ही वह अपने पुराने सभी हिसाब एक साथ चुका लिया करते थे। बकले के ही शब्दों में, 'जब भूख से व्याकुल कार्पोरल बिलस काशी की चक्करदार गलियों में हलवाई के घर के बाहर पहुंचा, तो हलवाई मिठाई बना रहा था—उसने पैसा निकालने के लिए एक हाथ पैण्ट की जेब में डाला और दूसरा मिठाई पर। बेचारे के दोनों हाथ फंसे थे। इतने में मिठाई वाले ने उसी गरम रस से सने लोहे के औजार को बिलस के सिर पर मारा। बिलस का सिर तो बच गया, परन्तु औजार कनपटी पर पडने से उसका कान कट अवश्य जाता है।'[1] यूं बिलस का तो केवल कान ही कटता है परन्तु मेजर बकले एक रात मुलतानी को फाँसी देने के पश्चात उसी की प्रेतात्मा से डर सदा-सदा के लिए अपने ही अत्याचारों का शिकार हो जाता है।

---

1. 'बहती गंगा', शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' पृ० 75

इसी प्रजार काशी नगरी अलग जाति के रूप में हमारे सामने आती है। यहां न तो कोई मुसलमान है और न ही कोई हिन्दु बल्कि वे सभी काशीवासी हैं जो धर्म की गुहार तथा दोनों की पुकार पर सभी भेद भाव भूल कर जुट पड़ते हैं और अपार शक्ति रखते हुए भी निर्दोष व्यक्ति पर आंख नहीं उठाते। पुरुष ही नहीं, यहाँ की नारियों की मर्दानगी भी किसी से कम नहीं। वस्तुतः इस प्रकार की मर्दानगी अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसा भी नहीं कि उपन्यासकार ने असाधारण स्त्रियों को ही विवेचन के लिए चुना है वल्कि उसने साधारण स्त्रियों में छिपे असाधारण गुणों का उद्घाटन किया है। ऐसी भी नहीं कि प्रेमचन्द के पात्रों की भाँति पतित देवत्व की ओर बढ़ते दिखलाई पड़ते हैं बल्कि अपनी समस्त दुर्बलताओं के साथ बहती गंगा के नर-नारी अपने अपने अलौकिक गुणों के कारण आकर्षण एवं श्रद्धा के केन्द्र बने गए हैं।

प्रेम और प्यार की, शोर्य तथा बलिदान की, घर और बाहर की, गली और मुहल्ले की अनेक कहानियां लिए काशी हमारे सामने सजीव रूप से आती है। इसकी सत्रह कहानियां परस्पर एक सूत्र में इस प्रकार गुंथी है, कि उन में एक परम्परित विकास ने विकसित होकर उसे उपन्यास बना डाला है।[1]

'बलचनमा' : नागार्जुन

नागार्जुन के उपन्यास 'बलचनमा' (1952) का नायक मिथिला के एक गांव का अर्ध-दास खेतीहर मजदूर बलचनमा है। उसका सारा परिवार जमींदार की दया पर आश्रित है। चौदह वर्ष की अवस्था में उस पर पिता का साया नहीं रहा था। घर में माँ, बहन और बूढ़ी दादी के सिवा कोई नहीं। दादी और माँ जव मालकिन की लात खा कर भी उसे ईश्वर, अन्नदाता ही समझती हैं, तो वलचनमा अन्दर ही अन्दर से विक्षुब्ध हो उठता है। बचपन से ही जहां उसने मालिकों का जूठन खाया है, वहां उनकी क्रूरताएं भी देखी हैं। उनकी इन क्रूरत ओं से और मात्र जूठन देने से वह मालिकों को अन्नदाता अथवा ईश्वर कहने से इन्कार कर देता है। इनके प्रति श्रद्धा की जगह उनके हृदय में सदा विद्रोह की चिन्गारियां सुलगती रही हैं। उसे भली प्रकार याद है जव उसके पिता को बाग से दो आम चुराने पर मालिक ने वुरी तरह से पिटवाया था—'मालिक के

1. 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद', डा० त्रिभुवन सिंह, पृ० 441

दरवाजे पर मेरे बाप को एक खंमेली (खम्वा) के सहारे बांध दिया गया। जांघ, चूतर, पीठ और बांहें सभी पर बांस की हरी कैली के निशान उभर आये हैं— और छोटी चौकी पर यमराज की भांति मझले मालिक बैठे हुए हैं।'[1] यही नहीं पिता की मृत्यु के पश्चात जब वह मझले मालिक के यहां भैंसे पालने का काम करने लगा तो वहां भी जूठन के साथ मालकिन की झाड़ ही उसका स्वागत करती। छोटे मालिक के साथ हर तीसरे दिन भारी सामान उठाए ढाई कोस दूर स्टेशन पर जाना पड़ता। गाड़ी चलने पर मालिक दो पैसा उसकी ओर फेंक कर कहते, ले मूढ़ी या चना खरीद लेना, फांकते फांकते घण्टे भर में घर पहुंच जायेगा। उस समय उसका मन करता कि वह उन पैसों को वहीं प्लेटफार्म पर ही छोड़ कर चल दे। परन्तु चने और बीड़ी के ख्याल से वह उन पैसों को न चाहते हुये भी उठा लेता है। किसी तरह लड़खड़ाता हुआ घर पहुंचता और धम से माँ के पास जा गिरता।[2] बेबसी और निरीहता की चरमावस्था तब दिखाई देती है जब पूस-माघ की ठण्डी रातों में वह बकरियों की सूखी मींगनियों को ताप-ताप कर रात निकालते।[3] दादी रात को खेत से सब्जियां चुरा कर लानी और कभी पकड़ी न जाती। इस प्रकार गरीबी. अभाव-ग्रस्त परिवेश और जमींदारों के जुल्म से बलचनमा नास्तिक और कटु हो उठा। बारह वर्ष की किशोर अवस्था में ही जमींदार के द्वारा भगवान की दुहाई दिए जाने पर वह सोचता है 'अच्छा तो भगवान ही करते हैं—चार परानी का परिवार छोड़ कर मेरा बाप मर गया यह भी भगवान ने ठीक ही किया। भूख के मारे दादी और माँ आम की गुठलियों का गुदा चूर-चूर कर फांकती है, यह भी भगवान ठीक ही करते हैं और सरकार आप कनकजीर और तुलसी फ़ूल के खुशबूदार, भात, अरहर की दाल, परबल की तरकारी, घी दही, चटनी खाते हैं, सो भी भगवान की ही लीला है। कलम बाग के लिए आपको हमारा दो कट्टा खेत चाहिए और हमें चाहिए अपने चकोर पेट के लिए मुटठी भर दाना।[4] इस प्रकार वह अपने खेतों को हड़पने की चालें बचपन से ही जानने लगता है। इसी अभावग्रस्त और क्रूर वातावरण में जहां छोटी जात के लोग लात खाकर पवित्र होते हैं नायक के

---

1. 'बलचनामा', नागार्जुन, पृ० 3
2. वही, पृ० 12
3. वही, पृ० 13
4. वही, पृ० 17

स्वरूप-विकास को देखा जा सकता हैं। नायक स्वयं अपने बारे में कहता है, 'इस तरह गालियों, पिटाई, तिरस्कार, अपमान, दुत्कार और फटकार यही वह रास्ता था जिस पर से मेरा जीवन आगे की ओर खिसक रहा था।[1] यही बलचनमा परिस्थितियों के कारण फूल बाबू के साथ पटना पहुँच जाता है। फूल बाबू के कारण वहां गांधीवादी प्रभाव में आने पर हम उसके स्वरूप में निश्चित रूप में गतिशीलता देखते हैं। इन्हीं दिनों वह राधा बाबू, उनकी पत्नी तथा बच्चों के सम्पर्क में भी आता है। वह स्त्री जाति की स्वतंत्रता और प्रभाव की तुलना गांव की अन्य औरतों से करता है जहां जमींदार दो आने में औरत का अस्तित्व लूटते हैं। उसे आश्चर्य होता है वह इतने वर्ष गांव किस प्रकार का जीवन जीता रहा है। यहीं धीरे-धीरे वह कांग्रेस का वालंटियर बन जाता है। यहीं से उसे नया ज्ञान, नयी शिक्षा मिलती है जो निश्चित रूप से गांधीवादी शिक्षा से कुछ भिन्न होती है। इसी शिक्षा के प्रभाव से वह वापिस गांव में आकर जमींदारों के विरुद्ध मोरचा लेता है और किसानों का संगठन बनाता है। यहीं जहां उसकी चेतना का विस्तार होता है वहीं वह अपने अधिकारों के प्रति अधिक जागरुक हो उठता है। उसके मन में बचपन से सुलगती विद्रोह की चिन्गारी अब आग के रूप में प्रकट होती है और वह जमींदारों की नींद हराम कर देता है।

इस प्रकार लेखक का उद्देश्य बलचनमा के जीवन-संघर्ष के चित्रण द्वारा उस समाजवादी चेतना की ओर निर्देश करना है जो साधनहीन एवं वंचित किसान के अन्तर में अन्याय तथा अत्याचार के प्रति विद्रोह की भावना को जन्म देती रही है। इस प्रकार नायक के जीवन में अंगड़ाई और विद्रोह की ज्वलत चेतना का संस्पर्श नागार्जुन के जीवन साम्यवादी दृष्टि को व्यक्त करता है। या यूं भी कहा जा सकता है कि बलचनमा को लेखक ने विभिन्न परिस्थितियों में रखकर तथा भिन्न श्रेणी स्वभाव वाले व्यक्तियों के सम्पंक में लाकर एक विशेष (साम्यवादी) दृष्टिकोण से जमीदारों एव राजनीतिक नेताओं के स्वभाव, संस्कार तथा स्वार्थ-सघर्ष को देखने-दिखाने का प्रयत्न किया है। उसकी दृष्टि अत्यन्त पूर्वाग्रह युक्त एवं व्यंग्यात्मक रही है।

लेखक ने इस प्रकार देहात की सामंती संस्कृति का मल्यांकन सुधारवादी या आदर्शवादी धरातल पर न कर इसकी आलोचना इन समाजवादी शक्तियों के

---

1. 'बलजनमा', नागार्जुन पृ० 14

संदर्भ में की है जो मन्थर गति से उठ रही है। अत: 'गोदान' के मोहभंग को जहां नई दिशा मिली है वहीं आधुनिकता की चुनौती को मार्क्सवादी चिन्तन के संदर्भ में भी स्वीकारने का प्रयत्न हुआ है। 'होरी' भी किसान है और वलचनमा भी। होरी के जीवन के निराशावादी स्तर की परिणति इस प्रकार बलचनमा के जीवन के आशावादी स्तर में सक्रिय नायक (पॉजिटिव हीरो) के रुप में दिखाई गई है।

'सूरज का सातवां घोड़ा' : धर्मवीर भारती

धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवां घोड़ा (1952) उनके पहले उपन्यास 'गुनाहों का देवता' से कहीं अधिक सशक्त है और रुमानी अफलातूनी (प्लाटोनिक प्रेम) के वर्णनों से काफी हट कर है। उपेन्द्रनाथ अश्क के शब्दों में कहें तो इस उपन्यास में नायक माणिक मुल्ला के माध्यम से निम्न मध्यवर्गों युवक-युवतियों की कुण्ठा, उनके खोखले विवाहिक जीवन, भूठे व्याभिचार, झूठी नैतिकता और आध इंच जमी बर्फ की सफेदी के नीचे गंदले पानी की अथाह गहराइयों से यथार्थ के अनजाने तन्तुओं को पकड़ने का प्रयत्न किया गया है।[1] इन्हीं अनजाने तन्तुओं की खोज में लेखक ने एक कहानी में अनेक कहानियों द्वारा ही नहीं अनेक कहानियों में एक कहानी द्वारा भी उन अनजाने ध्रुवों को अभिव्यक्ति दी है। इन अनजाने ध्रुवों को अभिव्यक्ति देने के परिणामस्वरुप निम्नमध्यवर्ग का चित्रण मात्र चित्रण न रहकर उनकी आलोचना भी हो गया है। यही कारण है कि माणिक मुल्ला के हर कहानी सुनाने के बाद का उपदेश डा० मदान को उपदेश न लगकर माणिक की संवेदना का अभिन्न अंग लगते हैं।[2] सारी कहानी सात दोपहरों की कहानी है। प्रत्येक दोपहर को सुनाई गई माणिक की कहानी दूसरों की प्रेम कहानी न होकर स्वयं उसके ही जीवन की विडम्बना और उसके खोखलेपन को उजागर करती है। माणिक का चित्रण एक निम्नवर्ग के भीरु युवक के रूप में बड़ी ही सफाई से हास्य के आवरण में लपेटकर प्रस्तुत किया गया है। माणिक की असफलता उसके प्रेम की असफलता है। ऐसा लगता है मानों 'गुनाहों का देवता' के नायक चन्द्र ने अपनी सुधा से वंचित होकर माणिक का रूप धारण कर लिया है। 'गुनाहों का देवता' के चन्द्र ने विनती की श्रद्धा को ठुकराया था, पापी की

---

1. 'आलोचना', उपेन्द्रनाथ अश्क, 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', जुलाई, 1952, पृ० 105
2. 'आज का हिन्दी उपन्यास', इन्द्रनाथ मदान, पृ० 55

पवित्रता को भ्रष्ट किया था और सुधा के पावन स्नेह का निषेध किया था। माणिक मुल्ला चन्द्र के मानसिक मन्थन से गुजरकर, विविध अनुभूतियों से सम्पन्न होकर अपनी बात कहना चाहता है।[1] उसके जीवन में तीन नारियां आती हैं और तीनों ही अपने आप स्वभाव तथा बोध को लिए हुए हैं। जमुना आधी पढ़ी लिखी तथा कुण्ठित है, लिली भावुक तथा आधुनिक है, सत्ती हाथ से परिश्रम करने वाली स्वाधीन तथा खुले स्वभाव की है। जमुना जो अतीत की प्रतीत है, वे अपनी दमित एवं कुण्ठित भावनाओं के कारण उसे विकृतियों की अंधेरी खाइयों में धकेलती है, लिली जो आज का प्रतिनिधित्व करती है; माणिक को आकाश के रंगीन सपनों में विहार करने की प्रेरणा देती है और सत्ती जो भावी दृष्टि का संकेत है, वह माणिक को धरती पर सहज मानवीय भावनायें जीने को प्रेरित करती है : माणिक जब तीनों नारियों के स्नेह से वंचित होता है तो उसकी मानसिक स्थिति अतिशय दुःखमय हो उठती है जिसका काव्यात्मक चित्रण लेखक ने इन शब्दो में किया है, 'माणिक के गीतों में बेहद करुणा, दर्द और निराशा आ गई और चूंकि इस पीढ़ी के हर व्यक्ति के हृदय में कहीं-न-कहीं माणिक मुल्ला और देवदास दोनों का अंश है, अतः लोग झूम-झूम उठते थे। माणिक ऐसा अनुभव करते थे जैसे वह उड़ते हुए चकोर के पंख हैं जो चांद के पास पहुंचते पहुंचते टूट गए और गिर रहे हैं।'[2] वह जीवन की धारा से कटा हुआ और उदासीन व्यक्ति है। तटस्थ होकर सब पर मीठी चुटकियां लेता है और व्यंग्य उसके लिए असफलता से जूझने और इसे भुलाने का सशक्त माध्यम बन जाता है। वस्तुतः नेमिचन्द्र जैन के अनुसार माणिक के व्यक्तित्व में अन्तर्विरोध है। जमुना और लीला की कथाओं में माणिक के व्यक्तित्व में एक प्रकार की तटस्था रहती है। जैसे वह स्वयं उन परिस्थतियों में अवश-लाचार घिरा हो, उसका अपना कोई निर्णय उनकी अनिवार्य परिणति को बदलने में असमर्थ हो। पर सत्ती के पहले दो प्रसंगों में व्यंजित उसके व्यक्तित्व की निस्संग तेजोमयता सर्वदा नष्ट भ्रष्ट हो जाती है, और अन्ततः उसमें तथा तन्ना महेसर दलाल या चमन ठाकुर में कोई मूलभूत अन्तर नहीं बचता। इस कारण प्रभाव की एकाग्रता और तीव्रता दोनों ही खण्डित हो जाती हैं।[3]

---

1. 'आज का उपन्यास', इन्द्रनाथ मदान, पृ० 54
2. 'सूरज का सातवां घोड़ा,' धर्मवीर भारती, पृ० 155
3. 'अधूरे साक्षात्कार', नेमिचन्द्र जैन, पृ० 121

उपन्यास के अन्तिम अध्याय में एक सपने में विभिन्न कथाएं अचानक ही परस्पर सम्बद्ध हो जाती हैं और माणिक कहते हैं, 'यथार्थ ज़िंदगी के बहुत-से पहलुओं को, बहुत-सी चीजों के आन्तरिक सम्बन्ध को और उनके महत्व को, तुम सपनों में एक ऐसे बिन्दु से खड़े होकर देखोगे जहां से दूसरे नहीं देख पाएंगे।'[1] इस आन्तरिक सम्बन्ध को पहचानने के प्रयास में माणिक मुल्ला कहते हैं, 'देखो, यह कहानियां वास्तव में प्रेम नहीं वरन् उस जिन्दगी का चित्रण है जिसे आज का निम्न मध्यवर्ग जी रहा है। उसमें प्रेम से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया हैं आज का आर्थिक संघर्ष, नैतिक विशृंखलता, और इसीलिए इतना अनाचार, निराशा, कटुता और अन्धेरा चीर कर आगे बढ़ने, समाज व्यवस्था को बदलने और मानवता के सहज मूल्यों को पुनः स्थापित करने की ताकत और प्रेरणा दी है। चाहे उसे आत्मा कह लो चाहे कुछ और। और विश्वास, साहस, सत्य के प्रतिनिष्ठा, उस प्रकाशवाही आत्मा को उसी तरह आगे ले चलते है जैसे सात घोड़े सूर्य को आगे बढ़ा ले चलते हैं।' माणिक मुल्ला यह भी कहते हैं कि 'यद्यपि बाकी छह घोड़े दुर्बल, रक्तहीन और विकलांग है या सातवां घोड़ा (जो भविष्य का घोड़ा है) तेजस्वी और शौर्यवान है और हमें अपना ध्यान और अपनी आस्था उसी पर रखनी चाहिए।'[2] यह उपदेश देने के बाद नायक अन्त में समाज के खोखलेपन की दो टूक बात करता हुआ कहता है, 'हमारी ज़िंदगी में जरा-सा परत उखाड़ कर देखो तो हर तरफ इतनी गन्दगी और कीचड़ छिपा हुआ है कि सचमुच उस पर रोना आता है, लेकिन मैं तो इतना रो चुका हूं कि अब आंख में आंसू आता ही नहीं, अतः लाचार होकर हंसना पड़ता है। जो लोग भावुक होते है और सिर्फ रोते हैं, वे रो धो कर रह जाते हैं। पर जो लोग हंसना सीख लेते हैं वह कभी कभी हंसते हंसते ज़िंदगी बदल भी डालते हैं।'[3] डा० मदान के शब्दों में 'मोहभंग की अनुभूति की अभिव्यक्ति उपन्यास पर आरोपित न होकर इससे निस्सृत है, उपदेश या सन्देश न होकर माणिक की संवेदना का अभिन्न अंग हैं। परन्तु आशा और आस्था का यह आरोप 'सूरज का सातवां घोड़ा' उपन्यास के मूल से कटा होने के कारण निष्कर्षवादी अधिक है, जो कथा में प्रस्तुत मानवीय स्थिति से सहज निःसृत नहीं हैं।'

---

1. 'सूरज का सातवां घोड़ा', धर्मवीर भारती, पृ० 123
2. वही, पृ० 126
3. वही, पृ० 41

'मैला आंचल' : नागार्जुन

सन् 1955 में रेणु का 'मैला आंचल' औपन्यासिक क्षेत्र में नए अंचल को लेकर आता है। वस्तुतः यह उपन्यास नायक-विहीन उपयासों की कड़ी की सबसे अधिक सशक्त रचना है। इस उपन्यास का केन्द्रीय विषय वे परिवर्तनशील सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थतियाँ हैं, जिनका रेणु ने यथार्थ दृष्टि से चित्रण किया है। उनका यह यथार्थं चित्रण इतना सजीव एवं स्वभाविक है कि आंखों के सामने एक गाँव का जीवन समूचा तैर जाता है। नेमिचन्द्र जैन के शब्दों में अधिक स्पष्ट ढंग से इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि इसमें मिथिला के निरन्तर बदलते हुए आज के एक गाँव की आत्मा की गाथा है जो सदियों से सोते-सोते अब जाग कर अंगड़ाई ले रहा है।[1] यह अंगड़ाई उस बदलते हुए परिवेश का संकेत है जो शहरी आधुनिकता से जुड़ कर अपनी जड़ता खोने लगा है। इस जड़ता को तोड़ने में जितना मलेरिया सैंटर और अन्य सैंटरों का हाथ है उतना ही अनेक नए राजनीतिक मतवादों का भी हाथ है जिन्होंने इस उपेक्षित गाँव के जड़-जीवन को विक्षुब्ध कर दिया है। अपने परम्परागत मूल्यों को ठोकर लगती देख कर कई तिलमिला उठते हैं और कुछ नए से समझौता कर लेते हैं। तब पुराने सम्बन्ध टूटने लगते हैं और नए सम्बन्ध अनेक ध्रुवों को आकर्षित करते हैं। इस बनने और टूटने की संक्रातिकालीन (ट्रांजीशन) अवस्था में जो कशमकश चल रही है, उस पर रेणु की गहरी पकड़ है। क्योंकि रेणु ने इस उपन्यास में आधुनिकता की चुनौती को समष्टि सत्य के आधार पर आंका है इस लिए इस उपन्यास की उपलब्धि समूहगत समस्याओं के सफल या असफल चित्रांकन में ही आंकी जा सकती है। यह कहना कि इसमें होरी या शेखर जैसे नायकों का अभाव है, या इसमें पात्रों का व्यक्तित्व क्षीण क्यों है, अपने आप में बेमानी और आरोपित दृष्टि का परिणाम है। वहां रेणु के रचना के उद्देश्य को भुला दिया गया है। वस्तुतः रेणु की सृजन-प्रक्रिया का यह गन्तव्य ही नहीं। उनका गन्तव्य तो परती की खोज है जिसका चित्रण निश्चित रूप में इनकी रचना प्रक्रिया में समाया हुआ है। जिसे इनकी उपलब्धि ही कहा जा सकता है। यह पहले ही संकेतित कर दिया गया है कि यह रचना नायक विहीन है और यदि कोई केन्द्रीय विषय हो सकता है, तो वह इस उपन्यास की

---

1. 'विवेक के रंग', नेमिचन्द्र जैन, पृ॰ 207-208

वे बदलती हुई सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितियाँ ही हैं जिनके माध्यम से गाँव और परती की कथा कही गयी है। इस परती की खोज में डा० मदान के अनुसार रेणु ने टेप शैली को अपनाया है जो कहीं-कही असंतुलित होती गई है। उनका यह कहना भी ठीक है कि हर साहित्यिक विधा की अपनी लय होती है; एक ही लय को जब दूसरी विधा की लय पर आरोपित किया जाता है तब परिणाम 'मैला आंचल' होता है।[1] यही नहीं रेणु की शैली जहां असंतुलित हुई हैं वहां इनकी रचना में दरारें भी पड़ी हैं जिन्हें इनकी रचना प्रक्रिया में देखा जा सकता है।

बिहार के पास मेरीगंज एक छोटा-सा गाँव है। इसमें तीन जातियां कायस्थ, राजपूत और यादव रहती हैं, जो परस्पर लड़ती झगड़ती रहती हैं। गाँव का ज़मीदार है विश्व नाथ प्रसाद जिसका रौब गाँव वाले मानते हैं। सारे गाँव में कुल दस व्यक्ति शिक्षित हैं और पढ़ने वालों की संख्या पन्द्रह है। यादव टोली का बलदेव सुराजी माना जाता है। वह गाँव में राष्ट्रीय चेतना का प्रतीक है। सेवादास मठ के महंत है और रामदास उनका चेला है जो महन्त के बाद इस पद पर आसीन होता है। कोठारिन लक्ष्मी मठ में दासी का काम करती है और महन्त सेवादास की सब तरह से सेवा करती है। महन्त सूरदास होकर भी लक्ष्मी के यौवन के लिए लालायित है। लक्ष्मी की रग-रग में साधु स्वभाव, शुद्धाचार, पावन-विचार और नियम धरम रंगे हुए हैं। लक्ष्मी बालदेव को कंठी पहना कर मठ का महन्त और अपने हृदय का हार बनाना चाहती है। बालदेव के लिए लक्ष्मी की पोथी जिसे उसने अपनी अंगुलियों से छुआ है बीजक की तरह सुगन्ध देती है और इस सुगन्धी में मादकता भी है। लक्ष्मी को देखने से ही बालदेव का अन्तःकरण पवित्र हो जाता है। बीजक की सुगन्ध पर वह कहता है—

—पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय,
ढाई आखर प्रेम का पढ़ा सो पंडित होय।[2]

उपन्यास में इस प्रकार की मीठी-मीठी चुटकियां इसे व्यंग्य के स्तर पर उठा देते हैं। गांव के अधूरेपन को पूरा करने वाला ज्योतिषी है जिसे जोतकी

---

1. 'आज का हिन्दी उपन्यास', इन्द्रनाथ मदान, पृ० 63
2. 'मैला आँचल', फणीश्वरनाथ रेणु, पृ० 62

कह कर पुकारा जाता है। वह देहाती जीवन के सम्बन्ध में समय-समय पर भविष्यवाणी करता रहता है। अंधविश्वासों से घिरे हुए जीवन को संचालित करने वाला जोतकी देहात में विशेष महत्व रखता है।

मेरीगंज में मलेरिया सैन्टर के स्थापित हो जाने पर डाक्टर प्रशान्त कुमार का आगमन गांव में 'औतार' के रूप में होता है, डाक्टर के साथ आने वाला उसका पुराना नौकर प्यारू' गाँव के जीवन का अभिन्न अंग बन जाता है। यहीं डाक्टर प्रशांत और गांव के जमीदार की लड़की कमला के प्रेम और बलिदान की छोटी-सी कहानी है। कमला हिस्टीरिया रोग से पीड़ित है और डाक्टर से प्रेम करती है। यह वह बर्दाश्त नहीं कर सकती कि डाक्टर किसी अन्य को भी इस प्रकार की मीठी दवा दे। वह रोज उसे अनभेजा पत्र लिखती है और स्वयं ही उसे पढ़ कर तृप्त हो लेती है। डाक्टर प्रशान्त खुद अपने माँ बाप को नहीं जानते। उसने सुना है उनका पालन-पोषण एक बंगालिन डाक्टरनी ने किया है। जन्म देते ही उसकी मां उसे कोसी नदी के प्रवाह में छोड़ गई थी। वह हाथ लगा उपाध्याय परिवार के। उपाध्याय परिवार नेपाल से निष्कासित था, भारतीय नेताओं की सहायता के करने के दोष में। यह परिवार सरहद के बाहर एक आश्रम में रहता था। जहाँ एक दुखिया स्नेहमयी भी रहती थी जिसने बाद में जाकर इसका पालन-पोषण किया। कोसी नदी में मिट्टी की हांडी में उसके पाये जाने की बात घर की नौकरानी, बाग का माली और पड़ोस का हलवाई भी जानते हैं। जब लोग प्रशान्त की तरफ आश्चर्य तथा करुणा से देखते हैं तो वह स्वयं को एक लावारिस लाश के सिवाय कुछ नहीं समझता।[1] वह स्नेहमयी फिर जल्द ही काशी प्रवाह करते समय काशी की गलियों में सदा के लिये खो गई। प्रशान्त अकेला बंगालिन डाक्टरिन के सहारे पढ़ लिख कर डाक्टर प्रशान्त कहलाया। वही प्रशांत मेरीगंज में मलेरिया फैलने पर अपनी डिग्री को ताक पर रख कर हजारों गाँव वालों को मौत के चंगुल से बचाने के लिये आ डटा। मेरीगंज में उसकी खोजें मलेरिया उन्मूलन में सहायक होती हैं। डाक्टर लोगों को जीवनदान देता है क्योंकि उस वर्ष हैजा और मलेरिया से बहुत कम मौते हो पाती हैं। बेशक मलेरिया उस गाँव में नहीं फैल पाता परन्तु कमला के पेट में प्रशांत के प्यार की निशानी की बात कमला के मां

---

1. वही, पृ० 64

बाप में अवश्य फैल जाती है। डाक्टर सोशलिस्ट होने के संदेह में जेल चला जाता है, जेल से लौट कर कमला से शादी करता है और ज़मीदार का घर जमाई बन जाता है।

इस रोमांटिक प्रसंग के अतिरिक्त उपन्यास में विभिन्न राजनीतिक दलों के स्वर भी गूंजते हैं। बावन दास महात्मा गाँधी का भक्त है। कालीचरण सोशलिस्ट है। गाँव के दोनों नेताओं का अन्त मार्मिक है। कालीचरण गांव को अन्याय से बचाने के लिए खुद अन्याय का शिकार हो जाता है। बावनदास गाँधी के लिखे पत्रों को छिपाकर उसका लाभ उठाना चाहता है और भारत पाकिस्तान विभाजन से अप्रसन्न होकर भारत-पाक सीमा पर गाड़ी के नीचे आकर अपने प्राण दे देता है। वस्तुतः सन् 42 से लेकर गाँधी के निधन तक भारत के राजनीतिक जीवन का व्यंग्यात्मक चित्रण इस अंचल विशेष के माध्यम से किया गया है। व्यंग्य के मूल में लेखक का मानवतावादी दृष्टिकोण है। स्पष्ट कहें तो डा० मदान के शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि राजनीतिक मतवादों से दामन बचा कर रेणु मानव कल्याण और विकास को निरूपित करना चाहते हैं।[1] इसका परिचय उन व्यंग्यों से मिलता है जिन्हें राजनीतिक दलों पर कसा गया हैं। उदाहरण के लिए श्री चीन्कारी सम्पादक महोदय लक्ष्मी के अतिथि सत्कार, से प्रभावित होकर उस पर एक छन्द की रचना इस प्रकार करते हैं, 'ओ महान मार्क्स के दर्शन की दर्शिका, सुदर्शने प्रियदर्शिनी—तुम स्वयं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की सिंथसीस हो।'[1] इसी प्रकार लाल रंग की टोपी पर (कम्युनिस्ट) काली रंग की टोपी पर (जनसंघ) भी उसका व्यंग्य मुखरित हुआ है। सोशलिस्ट दल के वासुदेव द्वारा जनसँघ की बौद्धिक क्लास को वुद्ध क्लास और कांग्रेस के तिरंगे झण्डे को खिचड़ी पार्टी का तिरंगा झण्डा कहलवा कर गाँव की सामयिक राजनीति पर करारी चोट की है।

इस उपन्यास का मूल उद्देश्य इन शब्दों में ध्वनित होता है 'लेबोरेटरी...। विशाल प्रयोगशाला ऊंची दीवारों में बन्द प्रयोगशाला।...साम्राज्य लोभी शासकों की संगरिन के साये में वैज्ञानिकों के दल खोज रहे हैं, प्रयोग कर रहे हैं, ...मारात्मक, विध्वंसक और सर्वनाश की शक्तियों के सम्मिश्रण से एक ऐसे 'बम' की रचना हो रही है जो सारी पृथ्वी को हवा के रूप में परिणत कर देगा....

---

1. 'आज का हिन्दी उपन्यास', डा. इन्द्रनाथ मदान, पृ० 63

ऐटम 'ब्रेक' कर रहा है। ..मकड़ी के जाल की तरह...। चारों ओर एक महा-अन्धकार। सब वाष्प। प्रकृति-पुरुष-अण्ड-पिण्ड। मिट्टी और मनुष्य के शुभ चिंतकों की टोली अंधेरे में टटोल रही है। अंधेरे में वे आपस में टकराते हैं।... वेदांत ..भौतिकवाद सापेक्षवाद...मानवतावाद...। हिंसा से जर्जर प्रकृति रो रही है। व्याघ के तीर से जख्मी हिरण-शावक-सी मानवता को पनाह कहाँ मिले। यह अंधेरा नहीं रहेगा। मानवता के पुजारियों की सम्मिलित वाणी गूंजती है, पवित्र वाणी। उन्हें प्रकाश मिल गया है।...प्रेम और अहिंसा की साधना सफल हो चुकी है। फिर कैसा भय ? बिधाता की सृष्टि में मानव ही सब से बढ़कर शक्तिशाली है।'[1] इस तरह मानव की शक्ति को अजेय बताया गया है। स्नेहभरी ममता से प्रभावित होकर महात्मा गांधी की अन्तिम कामना को साकार रूप देने के लिए डॉक्टर प्रशान्त भारत माँ के निकट, धूल भरे अंचल की छाया में मानव की साधना का व्रत लेते हैं। इस साधना में मानवता के स्वर का गुंजन है। डॉक्टर प्रशान्त का व्यत्तित्व प्रेमचन्द के आदर्श मूलक नायक के सांचे में ढला हुआ है जो अस्वाभाविक स्वरूप की ओर इंगित करता है। प्रेमचन्द के समस्या-मूलक उपन्यासों की भाँति यह भी समूचे गांव की समस्याओं को लेकर चलता है। गाँव के रोग, विपन्नता और अज्ञान को दूर करने की चिंता इसमें व्यक्त है। इस चिंता और चिंतन में लेखक की समाज मंगल की दृष्टि लक्षित होती है।

इस प्रकार इस उपन्यास में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात ही गाँव की राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों एवं परिवर्तनशील प्रवृत्तियों का रेणु ने अत्यन्त यथार्थता से चित्रण किया है, और अत्यन्त कलात्मक प्रौढ़ता से मेरीगंज की कथा को बिहार राज्य की सीमाओं से निकाल कर सम्पूर्ण भारतीय भूमि के व्यापक परिवेश में बाँध दिया है। राजनीतिक दलों, मठों, संतों, ग्रामीणों, व्यक्ति के स्वार्थ, लोभ, दमित वासना एवं पाप का रेणु ने विषद पृष्ठभूमि पर यथार्थ चित्रण किया है। उन्होंने राजनीतिक दलों एवं व्यक्तियों के साथ गाँव को आवरणहीन करने का सफल प्रयत्न किया है, परन्तु उसमें विराट मानवतावादी चिंतन के परिणामस्वरूप प्राप्त करने वाले शाश्वत सत्य की कोई स्थापना नहीं हो पायी। उनका समाधान यांत्रिक होकर रह गया है क्योंकि वह युग बोध के यथार्थ स्तर पर नहीं उतरता।

---

1. 'मैला आंचल', फणीश्वरनाथ रेणु, पृ० 406

'चाँदनी के खण्डहर' : गिरिधर गोपाल

गिरिधर गोपाल का लघु उपन्यास 'चाँदनी के खण्डहर (1955) वर्तमान मध्यवर्गीय परिवार की एक दिन की जिन्दगी के चित्रण को लिए हुए है। आकाश से लिए गये धरती के किसी भाग की फोटो के समान (ऐरियल व्यू) इसमें जिस जिन्दगी का वर्णन है, वह मध्यवर्ग की स्थिति, भावनाओं, कुण्ठाओं, संघर्षों, आशाओं, निराशाओं, स्वप्नों, आदर्शों और इन सबके बीच छटपटाती आत्माओं का क्रन्दन और विद्रोह को लिए हुए हैं। एक ऐसा घर जहाँ धुएँ की गहरी पर्तें छा गयी हैं। जहाँ मौत के मौन साये अपने शिकार की तलाश में दीवारों पर मंडराते रहते हैं। स्नेह और सजलता का स्थान जहाँ चीत्कार, गाली-गलोच, और थप्पड़ों ने ले लिया है। वहीं लाचारी और बेबसी ने उन सब को जड़ भी बना दिया है। जड़ता धीरे-धीरे आत्महत्या की ओर अन्मुख हो रही है। सारे का सारा मकान जहाँ खण्डहर बनकर रह गया है, प्लास्टर और रंग विहीन, लंगड़ा-सा बैसाखियों के सहारे चलता हुआ। धर के जालों में और गंदी नाली में जहाँ मौत के बिलबिलाते कीड़े पड़ रहे हों, जहां एक स्वस्थ्य घर को टी०बी० जैसी घातक बीमारी ने पकड़ लिया हो, वहाँ स्वस्थ्य और सुरक्षित भविष्य की कल्पना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाती है। असुरक्षा ने जहां सारे परिवार वालों को तोड़ दिया है। आर्थिक स्थिति के कारण जहां मात्र खण्डित व्यक्तित्व हो और जीवन के प्रति अनास्था ही अनास्था उसी परिवेश में पांच वर्ष पश्चात् विलायत से डाक्टरी पास कर जब बसन्त (नायक) वापिस आता है तो उसे विश्वास ही नहीं होता कि उसका पहले वाला भरा-पूरा घर है। इस विशाक्त परिवेश के कारण नायक चिन्तित है और जानना चाहता है कि ऐसा क्यों हुआ ? इस क्यों को बताने के लिए पूरे चौबीस घण्टों को लिया गया है, यानी पूरा एक दिन और रात। इस सीमित अवधि के अन्दर ही अन्दर सारी कहानी पूरी हो जाती है और नायक अपने प्रश्नों का उत्तर पा लेता है।

विलायत से वापिस आने पर विगत जीवन की मीठी किन्तु बचकानी स्मृतियों, वर्तमान और अस्पष्ट, उल्लास भरी अनुभूतियों और भविष्य की अनिश्चित और अनगढ़ सपनों के स्थान पर, स्नेह प्रेम और सजलता के स्थान पर मौत के मौन साये उनका स्वागत करते हैं। नायक का स्वरूप इन सम्पूर्ण अनुभूतियों और उसके संघर्षरत जीवन के प्रति रवैये को लेकर देखा जा सकता

है। बचपन से लाड़ प्यार से पला लंदन जैसे शहरों की रंगीनी जिन्दगी जी कर आया हुआ सुकोमल बसंत दुख में हंसने हंसाने वाला बसंत अपने बदले घर और प्राणियों के क्रंदन पर रो उठता है। उसका हृदय फटने को होने लगता है। कई बार थूक फैंक कर वह अपनी थूक टटोलता है। कहीं उसने खून के लाल चकते तो नहीं। गीली आंखों को पोंछते हुए बार-बार उसकी दृष्टि घर वालों के मौन और जड़ चेहरों से टकरा कर लौट आती है। उसकी स्नेहशीला भाभी—काम करते-करते सूख कर काँटा हो गई है। वही भाभी जो कभी बिल्कुल भरी-सी लगती थी। शादी के पश्चात् पहली बार घर आने पर उसे घर का काम नहीं करने दिया जाता था ताकि उसका गोरापन धुएँ में काला न पड़ जाये। मंझले कद की दुबली-पतली पर स्वस्थ, कुंदनी रंग, लाल गाल, झुक-झुक पड़ती पलकें ओटों में बलात् रोक रखी गई मुस्कान।[1] उसी भाभी की मुस्कान आज कहाँ खो गयी। वे रुप रंग न जाने कहां खो गया। उसकी छोटी बहन वीना खून थूकने लगी है। बीना उसे 'फुटपाथ पर पड़ी पत्तियों की तरह लगती है। सिकुड़े शरीर वाली, दुबले हाथ-पैर, लम्बी गर्दन, पर टिका-सा मुख। सूखे पतले ओंठ, गालों पर झुर्रियां, आँखें जैसे गढ़े में रुका गंदला बरसाती पानी। जर्जर खोखली बीना। थूक के साथ जीवन निकला जा रहा है उसका। सफेद मुर्दा होती जा रही है। और बसन्त उसे देखकर सिहर जाता है, डर जाता है। पहले तो बीना भी ऐसी नही थी। गोरैया की तरह घर में उछला कूदा करती थी। कभी भाभी की चोटी खींचकर भागती, तो कभी अम्मा की माला छिपा देती। भैया की आंखें पीछे से जाकर बन्द कर उन्हें परेशान करने वाली, वह उसकी गुड़िया, घर भर की गुड़िया कहां खो गयी। छोटा भाई राजू फटे पैंट और फटे जूते पहन स्कूल जाता है। गंदे कपड़ों और कम किताबों के साथ वह अपने भविष्य को कैसे संवारेगा। फीस तक के पैसे उसे नहीं मिलते। और स्कूल न जाने पर गालियाँ और थप्पड़ उसका स्वागत करते हैं। यही नहीं, आठ साल की बहन वीणा गुड्डे गुडियो को खिलाने और अपने साथ की बच्चियों से खेलना भूलकर दिन भर घर के काम-काज में पिसी जा रही है। नन्हें कंवर भी अत्यन्त अपेक्षित जीवन बिताता हुआ बचपन के सहज भोले मन से वंचित होता चला जा रहा है। उसके पास भी तो एक कच्छा है और फटी बनियान। उसे अभी अपने होने तक का अहसास नहीं। कर्मठ पिता बच्चों की तरह भावुक हो गये हैं। जरा-जरा सी

1. 'चाँदनी के खण्डहर', गिरिधर गोपाल, पृ० 199

बात पर रो देते हैं। उसे जीवन का सबक देने वाले घर और स्कूल में मास्टरी करने वाले उनके पिता सदा घर को पूर्णता देने वाले आज स्वयं बेबस और अपूर्ण हो गये हैं। वस्तुतः उनका व्यवहार ऐसा था कि हम कभी यह अनुभव नहीं करते थे कि वे हमारे पिता हैं और हम उनके पुत्र। वे एक बड़े मित्र के रूप में हमारे जीवन में आये। हंसना, बोलना, खेलना, कूदना, मजाक, मनोरंजन यानी हर क्षेत्र में वे हमारी उम्र के होकर हमारे साथ रहते थे।[1] वही आज डाक्टर द्वारा चारपायी पर बाँध दिये जाने पर नौकरी जबरदस्ती छुड़वा दिये जाने पर बेबस और लाचार होकर 'पैसे-पैसे के मोहताज होकर बच्चों की तरह रो देते हैं।'[2] यही नहीं, बड़े-बड़े संकटों में भी प्रसन्न रहने वाली मां के चेहरे की हंसी जैसे सदा के लिए छिन गयी है, दुबली पतली नाटे कद की छोटी सी गौरी-गौरी अम्माँ। मुख पर कोमलता, आँखों में गम्भीरता और बातों में सयानापन लिए रहने वाली अम्मा। घर भर में हर एक का ध्यान रखने वाली अम्मा अब न जाने कहां खो गयी।[3] उसके स्थान पर घर से बेपरवाह, बेबस अम्मा अपने को पत्थर बनाती जा रही है। जिसका परिणाम मौन आत्म हत्या होगा। और चिरस्नेही भैया या तो अपने भीतर खोये-खोये से लगते हैं या बात-बात पर चीखते रहते हैं। घर में सबसे अलग, जैसे परदेस में रह रहे हों। दुबले-पतले, जर्जर चूर। झुकी कमर, आँखों में झाँकता बुढ़ापा, क्या वही भैया हैं। जिन पर उन्हें कभी गर्व होता था, उनकी छाती फूल जाती थी। मांस पेशियों से भरा लम्बा, तगड़ा कसरती बदन, चौड़ी कलाई, उन्मत ललाट, घुंघराले बाल, मन का बोझ भी पीठ पर लाद दो तो आह नहीं करने वाले भैया कहां गये। और कंतो उसकी प्रेयसी उसकी याद में वचनबद्ध घर में अजनबी और कैदी बनकर रह गयी। पांच वर्ष की लम्बी अवधि के पश्चात् वह रुखी और विद्रोही बन गयी। अब भी वह यद्यपि उससे पहले की तरह छेड़-छाड़ की बातें करती है तथापि उस खेलवाड़ के झीने परदे के भीतर उसका कांटों से विंधा हृदय साफ दिखाई देता है। नायक दिनभर में सब कुछ देखता है, सब कुछ करता है, सबसे मिलता है, पुरानी स्मृतियों को ताजा करता है और फिर रात में अपने उस चिरप्रिय घर के अंधकार के भीतर बंद हो जाता है। जो अब मौत का कुआँ

1. 'चाँदनी के खण्डहर', गिरिधर गोपाल, पृ० 123
2. वही, पृ० 124
3. वही, पृ० 127

बना हुआ है।[1] घर के इस विशाक्त परिवेश का और हर वस्तु और व्यक्ति के बदले हुए पाने का उत्तर यही मिलता है। उसकी दृष्टि चौड़ी होकर स्थिर हो जाती है। भयानक तूफान का झोंका उसके अन्तर को बुरी तरह झकझोर देता है। उसका आत्म-विश्वास डगमगाने लगता है। उसकी पांच साल क। पढ़ाई का खर्च जुटाने में उसका सारा परिवार टूटा है, उसका घर खण्डहर हुआ है, इसे वह भली भांति जान लेता है। वह स्वयं को इसका दोषी ठहराने लगता है। उसके मन में अनुताप की भावना सुलगने लगती है। वह चाहता है कि घर भर को पुनः हरा-भरा कर दे। इसे यह भी निश्चित होता है कि घर वालों की दृष्टि अब उसी ओर है। उसे ही घर वालों की खण्डित व्यक्तित्व को संभालना है। उसे ही कंतों की कमजोर भुझाओं को सहारा भी देना है। यह सब कुछ चौबीस घण्टों की अनुभूति का परिणाम है। सुबह छः बजे से लेकर जब वह इलाहाबाद के स्टेशन पर विदेश से लौटकर उतरता है और अगली सुबह के छः बजे तक जब वह बिस्तर से उठता है। चाँदनी रात में उसे अपना घर खण्डहर लगता है। दिन भर की सारी अनुभूतियाँ आँतकित करने वाले सपनों के रूप में आती है। चारों ओर बाहर और भीतर छाया हुआ अंधकार उसके प्रति अट्ठहास करने लगता है। निराशा के उन क्षणों में ही स्वप्न में ही उसका भैरव अट्ठास, आन्तरिक और वाह्य अंधकार को भगाने का अट्ठहास, उसकी आस्था, उसके भविष्य, उसके उत्साह के अट्ठहास को आलोचकों ने विभिन्न दृष्टियों से आंका। इला चन्द्र जोशी ने इस अट्ठहास रुपी आशावादी अन्त को एक सफल कृति और एक सफल अन्त में आंका है और नायक को एक अणु-युग (टाइप) की उपज भी कहा है। वहां पूर्ण युवावस्था में अपरिपक्व यौवन ही रह गया हो। लंदन से डाक्टरी पास करने पर भी स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों से अपरिचित हो, यहां तक कि सामने से आती जवान खूबसूरत लड़की से टकरा कर जिसकी नसों में विजली कौंध जाये और वह कह उठे—कोई बात नहीं। गुडबाई स्ट्रेन्जर। अलविदा अपरिचिता। यही नहीं भावुकता छाने पर लम्बे अर्से से बिछुड़े हुए अपने कमरे को एकांत में कहता है 'हलो मिस्टर कमरे, गुडमार्निंग। हाऊ डू यू डू। क्या हाल चाल है ? कैसे रहे ? इस पांच सालों में क्या किया। कौन कौन आया तुमसे मिलने ? कंतों भी आयी थी। कै बार आयी थी। क्या कहती थी मेरे बारे में। मुझे निर्दयी कहती थी। शिकायत करती

1. वही, भूमिका, इलाचन्द्र जोशी, पृ० 9

थी मेरी। तुमने उसे बताया नहीं मेरी मजबूरी। मिला दो मुझे उससे मिला दो भाई। बहुत कृपा होगी।[1] इस प्रकार इलाचन्द्र जोशी एक ओर नायक को अणुयुग की शर्मीली उपज के रूप में आंकते हैं तो दूसरी ओर उपन्यास के आशावादी अन्त की शानदार सफलता के रूप में घोषणा भी करते हैं। जबकि पारिवारिक विघटन के इस अन्त को डाक्टर मदान उस अनुभूति से उभरने के लिए आशा के स्वर को ध्वनित होकर विषम होता हुआ मानते हैं। इस विषम स्वर की अतिरिक्त सघन अनुभूति की संशिलष्ट अभिव्यक्ति उपन्यास में उपलब्ध भी पाते हैं और इसे कालावधि की सीमा का परिणाम भी मानते हैं।[2] डा० मदान की इस बात से सहमत होना पड़ता है जब वह इस संवेदना को आस्थाहीनता से गुजर कर आरोपित आस्था में परिणत हुआ मानते हैं और यह परिणति पतझड़ में वसंत को आंकने का परिणाम हो सकती है।[3] इस प्रकार उपन्यास का अन्त आशावादी घोषणा द्वारा जहाँ जीवन के क्षेत्र में कूदने से पूर्व ही मात्र यूटोपिया बन कर रह गया है वहीं उपन्यास की संश्लिष्टता भँग करने का कारण भी। कृति में दरारें पड़ जाने से नायक का स्वरुप स्वाभाविक न होकर आरोपित आस्था के कारण अस्वाभाविक होकर रह गया है।

'जहाज का पछी' : इलाचन्द्र जोशी

इलाचन्द्र जोशी का 'जहाज का पंछी' (1955) नाम-विहीन नायक के रूप में सामने आया। इसका नायक सुशिक्षित एवं बौद्धिक व्यक्ति है जिसे अत्यधिक सवेदनशील मन मिला है। 'मुक्तिपथ' में नायक राजीव ने जहां सैद्धान्तिक स्तर पर अपने स्वरुप विकास को पाया वहीं इस उपन्यास का नायक भावना के स्तर पर अपने स्वरुप विकास के नए आयाम पाता है। वस्तुतः 'मुक्तपथ' में जिस पथ को वैचारिक स्तर पर खोजा गया है उसे 'जहाज के पंछी' में भावना के स्तर पर पाने का प्रयत्न है किया। अपने इसी प्रयत्न की पूर्ति के लिए कथानायक को कलकत्तिया समाज में भटकने के लिए छोड़ दिया है यानि वह छदम् वेश में विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के अनुभव एकत्र करने ही निकला है। नायक सताईस वर्षीय नवयुवक

---

1. 'चांदनी के खण्डहर', गिरिधर गोपाल, पृ० 29
2. 'आज का हिन्दी उपन्यास', डा. इन्द्रनाथ मदान, पृ० 58
3. वही, पृ० 58

अपनी बुद्धि और शिक्षा-संस्कार के होते हुए भी बेरोजगार है। समृद्ध कलकत्ता नगरी जब उसे लाख प्रयत्न करने के पश्चात भी 6 फुट लम्बी और तीन फुट चौड़ी जगह नहीं दे पाती तो दुबले पतले भूख से व्याकुल प्रेत शरीर को वह गलियों, पार्कों और सड़कों पर घसीटने के सिवा कुछ नहीं कर सकता। देखने वालों का उसे चोर गिरहकट समझना और पुलिस का वार-वार उसे जेल, कचहरी ओर सरकारी अस्पताल पहुंचाना वहुत स्वाभाविक बन जाता है। यूं ऊपर से मालूम तो होता है कि पेट भरने और तन ढकने की मजबूरी ही उसे घुमा रही है क्योंकि वह जहां भी पहुंचता है अपनी इन्हीं आवश्यकताओं का उल्लेख भी करता है, किंतु यह निश्चित है कि वह कहीं भी टिक नहीं पाता। स्वयं ही वह ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर लेता है कि उसे वहां से निकल कर अन्यत्र चले जाना पड़े, मानों उस स्थान पर रहने का उसका उद्देश्य पूरा हो गया है। जिस समय वह भूख की ज्वाला से कंकाल बना घूम रहा था तब कि वात तो भिन्न है किन्तु जब वह करीम चाचा के यहां से गोश्त-पुलाव खाकर और महीनों पहलवानों के अखाड़ों में कसरत करके सुन्दर स्वस्थ शरीर लेकर निकलता है तो वह नौकरी के लिए किसी दफ्तर की ओर न जाकर या कोई परिश्रम का काम न कर भादुड़ी महाशय के यहां कुक बनाना ही ज्यादा पसन्द करता है।

वस्तुत: जोशी के पहले उपन्यासों में कथा—नायक काम, कुण्ठा ग्रस्त, अत्याधिक आत्मपरायण, पाश्व-वृत्ति-प्रधान, प्रतिहिंसा-प्रिय, संवेदनशील, शंकालु, पलायन-प्रिय, आत्म-निष्ठा तथा मानसिक रोगों का शिकार है जबकि 'जहाज के पंछी' का नायक इससे किंचित भिन्न है। इसके भीतर सामाजिक विकृतियों से अद्भुत व्यक्ति-पीड़ा के प्रति गहरी सहानुभूति है और सामूहिक पीड़ा के आगे वह अपनी कठिनाइयों को कुछ महत्त्व नहीं देता। अवसर पड़ने पर वह उन्मुक्त मन से निस्सहायों को दान देता है, चाहे उसे निराहार ही क्यों न रहना पड़े। वह अपने ही मानमिक ग्रंथि-जाल से बाहर निकल कर कम से कम समाज की बदबूदार गलियों में घूमने का कष्ट तो सहन करता है। किंतु यह मानना पड़ेगा कि वह इन कष्टों का दृष्टा मात्र ही है उपभोक्ता नहीं। उसका सम्पूर्ण असन्तोष नितान्त बौद्धिक है और उसका भटकना भी परिस्थिति जन्य उतना नहीं है जितना मानसिक उत्तेजना जन्य। वह कहता भी है, 'स्वयं अपने सम्बन्ध में मुझे सन्देह होने लगता है कि मैं मनुष्य नही हूं, बल्कि उन खटमलों, मच्छरों, बिच्छुओं, तिलचट्टों और दीमकों की तरह हूं। मैं भी एक 'कीट' हूं

(बड़े कीट) जो चारों ओर से मुझे घेरे हुए हैं। पर दुर्भाग्य से उनके 'फ्री वर्ल्ड' में भी मैं 'अनफिट' बैठता हूं और वह सब मुझे अपना सबसे बड़ा शत्रु समझकर मुझ पर अलग-अलग और सम्मिलित रुप में भी आक्रमण करते हैं।'[1] रात-रात भर उन कीटों द्वारा काटा जाता हुआ और यन्त्रण से छटपटाता हुआ नायक सोचता है कि आज की मनुष्यता कीटों द्वारा पराजित और परास्त है। कमरे के भीतर वास्तविक कीट और कमरे के बाहर मानव-रुपी कीट आज मारने पर तुले हैं। अपनी इसी मानसिक उतेजना में वह वेश बदले 'ऐडवेन्चर' करता हुआ जगह जगह भटकता है। उसका यह ऐडवेन्र प्रेम मात्र बौद्धिक विलाप ही बन कर रह जाता है। अपने इस पूरे समय में वह आवारा, पाकेटमार, बावर्ची, ज्योतिषी, धोबी के कपड़ों पर निशान लगाने वाले, जहाज पर नौकरी करने वाले, अस्पताल और जेल जाने की भूमिकाएं भी निभाता है। यही नहीं तनिक अवसर मिलने पर वह अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट करने के लिए आन्तरिक आग्रह को भी नहीं रोक पाता और कभी डाक्टर को, कभी पुलिस वाले को, कभी भादुड़ी महाशय की गोष्ठी को अपनी भाषण-शक्ति से प्रभावित करने का प्रयास भी करता है। या यूं भी कहा जा सकता है कि उस पूरी स्थिति में वह कला और साहित्य के सोक को छोड़ नहीं पाता।[2] इसी प्रकार कहीं वह वेला से भागता है, कहीं भादुड़ी महाशय की पुत्री से। उसका बौद्धिक असन्तोष उसे नर-नारी के सहज आकर्षण से दूर रखता है। वह सामूहिक जीवन के आश्रय और आहार के समाधन के प्रति अधिक चिंतित है। वासना तथा प्रेम से अधिक वह पेट को अधिक महत्त्व देता है यानि फ्रायड की अपेक्षा मार्क्स को अधिक मान्यता देता है। अन्त में वह एक निडर अकेली महिला का दरवाजा खटखटाता है जो उसका उद्धार करती है। लीला से वह कहता है—'मैं चिर दिन का अभागा हूं लीला, बचपन से ही किसी नारी का सच्चा प्रेम और सहानुभूति पाने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला।[3]' लीला सम्पन्न नारी है और वह उस आवारा व्यक्ति की मानवीयता पर मुग्ध हो जाती है। वह उसकी सेविका तथा आराधिका बनने के लिए तैयार हो जाती है। इस तरह जहाज का पंछी उसके सोने के पिंजरे में स्वयं को बंधा हुआ पाता

---

1. 'जहाज का पंछी', इलाचन्द्र जोशी, पृ० 189
1. 'जहाज का पंछी', इलाचन्द्र जोशी, पृ० 181
2. वही, पृ० 250

है। वह चुपचाप यहां भी उस पिंजरे से उड़ जाता है। अन्त में लीला चालीस लाख की जायदाद का दान कर इसकी सहचरी बन जाती है। इस प्रकार नायक की अपने पथ की खोज भावना के स्तर पर समाप्त हो जाती है।

नायक की स्थिति, उसका स्वरूप मार्क्स तथा फ्रायड के सामंजस्य के प्रयत्न से भी भली प्रकार स्पष्ट होता है। जोशी की यह धारणा है कि स्त्रियों के मानसिक रोगों का कारण प्रायः दाम्पत्य जीवन के सम्बन्ध हैं और पुरुषों के रोगों का कारण आर्थिक सम्बन्ध हैं। इसी सामंजस्य में वह आधुनिकता की समस्या को उठाते हैं और उसका समाधान करते हैं। यह समाधान जब उनकी अनुभूति तथा उनके विचारों से पूरा मेल नहीं बैठा पाता तो इनकी रचना प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाती है।[1] यूं देखा जाए तो नायक जोशी के 'चेतन' के समान यथार्थ जीवी न होकर कल्पना जीवी है। यह उस वर्ग का व्यक्ति नहीं है केवल उसका अध्येता है। उसके कष्ट, उसका भटकना सब मानों उसी के द्वारा नियोजित हैं, अनिवार्य नहीं। यही कारण है कि उसके स्वरूप में कृत्रिमता आ गई है। यही कारण है कि जहाज का पंछी जहाज की उस नियति को न पाकर लेखक द्वारा थोपी गयी, आरोपित नियति को ढोने पर मजबूर हो जाता है।

'सागर लहरें और मनुष्य' उदयशंकर भट्ट

उदयशंकर भट्ट के नायक-विहीन उपन्यास 'सागर लहरें और मनुष्य' (1856) में बरसोवा गांव का जीवन मुखरित हुआ है, मछलीमारों के जीवन को वाणी मिली है। डॉ० सुषमा धवन के अनुसार इस जीवन को आँकने वाली जीवन दृष्टि समष्टि मूलक न होकर व्यष्टि-मूलक है जो नव-स्वच्छन्दतावाद से अनुप्राणित है।[2] उपन्यासकार ने मछलीमारों के जीवन की बाह्य कुरूपता के भीतर झांक कर इसकी आन्तरिक मानवीयता तथा सुन्दरता को उभारने में अपनी नवस्वच्छन्दतावादी दृष्टि का परिचय दिया है। इनका जीवन महानगरी से सम्बद्ध होने के कारण बदलने लगता है, इनके रूढ़िवादी संस्कार शिथिल पड़ने लगते हैं, इनमें नई चेतना का संचार होने लगता है। इस जीवन के विपरीत महानगरी का जीवन विडम्बनाओं, छलनाओं, कुण्ठाओं आदि से घिरा

---

1. जहाज का पंछी-इलाचन्द्र जोशी, पृ० 250
2. आज का हिन्दी उपन्यास-इन्द्रनाथ मदान, पृ० 75

हुआ अंकित है। इस विपरीतता के चित्रण में भी लेखन की नव-स्वच्छन्दतावादी दृष्टि की झलक मिल जाती है।[3]

इस नायक-विहीन उपन्यास में यदि कोई केन्द्रीय पात्र हो सकता है तो रत्ना को ही हम इसका श्रेय दे सकते हैं—रत्ना वरसोवा गाँव के एक सम्पन्न कोली परिवार से है। सारे वरसोवा में वही एक लड़की है जो कालेज जाती है। अंधेरी से दूर मछुओं की यह गंदी बस्ती है, जहाँ के मछुओं का जन्म और मरण समुद्र में ही होता है, उनकी आजीविका समुद्र से ही पूर्ण होती है। 'रत्ना' के जीवन में धीरे-धीरे नगर की व्यक्तिवादी चेतना संचरित होने लगती है, उसके पुराने रूढ़िवादी संस्कार शिथिल पड़ने लगते हैं। इसका एक ही कारण उसकी सहेली सारिका हैं जो ब्राह्मण परिवार से है और आधुनिका है। 'रत्ना' ने उसे भी देखा है और बम्बई शहर भी देखा है। उसका मन प्रारम्भ से ही सिनेमा, पार्टियों, भीड, मोटर, बंगला में भटकता रहा है। मछली का धंधा उसे कतई पसन्द नहीं। सारिका को वह कहती भी है— मैं मत्स्यगन्धा बनना चाहती हूं। अतः यह जानते हुए कि उसकी माँ ने अपार धन भूमि में गाढ़ रखा है वह बरसोवा के दम-तोड़ वातावरण से ऊब जाती है और मोटर, बंगला के लालच में यशवन्त जैसे नौजवान को छोड़ कर धूर्त मणिक से शादी कर लेती है।[4]

बम्बई में माणिक के साथ रहते हुए उसका वैवाहिक जीवन पहले पहल सुखद व्यतीत होता है। सारिका के साथ कभी-कभी वह नगर में होने वाली सभाओं और उत्सवों में चली जाती, परन्तु सब से अधिक उसे सिनेमा देखना ही भाता है। नृत्य, संगीत के आयोजन उसे क्षणिक सुख देते। उसे लगता हैं वास्तव में यही जीवन है, यही दुनिया है।[5] परन्तु जल्द ही उसका मोहभंग हो जाता है जब धन के लोभ में माणिक 'रत्ना' को अपने पार्टनर के साथ अकेला भेज देता है, 'रत्ना' तो बच जाती है परन्तु अपने पति के पार्टनर के हाथ-पाव अवश्य तोड़ देती है। इसी प्रकार वह बारम्बार फंसती है और बार-बार उबरती है। होटल पर बैठती है, तो शंकर गुंडे का यौवन उसे यशवन्त की याद दिलाता है, तब माणिक के शरीर की हड्डियों से उसे वितृष्णा होने लगती है। उसका यौवन दब

1. हिन्दी उपन्यास, डा० सुषमा धवन, पृ० 148-150
2. आज का हिन्दी उपन्यास, इन्द्रनाथ मदान, पृ० 66
3. सागर, लहरें और मनुष्य, उदयशंकर भट्ट, पृ० 183

कर बौना हो जाता है। उसके सपने, सपने ही बने रहते हैं जब मोटर में घूसने की साध, मालाबार हिल देखने की चाह, मोटर, बंगले, नौकरानीं की साफ बोली माणिक मछली मार्केट में बोल आता है। यही नहीं 'रत्ना' को जहां लोगों के व्यंग्य-बाण झेलने पड़ते हैं वही उन्हें चाल से कमरा खाली कर देने का आदेश भी मिल जाता है। तब माणिक की गलियां रत्ना को मजबूर कर देती हैं, वह माणिक का त्याग कर दे। माणिक को त्यागने के पश्चात् क्योंकि वह स्वालम्बी बनना चाहती है इस लिए गांव वापिस न जाकर एक सेठानी के यहां नौकर हो जाती है। यहां भी सेठानी के भाई द्वारा अपनी इज्जत पर हमला होता देख कर वह उसकी पिटाई कर देती है और सेठानी की नौकरी छोड़ देती है। तब वह 'टाईप' सीखती है और अपने पुराने सपनों को पूर्णतः देने के लालच में वकील धीरु वाला की वासना का शिकार हो जाती है। यहां धीरुवाला को पट्टियां बांधनी पड़ती हैं और रत्ना की गर्भ में धीरुवाला की सन्तान लिए डा० पाण्डुरंग के यहां नर्स बन जाना पड़ता है। 'वह मेहनती है, मरीजों को खुश रखती है इस लिए डा० पाण्डरेंग भी उसकी ओर आर्कषित है। रत्ना के वियोग में उसकी मां की आखें जाती रहती है और वह उसी नर्सिंग होंम में दाखिल हो जाती है। यहां माँ की ममता उसे फिर खींच लेती है। डाक्टर को पता चलता है तो वह धीरुवाला की सन्तान ओ अपनी बता कर, उसकी माँ को, पति-पत्नी के रूप में अपना और रत्ना का परिचय देता है।

इस प्रकार सारे उपन्यास में 'रत्ना' धन के प्रति आसक्त रहती है, जिसके कारण वह पूंजीवादी बंधनों से जकड़ें रहती है। इसी लिए उसे आत्म-विस्मरण तथा आत्मघात की भावनाएं झंझोढ़ती हैं। वह अपने परिवेश से इस कदर कट चुकी है कि लौटना अब उसके लिए असम्भव ही है।

इस प्रकार रत्ना की यातना के चित्रण द्वारा लेखक ने सामन्ती तथा पूंजीवादी मान्यताओं की कड़ी आलोचना की है और निजी व्यक्तिमूलक जीवन दृष्टि का परिचय दिया है। जहां तक रत्ना के स्वरुप का प्रश्न है उसका आरम्भ अच्छा है और उसका सहज आकर्षक व्यक्तित्व मन में उत्सुकता पैदा करता है पर धीरे-धीरे जैसे कथा बढ़ती है, एक प्रकार की अस्वाभाविकता, फिल्मी नाटकीयता उसके चरित्र के अंकन में दृष्टिगोचर होने लगती है। यही कारण है कि उसका व्यक्तित्व सहज रूप में नहीं उभरता। वह जैसे पाठकों के साथ आगे

बढ़ता हुआ जान पड़ता है ।[1] नेमिचन्द्र जैन के इस मत से भी सहमत होना पड़ता है कि इस उपन्यास का मत वेहद आदर्शवादी काल्पनिक वल्कि फिल्मी हो गया है । रत्ना गर्भवती है, और यह गर्भ उसे धीरु वाला से प्राप्त हुआ है । फिर भी पाण्डुरंग उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसे पत्नी-रूप में अंगीकार कर उसके भावी शिशु को भी अपना लेता है । उपन्यास का अन्त होता है कि रत्ना को कुछ विश्राम और अवकाश दे सकने के उद्देश्य से । किसी भी कथा के लिए अन्त आदर्श की दृष्टि से चाहे कितना मनोहर क्यों न हो उसकी अतिनाटकीयता, काल्पनिकता और अस्वाभविकता इतनी अधिक होगी, कि उसे विश्वसनीथ वनाने के लिए वड़े भारी भाव-विस्फोट की आवश्यकता पड़ेगी ।[2]

बूंद और समुद्र : अमृत लाल नागर (१९५६)

अमृत लाल नागर का उपन्यास 'बूंद और समुद्र' जिस मध्यवर्ग को लेकर चला है वह निश्चित रुप से आज का मध्यवर्ग न होकर, वह मध्यवर्ग है जिसे हम जी चुके हैं । या यों भी कहा जा सकता है यह वह मध्यवर्ग है जिसे आज को पीढ़ी नही जी रही अर्थात् जो चुक रहा है समाप्त प्राय: हो गया है । चुनाव इत्यादि के नए पन के बावजूद यह द्वितीय महायुद्ध से पहले का मध्यवर्ग है । सारे उपन्यास में प्राय: एक भी नौकरी-पेशेवाला आदमी नही है—सभी खाने पीने की चिन्ता से मुक्त या फ्री-लान्सर हैं । जिस मध्यवर्ग में वकील, डाक्टर, प्रोफेसर, विद्यार्थी, कलर्क, एजेंट, वेकार—और ठीक उन्ही के स्तर राजनीति, मुहब्बत, खेल, सिनेमा, क्रिकेट, जीवित रहने का संघर्ष, महत्वकांक्षाएं, फ्रस्ट्रेशन—घुटन, कुण्ठा, विकृत्तियां, वहसें कुछ भी नहीं, वह शायद हमसे पहले का मध्यवर्ग है । यहां राजेन्द्र यादव के से सहमत होना पड़ता है जब वह कहते हैं पता नही क्यों, हर समय मुझे ऐसा लगता रहा जैसे यह जीवन की जट्टों जहद से रिटायर्ड लोगों वाला मध्यवर्ग है—जिनकी पेन्शनें आती हैं, किराये आते हैं, दुकानों पर नौकर काम करते हैं या जो अपने पेशे में भली प्रकार जमे हैं । इन के जीवन को यदि झकझोरती हैं तो औरते हीं ।[3] यही स्थिति इस उपन्यास के नायक युवक चित्रकार सज्जन की है, जो लखपति है और एक ही

---

1. अधूरे साक्षात्कार, नेमिचन्द्र जैन, पृ० 140
2. वही, पृ० 140
3. विवेद के रंग, राजेन्द्र यादव, पृ० 255-56

सांस में 'कम्युनिस्ट' वनकन्या और सूपरमन वावा रामजी दोनों का वरण किए हुए हैं। इस प्रकार भी कहा जा सकता कि वह औरतजात से प्रभावित है। इसका स्वरुप यथार्थक से आदर्श की ओर उन्मुख होने में देखा जा सकता है।

नायक युवा चित्रकार है और अपने चित्रों को नया रूप देना चाहता है। इसके लिए वह गली मुहल्ले का जीवन चुनता है। ताई की टूटी हवेली में किराये के एक कमरे में रहता है। वैसे शहनजफ रोड पर उसकी अपनी कोठी है, अमीनाबाद, केसर बाग में उसके मकानात हैं जिनके किराये से हजार आठ सौ के लगभग महावर आमदनी होती है।[1] देश के विभिन्न प्रदेशों, पहाड़ों, जंगलों, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्त्व के स्थानों के अनेक चित्र उसने बनाये हैं। अमरनाथ से कन्याकुमारी तक, तथा द्वारिका से मणिपुर-आसाम तक वह अपने देश की चारों खूंट परिक्रमा कर चुका हैं। वह अपने लैण्डस्केप और प्रोट्रेट चित्रों के लिए प्रसिद्ध है। इतनी बड़ी जायदाद का वह अकेला मालिक है। ईश्वर उसके लिए उपहास है। इतने संसार में वह अकेला है और उसके अकेलेपन के कई साथी हैं। चित्रों का प्यारा सज्जन चित्रा (सभ्य वेश्या) के एक-एक अंग की जानकारी प्राप्त करता है। व्याभिचार के अड्डे उसके लिए आनंदायक हैं और औरत भोग की वस्तु। उसके जीवन में तीन तरह की औरतें आतीं हैं—एक से वह पैसे देकर आनन्द खरीदता है, दूसरी से प्रेमोपहार में रस पाता है, और तीसरी वे तमाम सरस औरतें हैं जिनके केवल शिष्टाचार के ऊपरी नातें हैं[2]। माँ ही उसके लिए एक ऐसी स्त्री थी जिसके लिए उसके मन में सदा गहरी श्रद्धा रही। पिता से वह अन्त तक घृणा करता रहा। उसके मित्र महिपाल के शब्दों में 'वह उस आदमी की तरह है जो आग और पानी के दो समुद्रों के बीच जलता और गलता हुआ खड़ा है।[3] परन्तु जल्द ही उसका वर्तमान स्वरूप ताई के मुहल्ले में आकर वनकन्या के आकर्षण से प्रभावित होकर एक नया मोड़ ले लेता है। क्योंकि वनकन्या कम्युनिस्ट है और उसके धन की उसके आगे नहीं चल सकती, इस लिए वह वनकन्या के आगे नतमस्तक है। वनकन्या की प्रेरणा उसमें पहले वाले सज्जन को निकाल फैंकती है और उसे लगता है शायद उसका नया जन्म हुआ है। मुहल्ले में रहते हुए जब उसे मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग के

---

1. बूंद और समुद्र, अमृतलाल नागर, पृ० 8
2. वही, पृ० 99
3. बूंद और समुद्र, अमृतलाल नागर, पृ० 92

आन्तरिक पक्ष को झाँकने का अवसर मिलता है तो उसे लगता है, उसके आगे एक तिलस्म खुल गया है। उसे अपने प्रोट्रेट के आगे एक दम पुराने लगने लगते है। जब वह उन चलते फिरते इन्सानों के प्रोट्रेट की गिनती करता है तो अनेक अनजाने परन्तु विशिष्ट प्रोट्रेट उसकी आंखों के सामने आने लगते है—नंदों जो अपनी भाभी की वासना पूरी करवाने के लिए जहाँ कवि विरहेश से सोने की घड़ी छीन लेती है, वहीं ताई द्वारा भाभी और मुहल्लेवालियों पर जादू-टोना भी करवाती है। ताई जो राजा साहब की परित्यक्ता है—जादू टोने का काम करती है। मुहल्लेवालों के अमंगल के लिए वह जहां पुतले बनाती है वहीं सज्जन से प्रसन्न होकर उसके शत्रुओं पर मंत्र फैंकती है और लोगों द्वारा तोड़ी गयी उसकी तस्वीरों की कतरनों को लेई से जोड़ती भी हैं। अपने पति राजा साहब पर मूठ चलाती है और उसे फिर वापिस भी मोड़ लेती है।[1] फिर पालिटीकल पार्टियों जो जनता को फुटबाल बनाकर उसके नाम पर मंच खेला करती हैं। वही आग से जली हुई औरत के हाथों को पकड़ कर हस्ताक्षर करवा जाली स्टेटमेंट तैयार करते लोग हैं। कही ससुर अपनी बहु से बलात्कार करता है। कहीं वेश्या के चक्कर में पति अपनी पत्नी को कत्ल करा देता है और कही कैप्टन की पगली पत्नी का मार्मिक इस चीत्कार। इस प्रकार उसे अनेकों चलते फिरते यथार्थ प्रोट्रेट देखने को मिलते हैं। इन सब में उसका स्ट्रोक वनकन्या पर आकर रुक जाता हैं। घर से निकाली गयी कम्युनिस्ट विचारों वाली लड़की जोकि पिता को उसके पाप का बदला दिलवाना चाहती है, अपने अहकार मुक्त और पावन स्नेह से धीरे-धीरे उसके मनोविकारों को धो डालती हैं। 'नारी अब उसके जीवन की समस्या बन रही हैं।—वन कन्या के सामने सज्जन छोटापन अनुभव करता हैं।—सज्जन के जीवन में दो बार ऐसी ही नारियाँ अपने व्यक्तित्व को होढ़ कर ले आई थीं, सज्जन उनसे कतराकर निकल आया था।—नारी कभी उसके लिए जिम्मेदारी की वस्तु नहीं रही।—प्रेम अनुभूति की तरह नहीं, सुने हुए काव्य की तरह उसके मन के सौन्दर्य-पक्ष को संचारता चला आया है। कन्या उसी सौन्दर्य की बंधी सीमाओं को तेज़ी से बहुत आगे बढ़ाये लिए जा रही हैं।—वह स्वयं ही अपनी पुरानी सीमाओं से आगे बढ़ने के लिए अपने आप से विद्रोह कर रहा है। उसे पत्नी चाहिए—ये उसके मन की दबी हुई पुकार है जो कन्या के आने से सहसा होश की पहली

---

1. बूंद और समुद्र, अमृतलाल नागर, पृ० 191

सतह पर आ गई है। स्त्री कोरी भोग की वस्तु नहीं है।[1] सज्जन के इस बदलते हुए स्वरूप को डा० सुषमा धवन ने इस प्रकार रूपायित किया है—सज्जन के मन में कला-साधना तथा विवाहित जीवन में होड़ लग जाती है। वह उत्तरोत्तर अनुभव करता है कि हृदय का सम्बन्ध प्रेम और मानवीयता का बन्धक है जिसमें बंध कर मनुष्य कभी भी मुक्त होना नहीं चाहता, प्रत्युत उसकी यही कामना होती है कि यह बन्धन उसके चारों ओर पल-छिन और भी कसता जाए। कन्या काव्यगत प्रेम को एक छलना-मात्र समझती है और उसका दृढ़ विश्वास है कि प्रेम का अन्तिम रूप विवाह है। स्त्री पुरुष जीवन में एक ही बार एक-दूसरे को पाते हैं और पाने के लिए स्वयं को अनेक कसौटियों पर कसना होता है। कन्या के इस साँस विचारों से सजन के सामन्ती संस्कारों को कड़ी ठेस लगती है। उसका आहत अहं तथा अतृप्त अधिपात्य-भावना उसे सताती रहती है। अतृप्ति की इस मन: स्थिति में वह कन्या के प्रेम को झुठलाने का प्रयत्न करता है कि वह उनके वैभव के लिए लालायित है। परन्तु बाद में जाकर उसके मित्र कर्नल के सहयोग से वह कन्या को अपना लेता है। वह अब भगवान को भी मानता है और संयम भी करता है। अपने चित्रों की प्रर्दशिनी लगा कर समाज-कल्याण के लिए पैसा भी इकट्ठा करता है। सुपर मैन बाबा रामजी के उपदेश को सुनकर महिला मण्डल के व्यभिचारी केन्द्र का भण्डा-फोड़ भी करता है। अपनी लाखों रुपयों की जायदाद दान कर प्रेमचन्द परम्परा के अदर्शवादी नायक की पंक्ति में खड़ा हो समाज सेवा का व्रत भी लेता है। इस प्रकार अन्त में लेखक 'बूंद और समुद्र' माध्यम से जो क्रमशः व्यक्ति एवं समाज के प्रतीक हैं, उनके समन्वय की शाश्वत समस्या को इन शब्दों में प्रस्तुत करता है—'हर बूंद का महत्व है क्योंकि वही तो अनन्त सागर है, एक बूंद भी व्यर्थ क्यों जाय? उसका सदुपयोग करें।[2] परन्तु कैसे हो यह सदुपयोग? कैसे यह बूंद अपने आप आपको महासागर का अनुभव कराये। इस विशाल जन-सागर में वह नितान्त अकेली है। हर व्यक्ति आम तौर पर इसी तरह अपनी बहुत छोटी-छोटी सीमाओं में रहता हुआ एक दूसरे से अलग है। – बूंद अगर बूंद से शिकायत रखती है तो वो उससे कहीं अलगाव भी अवश्य रखती है। तब यह सागर कैसा है जिसमें हर बूंद अलग है?—समाज में कुलीन और आबरुदार कहने वाले

---

1. बूंद और समुद्र, अमृतलाल नागर, पृ० 181
2. वही, वही, पृ० 388

सत्तर-पिछत्तर फीसदी लोग इसी तरह उन स्थापनाओं को प्रतिक्षण अपने व्यवहार में तोड़ते रहते हैं जिन्हें समाज ने आदर्श माना है। वह विरोधाभास इतना अधिक मानव में आया क्योंकर है ? यह विरोधाभास लेकर मानव का सामूहिक जीवन चल ही कैसे सकता है ? बूंद-बूंद का उपयोग हो लेकिन कैसे हो ?'[1] इस समस्या का समाधान सज्जन के माध्यम से उपन्यास के अन्त में इस प्रकार दिया गया है— मनुष्य का आत्म-विश्वास जागना चाहिए। उसके जीवन में आस्था जागनी चाहिए। मनुष्य को दूसरे के सुख-दुख में अपना सुख-दुख मानना चाहिए। विचारों में भेद हो सकता है, विचारों के भेद से स्वस्थ द्वन्द्व होता है और उससे उत्तरोत्तर उसका समन्वयात्मय विकास भी। पर शर्त यह है कि सुख-दुःख में व्यक्ति का व्यक्ति से अटूट सम्बन्ध बना रहे—जैसे बूंद जुड़ी रहती हैं—लहरों से लहरें। लहरों से समुद्र बनता है—इस तरह बुंद में समुद्र समाता है।[2]

इस प्रकार अमृत लाल नागर का आधुनिकता की चुनौती को व्यष्टि सत्य और समष्टि सत्य के समन्वय में आदर्शवाद को देखना डा० मदान के अनुसार आधुनिक समस्या का समाधान मध्य कालीनता के आधार पर करना है।[3] इस प्रकार की आरोपित दृष्टि प्रायः सारे उपन्यास में ही सज्जन नायक के स्वरूप में देखी जा सकती है, जहाँ लेखक के पूर्वाग्रहों के कारण नायक का स्वरूप स्वाभाविक तथा गतिशील नहीं हो सका। यही नहीं जहां नायक के स्वरूप में स्वाभाविकता आने के संकेत मिलते हैं वहीं बाद में लेखकीय अभिव्यक्ति का शिकार भी हो जाता रहा है। वस्तुतः वह अपनी नियति न जीकर लेखक की नियति जीता अधिक लगता है। एक तरफ वह नये पोट्रेट के चक्कर में गली-मुहल्लों के चक्कर काटता हुआ चित्रा और वन कन्या को महत्त्व देता है और दूसरी ओर वही नायक सुपरमैन बाबा रामजी के कहने पर अपनी लाखों की जायदाद दान भी कर देता है। एक तरफ वह समाज कल्याण का व्रत लेता है तो दूसरी ओर उसी समाज के लोग उस पर कम्युनिज़्म का आरोप भी लगाते हैं। उसके चित्रों को बुरी तरह फाड़ दिया जाता है, उसे घोर अपमानित किया जाता है परन्तु फिर भी वह आदर्शवादी अपने आदर्श को नहीं छोड़ता। राजेन्द्र यादव ने

---

1. बूंद और समुद्र, अमृतलाल नागर, पृ० 389
2. वही, वही, पृ० 606
3. आज का हिन्दी उपन्यास, इन्द्रनाथ मदान, पृ० 66

अमृतलाल के औपन्यासिक नायक के बारे में ही कहीं कहा है कि 'नागर जी के तीनों उपन्यासों के नायक सेठ बांकेमल, (सेठ बांकेमल), मास्टर पंचगोपाल और सज्जन अपेक्षाकृत भोक्ता कम श्रोता और दर्शक अधिक है। वे अपने व्यक्तिगत जीवन की तुलना में अपने आस-पास के जीवन को अधिक दिखाते हैं।[1] डा० शैल कुमारी के अनुसार 'सज्जन का व्यक्तित्व बिल्कुल समझ में नहीं आता। पहले एक रूप उभरता तो है, पर मथुरा से लौटने के बाद कुछ पता नहीं चलता। लेखक ने अनेक बार साहित्यिक ज्ञान पिलाने की कोशिश की है।[2] गंगाप्रसाद पाण्डेय ने इसे साधारण व्यक्तित्व वाला नायक ही कहा है।[3] राजेन्द्र यादव नायक के स्वरुप में हीन ही नहीं अपितु सभी पात्रों को लेखकीय अभिव्यक्ति का शिकार मानते हैं। राजेन्द्र यादव के अनुसार—नागर के निर्माण में उनके युग की वे 'टिपीकल' मध्यवर्गीय प्रवृत्तियां रही हैं, जो एक ओर तो प्रचण्ड बुद्धिवादी, उग्र, प्रगतिशील होने का दम भरती थीं और फौरन ही दूसरी ओर भाग्यवाद, पुनर्जन्मवाद, साधु-सन्त, पण्डे-पुजारी तीर्थ इत्यादि के खूंटे से आस्था को बांध रखती थी, इसलिए 'बूंद और समुद्र' का अच्छे से अच्छा पात्र मूलत: इन प्रवृत्तियों का शिकार है।[4] नेमिचन्द्र जैन ने इसे अपने ही ढंग से स्वीकार किया है। उनके अनुसार सज्जन का सन्तुलन खोखला है, क्योंकि वह किसी मूलभूत नैतिक संघर्ष अथवा अन्तर्द्वन्द्व के ऊपर आधारित अथवा विकसित नहीं है। उसके जीवन में हर घटना जैसे सहज ही आसानी से, लेखक की इच्छानुसार होती है। वह जो कुछ भी हाथ में लेता है, अन्त में उसमें सफल होता है, यद्यपि कहीं भी उसके चरित्र में वह गहनता अथवा अनुभव या समझ की ऊँचाई नहीं है कि उसके जीवन को आदर्श माना जा सके या उसकी परिणति या या सफलता को विश्वसनीय बना सके। ·· सज्जन की साधारणता लेखक के सारे प्रयत्नों के बावजूद पुस्तक में से बार-बार छलकती है, यद्यपि लेखक ने बड़ी धूम-धाम से और बड़े गहरे रंगों में उसे अंकित किया है। उसका अन्तः संघर्ष फार्मूलों के अनुसार है, और विरोधी तत्वों को केवल ऊपर से संजो दिया गया है। इसीलिए उसके मूड बड़े बचकाने और अस्वाभाविक लगते हैं, कुछ यह किताबी धारणा सिद्ध करने के प्रयत्न जैसे कि अचेतन मन की गूढ़ रहस्यमयी

---

1. विवेक के रंग, राजेद्र यादव, पृ० 253
2. माध्यम मई 1965, डा० शेल कुमारी, गोष्ठी प्रसंग।
3. माध्यम, मई 1965, डा० गंगाप्रसाद पाण्डेय, गोष्ठी प्रसंग
4. विवेक के रंग, राजेन्द्र यादव, पृ० 255

वृत्तियां किस प्रकार चेतन मन को नियन्त्रित करती हैं। सज्जन के अन्त:संघर्ष चित्रण से इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों के पात्रों की मिथ्या मनोविश्लेषण परक शैली का स्मरण होता है। यह उचित ही है लेखक वनकन्या के साथ सज्जन के व्यक्तित्व की टकराहट और उससे उत्पन्न तनाव को देख पाता है, पर उपन्यास में उसके लिए हेतु (मोटिवेशन) रखे गये हैं, वे अत्यन्त ही सतही और कृत्रिम हैं। अधिकतर उसके व्यक्तित्व का उद्घाटन वर्णन द्वारा होता है, सार्थक कार्य-द्वारा नहीं। सज्जन बड़ा प्रतिरूपी (टिपीकल) फिल्मी नायक है जिनमें बड़ी कमजोरियां हैं पर जो उन पर अन्त में विजयी होता है, समस्त विघ्न-बाधाओं के बावजूद अपने शत्रुओं का नाश करता है और नायिका को प्राप्त ही नहीं करता, उसके हृदय को जीतने में भी सफल हो जाता है। इस प्रकार जब डा० मदान नायक को कोरे वैचारिक स्तर पर परिकल्पित होने के कारण अपनी मानवीयता और विश्वसनियता को खो देने वाला कहते हैं तो लगता है हम सच्चाई के एक आयाम के पास हैं। वस्तुतः नायक ताई के उन प्राणहीन, सार्थकहीन, पुतलों से कम नहीं जिन्हें जिस उद्देश्य से बनाया जाता है, वह उसे अन्त तक पूरा नहीं कर पाते।

'उखड़े हुए लोग' : राजेन्द्र यादव

राजेन्द्र यादव का 'उखड़े हुए लोग' (1956) उपन्यास युद्धोत्तर-कालीन स्त्री-पुरुष के बिगड़ते बनते सम्बन्धों का चित्रण है, जिसका ह्रास शील तथा विकासशील मान्यताओं का प्रगतिवादी दृष्टिकोण से निरीक्षश तथा परीक्षण करना है। उपन्यास का नायक शरद शिक्षित मध्य वर्ग का सदस्य है जो उजड़ा हुआ है, शहरी जीवन बिताते हुए भी अपने परिवेश से कटा हुआ है। वह स्वयं को स्थापित करना चाहता है, अपने भविष्य का सुरक्षित बनाना चाहता है, इसके लिए वह यातनायें भी सहन करता है और जीवन से समझौता भी करता है। वह तुच्छ समझौते से टूटता है परन्तु इस सत्य से अस्वीकार नहीं करता कि समझौते से अधिक घातक कोई तत्व नहीं। परिणामतः प्रत्येक समझौता अपना मूल्य चुका लेता है और उसकी आत्मा को तोड़ कर रख देता है। उसके उखड़ेपन का वस्तुतः यही रहस्य है। उसके जीवन का भविष्य अनिश्चित तथा अंधकारमय है। यहां नायक लेखक के दृष्टिकोण को स्पष्ट करता हुआ नये पथ के अन्वेषण में प्रयत्नशील देखा जा सकता है।

नायक अपनी प्रेमिका के साथ मिल कर सम्मिलित जीवन यापन पर विचार करता हुआ उससे प्रेम विवाह कर लेता है। 'वह सामाजिक धरातल पर विवाह को व्यक्तिगत समझता है। परन्तु विवाह का रूढ़िग्रस्त मिटता हुआ रूप आधुनिक व्यक्ति-मानस के अनुकूल नहीं है, वरन् उसके विकास में सबसे बड़ी बाधा है। किन्हीं भी कारणों से जब तक विवाह का यह रूप नहीं बदलता, तब तक व्यक्ति को पूरी स्वतंत्रता है कि इस मसले को भविष्य के समाज की दृष्टि से आज शुद्ध व्यक्तिगत स्तर पर हल कर ले।[1] क्योंकि उसके अनुसार विवाह दो व्यक्तियों के बीच केवल एक सामाजिक अनुबन्ध है, इसमें पावनता का प्रश्न ही नहीं उठता।[2] तब वह विवाह को एक समझौते के रूप में लेता है और देशबन्धु (नेता भैया) के यहां उनका निजी सहायक (प्राइवेट सैक्रेटरी) बन जाता है। अपनी नौकरी बनाए रखने के लिए वह खुशामद भी करता है और सूरज द्वारा देशबन्धु की पोल खोलने पर भी उन्हें देवता-स्वरूप ही समझता है। 'स्वदेश महल' उसके लिए वरदान है। वह क्वार्टर में बैठी जया (प्रेमिका) के बारे सोचता है, और फिर ऊंचे पद के बारे में, जिसे देखकर जया प्रसन्न होगी। क्योंकि देश बन्धु ने वेतन जैसे तुच्छ प्रशन को उठाने ही नहीं दिया। इसलिए शरद की उनके प्रति अपार श्रद्धा है। देशबन्धु के भाषणों को संकलित करने के साथ-साथ वह बड़ी-बड़ी प्रार्टियों में देशबन्धु के चित्र भी खींचता है। परन्तु जल्द ही वह इस अवस्था से उभरता लगता है। जब फैक्टरी के गोली कांड में मज़दूरों की लाशों के पास विलाप करते उनके बन्धुओं को देखता है। वह यह भी देखता है कि मजदूर उसे तिरस्कार की दृष्टि से देख रहे हैं और कपिल तथा सूरज (सम्पादक) के व्यंग्य उसे कहीं अंदर से झझकोर गए हैं, तब उसमें मानवीय संवेदना जगने लगती है और उसका खुशामदीपन समाप्त-सा होते लगता है। उसकी इस संवेदना पर जब देशबन्धु की ओर से ठोकर लगती है तब उसका मन देशबन्धु के प्रति एक विरक्ति से भर जाता है। देशबन्धु उसे गिरगिट और पैरासाइट लगता है जो अनेक रंग बदलते हुए गरीबों का शोषण कर रहा है। यही नहीं जैसे ही धीरे-धीरे देशबन्धु की असलियत उसके सामने खुलने लगती है, वैसे ही उसके स्वरुप में परिवर्तन आने लगता है। देशबन्धु की रखैल माया देवी का सिनेमा देखते हुए स्पर्श उसे इतना लिजलिजा लगता है कि वह सिनेमा बीच में छोड़ कर बाहर आ जाता

---

1. उखड़े हुए लोग : राजेन्द्र यादव, पृ० 19
2. वही, वही, पृ० 19

है। माया देवी की लड़की पद्मा उसकी क्लास-फैलो रह चुकी है जिसकी ओर वह कभी आकर्षित था लेकिन अब वह उसे दूर की चीज़ लगती है। देशबन्धु के हाथों बुरी तरह फंसे होने पर भी पद्मा के प्रति उसकी सहानुभूति है। उसके व्यक्तित्व में जैसे जैसे नागफनी का जहर देशवन्धु के माध्यम द्वारा फैलता है वैसे ही उसका स्वरूप बदलता जाता है। उपन्यास के अन्त में उसकी चरम परिणति तब होती है जब देशबन्धु से इज्जत बचाने की खातिर पद्मा खिड़की से कूद कर आत्महत्या कर लेती है। जया (प्रेमिका) के कहने पर वह अटैची लेकर पिछवाड़े से भागता है। भागते हुए वह देशबन्धु से बदला लेने की बात अवश्य सोचता है परन्तु वह क्षणिक होती है जबकि वह स्वयं उस पूरी स्थिति से अलगाव से चक्कर में है। यहीं भागते हुए उसके गिरने पर नागफनी के कांटे की चुभन देशवन्धु या उसके सात दिनों के जीवन की प्रतीक है जहां वह बारबार उठा और गिरा है। देशबन्धु जो नागफनी का प्रतीक है उसकी नस-नस में इस कदर जहर घोल चुका है कि वह पुनः उखड़ जाता है परन्तु खुलकर मुकाबला नहीं कर पाता। डा० सुषमा धवन के कथन से और अधिक स्पष्ट होता है कि इन सात दिनों में जीवन की मान्यता बिगड़ती बदलती है। जितने उत्साह से जया और शरद स्वदेश महल में जमने के लिए आये थे, उतने असहाय होकर उखड़ कर वे लौट जाते हैं। इस संदर्भ में उखड़े हुए लोगों के समस्त अभावों के चित्रण के पीछे उपन्यासकार का उद्देश्य निहित है जिसे उसने प्रगतिवादी कलाकारों की भांति पूर्वाग्रह के रूप में उपस्थित नहीं किया है।

इस प्रकार नायक का साहस जहां दृढ़ता का सूचक है वहीं दूसरी ओर दूर तक एक रूढ़ि को तोड़कर दूसरे समझौते के मोह जाल में फंस जाता है। यूं कुल मिलाकर शरद के माध्यम से आज के मध्यवर्गीय युवक की सामाजिक नियन्त्रण को अस्वीकार करने की तस्वीर उभरती है। वह तस्वीर जहां सपनों के जाल जीवन की वास्तविकता से टकरा कर टूट जाते हैं और उसे समझौते की शरणकारों अपने व्यक्तित्व तक का दमन करना पड़ता है। इस चित्रण के मूल में लेखक की मार्क्सवादी विचारधारा है जो अन्य प्रगतिवादी कथाकारों के चिन्तन की भांति यांत्रिक न होकर गतिशील है।

अतः अन्त में नायक का स्वदेश महल से भागना उसके उस उखड़ेपन उसकी उस अस्थिरता की ओर संकेत है जहां स्थिरता और सुरक्षित भविष्य, मध्यवर्ग की नियति नहीं है।

'उसका बचपन' : कृष्ण वलदेव वैद

'उसका बचपन' (1957) कृष्ण वलदेव वैद का लघु उपन्यास एक छोटे से बच्चे के मनोभावों और अनुभूतियों का सजीव इतिहास है इसमें पात्र एक वृहत्तर सत्ता के अवयव जैसे व्यक्ति भी है और परिवेश भी। परिवेश एक मूर्त्त, इंद्रिय गोचर वातावरण, परिस्थिति भी है, साथ ही समग्र जीवनवत व्यक्तित्व भी। सारी कथा एक निहायत छोटे बच्चे की चेतना के स्तर पर भी है, और साथ ही अधिक जटिल, गहन तथा वहुमुखी चेतना के स्तर पर भी। इन्सान की अकेलेपन की नियति को, जीवन की संगति हीनता और व्यर्थता को लिए इस उपन्यास ने आधुनिकता की चुनोती को संवेदना के धरातल पर जीवन के मोहभंग में स्वीकार किया है। नायक के स्वरूप विकास को उसके मनोभावों के विभिन्न स्तरों पर परिवार से मुक्ति की खोज में देखा जा सकता है। वीरु की यह खोज दादी से, माँ से, परिवार और इन सब से वढ़कर उस सम्पूर्ण परिवेक्ष से मुक्ति की खोज है जहां उसका स्वरूप बनता विगड़ता। नायक 'वीरू' अपने ही मुंह से कहानी सुनाता है। अभावों से घिरे एक अभिशप्त परिवार में उसका जन्म हुआ। एक दम घोट वातावरण, क्षुद्र, कुण्ठित वीमार जिन्दगी का मूर्तिमान संकुचित परिवेश ही बीरू क्रियाओं प्रतिक्रियाओं को संचालित करता है। 'वीरू उस ड्योढ़ी में पला है, 'जहां हर समय एक विचित्र प्रकार की छुपी छुपी-सी, गिल गिली-सी, हरकत होती रहती है।' घर एक गली में है जिसके बीचों-बीच एक नाली बहती है, गाढ़ी काली स्याही की एक टेढ़ी-मेढ़ी लकीर की तरह, जिसमें कीड़े रेंगते रहते हैं, मक्खियां भिनभिनाती रहती हैं, भिड़ें उड़ती हैं।[1] इसी नाली के पास बैठा, उसे बीच से कोंचता हुआ वीरु एक निहायत ही छोटा-सा बच्चा खेला करता है। घर से बाहर गली के बच्चों के व्यंग्य और स्कूल में मास्टर की मार उसका पीछा करते हैं। घर के अन्दर 'कड़वा, कसैला जहर-सा धुंआ, हर सांस के साथ हलक में भर जाता है।' उसे ऐसा लगता है जैसे कि काला साँप हम सब की जान के पीछे पड़ा। यही धुआं माँ का साथी है और दादी मां का दुशमन—[2] उस दादी का, जिसकी गोद में प्यारे-प्यारे सपने देखा करता है। दादी माँ की चाहे कितनी दुशमन रही हो, बीरू बर्दाशत नहीं कर सकता कि

---

1. उसका बचपन, कृष्ण वलदेव वैद, पृ० 8
2. उसका बचपन, कृष्ण वलदेव वेद, पृ० 10

माँ जान बूझ कर धुआं करे और दादी खांसती रहे, अपनी इसी इच्छा शक्ति से प्रेरित वह माँ को सबक सिखाने के लिए उसकी पीठ पर लात जमाना चाहता है जिससे उसका सर चूल्हे में घुस जाए, आग जल उठे धुआं मर जाए और उसकी दादी की खांसी कम हो जाए। तब वह स्वयं से ही पूछता है क्या वाकई वह छोटा-सा बच्चा है।

चाचा रघुपत और बहन देवी के आने पर बीरु के व्यक्तितत्व की परतें उभर कर सामने आती हैं। नेमिचन्द्र जैन के अनुसार दो नए व्यतियों के आ जाने से स्थिति की एक रसता, गति की बंधी हुई लय, एक दम टूट जाती है और भीतर का विष फूटकर बाहर आ जाता है, तथा जीवन से एक और परिचय बीरू को होता है।[1] बीरू इस विषय को अपने अन्दर समोता रहता है फिर कसमसाता हुआ बाहर चला जाता है और नाली के किनारे बैठकर जाने कितनी देर तक धीरे-धीरे रोता है। जब उसका सारा भय, सारी घुटन आंसुओं में बह जाती है और वह खाली हो जाता है, तो वहीं बैठे-बैठे उंघने लगता है। ऊंघते-ऊंघते लुढ़क जाता है, तो अचानक उसके मुंह से एक गाली निकल जाती है, गाली जो बाबा ने माँ को दी थी, या माँ ने दादी को या दादी ने माँ को, या माँ ने अपने आप को, या जो बीरू के मुख से अनायास सबसे पहले गाली निकली थी।[2]

नेमिचन्द्र जैन का मत ठीक लगता है जब वह कहते हैं वास्तव में, कोई फर्क नहीं पड़ता किस ने क्यों गाली दी। सब एक दूसरे को गाली दे रहे है। वही एक रिश्ता बच रहा, सारा जीवन ही एक गाली बन गया है।[3]

बीरू जिसका बचपन राजा-रानी की कहानी सुनते व्यतीत होना चाहिए, वहाँ उसका बचपन पिता की राम कहानी, मां की सीता कहानी और घर के महाभारत की कहानी सुनने में व्यतीत हो जाता है।[4] माँ को वह प्यार भी करता है, और घृणा भी। घृणा और प्यार के सम्मिश्रण का बड़ा मूलभूत आयाम यहां दिखाई देता है। बीरू के व्वक्तित्व की अलग दृष्टि है। जब मां उसे

2. अधूरे साक्षात्कार, नेमचन्द्र जैन, पृ० 12
3. उसका गचपन, कृष्ण बलदेव वेद पृ० 22
1. अधूरे साक्षात्कार, नेमिचन्द्र जैन, पृ० 12।
2. आज का हिन्दी उपन्यास, डा० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 76।

झींक-झींक कर अपनी दुःख भरी कहानी सुनाती है तो वह उसे न सुनकर माँ से कोई बहुत अच्छी कहानी सुनने की फरमाइश करता है और जानबूझ कर माँ की गोद में सिमटता हुआ छोटा-सा बन जाता है।

घर के महाभारत में मां दादी से, दादी माँ से, माँ बाबा से लड़तें हैं। एक दूसरे पर मधुर वचनों के प्रहार होते हैं और बीरू ड्योढ़ी में बैठा उन गलियों को नाली के काले गाढ़े कीच के रूप में बहते हुए देखता है। शराब के नशे में चूर जब बीरु बाबू को नाली में से निकलता है तो बाबा से गंदी गालियां सुनकर उसे नया अनुभव होता है।

धुएं से अटे उस घुप अंधेरे में, उसमें लिपटी उदासी में बीरु का दम घुटने लगता है। 'दादी' जब रुक-रुक कर खांसती है तो उसे लगता है जैसे अंधेरे के सीने में अदृश्य कीलें ठोकी जा रही हैं। रघुपत चाचा के सिगरेट के कशों की आवाज़ उसे सांप के सितकारने की आवाज़ लगती है। वह लाख प्रयत्न करता है किन्तु उसकी आँखों की जलन नहीं जाती है। अपने चारों ओर अन्धकार से उसे लगता है कोई निस्तार नहीं—क्योंकि बहुत देर बाद जब दरवाजा खुलता है तो उससे प्रकाश नहीं, हवा के झोंके के साथ घिन की एक लहर उमड़ आती है। अंधेरा नाक सिकोड़ लेता है, धुएं के माथे पर बल पढ़ जाते हैं। आटा लेने गए बाबा खाली हाथ दहलीज पर खड़े झूम रहे हैं। उसे लगता है जैसे धीरे-धीरे जिन्दगी अंधेरे धुएं और खामोशी के साथ एककार हो गयी है और जो कुछ बचा है वह शायद और भी अधिक घिनोना हैं। तब उसे लगता है यह घर है या पागल खाना। दादी की मृत्यु के पश्चात् अंधेरे, धुएं और खामोशी में उसका जीवन व्यतीत होने लगता है। उसके व्यक्तित्व की एक केंचुल उतर जाती है। और उस पीड़ामय अनुभूति में बह अधिक व्यस्क और अधिक समझदार लगता है। तब माँ और उसके बीच एक नया सम्बन्ध स्थापित होता है, जो बनता है, टूटता है, बनता है. टूटता है। वह सोचता है, 'माँ हर समय ऐसी ही बात करती रहे, तो वह माँ से इतना प्यार करे, इतना प्यार करे कि माँ ख़ुश हो जाए।[1] उसकी समझदारी का सबूत उसकी बेकली है, उसके मासूम चेहरे पर प्रतिक्षण आने वाले भाव, उसके हृदय की उदासी, उसकी ओठों पर मुस्कराहटों का अभाव

1. बसका बचपन, कृष्ण बलदेव वैद, पृ० 31, 34

उसका हर समय घर पर पड़े रहना।[1] अपनी इस समझदारी में वह अभिशप्त परिवेश, अपने परिवार से कहीं बहुत दूर चला जाना चाहता है। वह वस्तुतः प्रारम्भ से अन्त तक इसी मुक्ति की खोज लिए छटपटाता रहा। उसे अपने खोये हुये सपने अपनी माँ से न मिलकर बाहर स्वच्छन्द वायु में अकेले या गली के बच्चों के संग खेलते हुए अचानक ही मिल जाते हैं। इसी लिए हर बार वह घर से बाहर आने पर जबकि स्कूल और बच्चों का उसे डर नहीं होता, वह स्वयं को एक दम नया स्फूर्तिवान समझता है। इसी लिए माँ और बाप जब दादी की मौत पर जाने के लिए उसे और देवी को अकेला छोड़ जाते हैं, तो वह मारे प्रसन्नता के फूला नहीं समाता। उसे घर की फिजा में एक अनजाना हल्कापन नजर आने लगता है। मानो सब ओर ठण्डी हवा चल रही है। उसे लगता है मानो ड्योढ़ी के काले कोनों में फूल खिल उठे हों। उसे हर समय हल्की-हल्की भूख लगने लगती है। उसके और उसकी बहन के बीच हर समय प्यार भरी छेड़-छाड़ होती रहती है। उसे भी लगता है मानो माँ के जाने के बाद देवी में फूल की-सी ताज़गी आ गयी है।[2] अब गली के बच्चों से उसकी गाढ़ी छनने लगती है। वे उसके घर बे धड़क आने लगते हैं। इस दिनचर्या में यदि किसी दोस्त की माँ उससे उसकी माँ के आने के बारे पूछ ले तो उसे लगता है मानो किसी ने उसके पर काट दिए हैं। यहीं उसका परिचय पारो परिवार तथा असलम परिवार से होता है। पारो परिवार से लौटने पर, उसका जी चाहता है कि वह जोर-जोर से चिल्लाने लगे या कोई चीज़ उठा कर फर्श पर दे मारे।[3] असलम के यहाँ से लौटने के पश्चात वह उन सब का मुकाबला अपने आप से, अपनी माँ से, अपनी बहन से और अपने घर से करने लगता है। इन दोनों के बीच उसका लकीर खीचना उसकी स्वच्छन्दता, उसकी उस मुक्ति की खोज को ही रेखांकित करता है। यही कारण है कि अपने घराने पर उसे घर की हर चीज़ से घिन आने लगती है। वह चाहता है या तो असलम की बहन के साथ वह लाहोर चला जाये या नरेश और पारो उसे लाहोर ले जाए। असलम और उसकी बहन से रूठना उसकी इसी स्वछन्द प्रवृत्ति को दर्शाता है क्योंकि वह उसे लाहोर नहीं ले जा सके। यही स्थिति उसकी बुखार की अवस्था में भी देखी

1. वही, पृ० 35
2. वही, वही, पृ० 12
3. उसका बचपन, कृष्ण बलदेव वेद, पृ० 123

जा सकती है जब वह सोचता है कि अब उसका यहां कोई नहीं, मां, बहन, बाबा उसके कुछ नहीं लगते, अब वह किसी की नहीं सुनेगा। हंसता हुआ ऊपर उठता चला जायेगा और आखिर बहुत ऊंचे आसमान में तारा बन जायेगा, जहां से उसे कोई भी नजर नहीं आयेगा।[1] इसी सोच विचार में वह रसोई घर में जा कर गले में फंदा डाल कर मरने का विफल प्रयत्न भी करता है।[2] वस्तुतः बीरु ही नहीं घर के सभी प्राणी इन घुटन से मुक्ति चाहते हैं। इस प्रकार 'बीरु' (नायक) की नियति एक नियति को पहुंचकर अगली नियति की प्रतीक्षा में देखी जा सकती है।

'परती : परिकथा' : फणीश्वर नाथ 'रेणु'

'मैला आंचल' के पश्चात रेणु की यह रचना नायक-विहीन उपन्यासों में एक सशक्त रचना है। परती धरती ही सारे उपन्यास का केन्द्र है, उसी के माध्यम से गांव का और गांव के माध्यम से मनुष्य का चित्रण ही इस उपन्यास का अभीष्ट है। या यों भी कहा जा सकता है कि यह व्यापक धरती का महा-काव्य है। 'गोदान' की तरह बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का व्यापक जनसमूह इसका नायक है। इस प्रकार एक दूसरे के विलग होते हुए भी जमींदार और किसान जुड़े हुए हैं तो मात्र धरती के माध्यम से ही। धरती के माध्यम से ही सम्पूर्ण गांव अपनी अनजानी बरबादी तथा कथित क्रांति के साथ हमारे सामने सजीव रूप से अंगड़ाई-सा लेता हुआ आता है।

धूसर, वीरान, अन्तहीन प्रान्तर। पतिता भूमि, परती जमीन, वन्ध्या धरती। धरती नहीं धरती की लाश, जिस पर कफन की तरह फैली हुई है—बालूचरों की पंक्तियां। उत्तर नेपाल से शुरू होकर, दक्षिण गंगा तक पूर्णिया ज़िले के नक्शे को दो असम भागों में विभक्त करता हुआ—फैला-फैला यह विशाल भू-भाग। लाखों एकड़ भूमि, जिस पर सिर्फ बरसात में क्षणिक आशा की तरह दूब हरी हो जाती है।[3] सुदूर अतीत में कभी किसी समय कौसी ने अचानक अपना मार्ग बदला और हजारों-लाखों एकड़ भूमि बन्ध्या हो गयी।

---

1. वही, पृ० 134

2. परती : परिकथा, फणीश्वर नाथ रेणु, पृ० 1

एक विशा लभूाग, -भहठात् कुछ से कुछ हो गया। सफेद बालू से कूप, तालाब, नदी, नाले पट गये। मिटती हुई हरियाली पर हल्का बादामी रंग आज भी उसी प्रकार धूल भरी आंधियों के साथ सहस्र चक्र खाकर घूमता रहा है।

कोसी के अंचल में फैली हुई हजारों बीघा यही धरती जमीन किस प्रकार युगों के बाद नवीन योजनाओं के फलस्वरुप नया जीवन प्राप्त करती है, और इस रूपान्तरण की प्रक्रिया में उस धरती के आस-पास का जीवन किस प्रकार अचानक विक्षुब्ध और चंचल हो उठता है, यही उपन्यास का केन्द्र बिन्दु है। इस भूमि के बसने वाले गांव के निवासी क्रमशः इस परिस्थिति को एक प्रकार से भाग्य लीला मानने लगे थे। इसे लेकर नाना प्रकार के अन्ध-विश्वास उनके सस्कारों में गहरे जम जाएं तो कोई आश्चर्य नहीं। यहां तक कि अब इस नियति में किसी भी प्रकार परिवर्तन की कल्पना भी उन्हें विधि के विधान में हस्तक्षेप करने के बराबर जान पड़ने लगती है, और वह ऐसे किसी भी प्रयत्न को सन्देह, आशंका और भय की दृष्टि से देखते हैं। उनके मन के भीतर यह धारणा बद्धमूल हो गयी कि जब भी कोई इस विधान को बदलने का यत्न करता है तो समूचे गांव पर, समाज पर, नये सिरे से विपत्ति टूटती है।

परती के किनारे बसा पुरानपुर गांव ऐसा ही एक गांव है। जहां के निवासी इसी प्रकार अन्धविश्वासों में जीवन बिताते आए हैं। इसी बीच देश को स्वाधीनता प्राप्त होती है, कांग्रेस सरकार बनती है, और नदी-घाटी योजनाएं तैयार होती है, नए-नए विचार, नए-नए आन्दोलन इस क्षेत्र में गांव में आकर पनपते हैं और देहात के अपेक्षाकृत स्थिर जीवन में भयंकर आलोड़न उत्पन्न हो जाता है। साथ ही साथ उधर कांग्रेस सरकार भूमि-सम्बन्धी कानूनों में भी सुधार करने का प्रयत्त्न करती है जिसके फलस्वरूप भूमि के नए बन्दोबस्त की तैयारियां होती हैं। नए बटवारे की योजनाएं बनती हैं। पुरानपुर गांव के सभी निवासी अपना-अपना दावा, अपना अपना अधिकार भूमि के विभिन्न अंशों पर घोषित करते हैं। तीन वर्षों तक बन्दोबस्त विभाग के अधिकारी अर्जियां मांगते हैं, लोगों के दावों की तथा मागों की जांच करते हैं और मामले निपटाते हैं। देहात के लोगों के जीवन में भूमि के बंटवारे से अधिक क्रांतिकारी स्थिति दूसरी नहीं हो सकती। इसके कारण अनिवार्य रूप से जमी हुई जीवन की पर्तें भावनाओं की, विचारों की, संस्कारों की और सामाजिक सम्बन्धों की टूटने लगती हैं।

नवीन और पुरातन, परिवर्तन और यथस्थिता, प्रगति और परम्परा के बीच भयंकर खींचतान, टकराहट और संघर्ष आरम्भ हो जाता है।[1]

सन् 1800 में यह गांव अपनी चरम उन्नति पर था। आज लगातार टूटता जा रहा है। पुरानपुर ही नहीं सभी गांव टूट रहे हैं। गांव के परिवार टूट रहे हैं। व्यक्ति टूट रहा है—रोज-रोज कांच के बर्तनों की तरह। क्या हो गया है गांव को। शाम होते ही घर-घर में लड़ाई शुरू हो जाती है।·· कोई लडेया भूत की सवारी आती है शायद। पहले एक घर में शुरू हुआ। मर्दों की बात में औरतों की बोली कभी-कभी सुनाई पड़ती, मोटी महीन आवाज़ में बच्चे और साथ ही कुत्ते रो पड़ते।···एक घर का झगड़ा दूसरे घर की ओर लपकता, फैलता जाता, गांव में एक अजीब कोलाहल।[2] टूटने और बनने की इस प्रक्रिया में सारा गांव अपनी मृदु-कटु अनेकों प्रकार की घटनाओं, मार्मिक प्रासंगिक गाथाओं के साथ सजीव रूप में सामने आता है जिसके मूल में निश्चित रूप से परती-धरती है।

पहली कहानी मिश्रा की मार्मिक कहानी है जिसमें पाँच चक्रों के रहस्य को जानने के लिए जी जान की बाजी लगाता है। इन पाँच चक्रों की प्राप्ति का लाभ गाँव के निर्माण में एक आदर्श स्थिति के रूप में हुआ है। यह पाँच चक्र परती-धरती के हैं, जिनमें जलाशय था और उपजाऊ भूमि थी। इन पांच चक्रों में विभिन्न प्रकार की पैदावार एक ही समय में आसानी से हो सकती थी। इन्हीं पांच चक्रों के रहस्य को इकट्ठा किया मिश्रा ने और उसे पूर्णता दी उसके लड़के जित्तन बाबू ने। मिश्रा अपनी बुद्धिबल से अंग्रेजी युग में जहां ज़मीदार बना, वहीं उसने गोरी मेम से शादी भी की। अपनी इस जीत के लिए उसने जेल, यंत्रणा और सामाजिक प्रकोप को भी सहा। अपनी दूरदर्शिता के कारण मौत की छाया में हम उसे अंग्रेजों और ब्राह्मणों से बदला भी लेते हुए देखते हैं, और उसकी मेम पत्नी को अन्त तक भारतीयता में रंगे हुए अपने पति के संकट निर्वाणार्थ काली की पूजा करते हुए भी। अन्त में मिश्रा के लकवा का मरीज होने पर और गोरी मेम की मृत्यु के पश्चात् जित्तन को हम पांच-चक्रों का स्वामी बनते हुए देखते हैं।

---

1. अधूरे साक्षात्कार, नेमिचन्द्र जैन, पृ० 162-63
2. परती : परिकथा, फणीश्वर नाथ रेणु, पृ० 454

जित्तन तथा ताजमनी के आदर्श और वलिदान की दूसरी कहानी के साथ-साथ लुत्तो की जित्तन के प्रति हिंसक भावना भी अन्त तक चलती है। जित्तन इस उपन्यास में आभिजात पात्र है जिसके माध्यम से गांव को जागृति का स्वर मिला है। वह अपनी असामान्यता और आभिजात्य से अत्यन्त आकर्षक भी बन गया है। जन्म से ऐंग्लो इंडियन और धर्म से भारतीय जवानी फूटते ही हम उसे कुवेरसिंह के साथ प्रगतिशील पार्टी का मैम्वर बन राजनीति में पदार्पण करते हुए देखते हैं। कुबेर सिंह प्रगतिशील समाजवादी पार्टी का प्रधान संस्थापक—कुरूप और भद्दा व्यक्तित्व। परन्तु उसकी सारी सफलताओं ने उसके सारे 'कु' को ढक लिया है। और तव सफल इन्सानों की पंक्ति में कुवेर सिंह खड़ा हुआ दिखता है।[1] जित्तन ने कुबेर सिंह के लिए भाषण लिखने से लेकर उसकी पार्टी पत्रिका तक का काम उसके नाम पर किया है। बाद में राजनीतिक दृष्टि से वामपंथी होने के नाते और गदर पार्टी का भेदिया होने के आरोप में जित्तन को पार्टी से वहिष्कृत कर दिया जाता है। फिर श्यामगढ़ स्टेट के राजा कामरूप नारायण की सहायता से मौत से बचकर जेल यात्रा। जेल से निकलकर कुबेरसिंह के प्रभाव से किसी भी जगह न टिक पाने पर उसे हम भटकते हुए देखते हैं। कुवेर सिंह ने अपने शब्दों को सच कर दिया···'कहां जायेगा जितेन्द्र। गली-गली में नकाब उलटकर दिखलायेगा कुबेरसिंह। किसी सोसायटी में मूव नहीं करने देगा।[2]···और तव न वह पत्रकार बन सका, न साहित्यकार, न प्राध्यापक और न ही छद्म नाम से कुछ क्रियात्मक काम ही कर सका। तब अपनी हर हार के बाद वह सदा-सदा के लिए अपने गांव लौट आता है।

गांव में परती-धरती होती है और ट्रैक्टर चलाता जितेन्द्र अपनी भविष्य कल्पना करता है। तब परती पर पहली बार गुलाब के फूल खिलते हैं और पांच चक्रों का रहस्य बड़े अधिकारियों को बता दिया जाता है। हर चक्र में पैदावार के लिए पानी की आवश्यकता को देखते हुए कौसी योजना का निर्माण होता है। यही नहीं गांव में जित्तन विशाल रंगमंच का निर्माण कर जहां गाँव वालों को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न करता है, वहीं टेपरिकार्डर की सहायता से गाँव भर के बड़े-बड़े अपराधियों को पुलिस द्वारा पकड़वा कर अपने अहं की तुष्टि भी करता है वह अहं जो राजनीति में कुछ न कर सका था।

---

1. परती; परिकथा: फणीश्वर नाथ रेणु, पृ० 449
2. वही, वही, पृ० 480

यहीं ताजमनी नट्टिनी की अपने बलिदान की कहानी भी है जो जीवन-भर जित्तन की रक्षा के लिए मां और प्रेयसी का काम करती रही है। जित्तन की मां द्वारा शिक्षिता ताजमनी को अन्त तक हम जित्तन को उसी शिद्दत्त से प्यार करते हुए देखते हैं और जित्तन उसे अपनी रक्षित कहता हुआ उसके इशारों पर ही सारा काम करता है। उधर लुत्तो अपने बाप का बदला जित्तन से लेने के लिए जनमत अपनी ओर करने का विफल प्रयत्न अन्त तक करता रहता है। चोरी के आरोप में लुत्तो के पिता की ज़ित्तन के पिता द्वारा गर्म सलाखें दागने पर मृत्यु हो गयी थी, जिसका बदला वह जित्तन को मार कर चुकाना चाहता है। गांव का मुखिया बनने के स्वप्न देखने वाला अन्त में लुत्तो अपने ही गांव बालों द्वारा दुत्कार दिया जाता है।

यही छोटी-छोटी कथाएं सलारी हरिजन और स्वर्ण सुवंश के प्रेम विवाह सम्बंधी और राम बखारन सिंह नेपाली की अपनी प्रेमिका से हाथ धोने की धार्मिक कहानियां अपने आप को जमाती हैं। यहीं गरुड़ घनझा, पोंपी, लुत्तो रोशनबिस्वां, मुंशी जलधारी लाल भी अपनी-अपनी चारिचित्र विशेषताओं के साथ आते हैं। उनका परस्पर उल्लू बनाना, पैसा खाना और उनकी स्वार्थ परता पर लेखक ने मीठी चुटकियां ली हैं। फिर नट्टिनी वेश्याएं हैं, गांव के पढ़े लिखे नौजवान हैं, रेडियो, पुस्तकालय और राजनीतिक पार्टियां हैं। अपनी अंग्रेज़ी द्वारा नए शब्द निकालने वाले बिम्भल मामा भी है गांव में जिधर देखो अंग्रेजी के देशी शब्द बोलते लोग मिल जायेंगे—बाउण्ड्री को 'बोण्डौरी' कैम्प को 'कम्फू' एक्सपैरिमैन्ट की हस्पारिमन, आडर को 'औडर' प्राइमर्मिनिस्टर को 'प्रैममिलस्टर और प्वाइण्ट को 'पान्ड' कहने वाले अपने को शहराती पढ़े लिखों से कम नहीं समझते।

गांव में हजारों प्रकार की टोलियों में लोग बंटे हैं। जितने टोले हैं उतनी ही बातें और उतना ही अन्धविश्वास वहां फैला मिलता है। कहीं बाबुआन टोली है, कहीं सालकन्ह टोली, खवास टोली, कुर्मा टोली, कोपट टोली, और कहीं मुसलमान टोली। कहीं कम्युनिस्ट पार्टी है कहीं कांग्रेस। फिर भूदानी कार्यकर्त्ता क्यों पीछे रहे। वे मार खाकर भी वहां अपनी खड़तालें बजाते घूमते हैं।

अन्धविश्वासी लोगों की वहां कमी नहीं। परमा हरिजन को भगवान का रूप मानकर आरती करना, बाँध बनाने के समय कम आयु के बच्चों को घरों में बन्द कर देना कि उनकी कहीं कोई बलि न दे देवें उस समग्र सामयिक धार्मिक और अन्य भावना के अच्छे प्रमाण हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण गांव की वर्गगत भावना, उसके अन्धविश्वास को परती-धरती के माध्यम से उसके बंटवारे के माध्यम से इन्सान को अपनी सम्पूर्ण कलुषता के साथ सजीव रुप में सामने खड़ा करने का प्रयत्न हुआ है।

इतना कुछ होने पर भी यह उपन्यास विवादास्पद रहा है। आलोचकों ने इसे अपनी अपनी सीमा में आंकने का प्रयत्न किया है। नेमिचन्द्र जैन के अनुसार यह असफल कृति है क्योंकि लेखक पुरानपुर में भूमि के नये बन्दोबस्त को लेकर चलने वाले दांव-पेंचों और देहाती राजनीति के बहुत से हथकण्डों का विस्तार से चित्रण करता है। विभिन्न पार्टियों की दलबंदी, गन्दगी और सिद्धांतहीनता पर प्रकाश डालता है, नयी योजनाओं की चर्चा करता है। किन्तु यह सब चित्रण किसी कलात्मक समग्रता की ओर नहीं बढ़ता। उसे कोई गहरी सार्थकता प्रदान नहीं करता क्योंकि यह सब सतही चंचलता किसी गहरे विक्षोभ से नहीं जुड़ पाती। उससे कोई मौलिक मानवीय तत्व नहीं उभरता।[1] इसी तरह वह इसे कभी राजनीतिक उपन्यास तो कभी सतही जीवन की भूल-भुलैया में उलझी कृति बताते हैं। इसे रसीले चित्र प्रस्तुत कर अपनी किताब को मजेदार बनाने का ढोंग भी कहा गया है।[2] कुछ का कहना है कि जित्तो, ताजमनी, इरावती, मकबूल, मलारी, सुवंश, बिम्बल मामा, लुत्तो और गुरुड़ आदि का व्यक्तित्व क्षीण क्यों है? इनका चरित्र-चित्रण सबल क्यों नहीं? इस तरह का मूल्यांकन करते समय यह भुला दिया जाता है कि परती: परिकथा की इस रचना का यह उद्देश्य ही नहीं है, रेणु की सृजन प्रक्रिया का यह गन्तव्य ही नहीं है। यदि परती की समस्या ही इस उपन्यास का उद्देश्य है और इसका चित्रण इसकी रचना प्रक्रिया में समाया हुआ है तो यह इसकी सीमा न होकर इसकी उपलब्धि है। इसको कहने में लेखक भूल अवश्य कर सकता है, उसकी रचना में दरारें भी पड़ सकती हैं। इस प्रकार आलोचक की वह दृष्टि जो परती-धरती की

---

1. अधूरे साक्षात्कार, नेमिचन्द्र जैन, पृ० 163
2. अकथ, सुदर्शन चोपड़ा, अंक जून-जुलाई, 1968, पृ० 41-42

समस्या के ऊपर न होकर दूसरी ओर ओझल हो जाती है, उपन्यास की सीमा नहीं कही जा सकती। इसे खोजने तथा पाने के लिए रेणु ने टेप शैली को अपनाया। और इस शैली को हम बीच-बीच में गड्डमड्ड होते हुए देखते हैं। कुछ एक अप्रासंगिक कथायें रचना-प्रक्रिया को अवरुद्ध भी करती हैं जिसका कारण लेखक की अपनी समस्यायें हैं। ऐसे स्थानों पर लोक गीतों और प्राकृतिक चित्रण को नियोजित कर पात्रों की गूढ़ मन:स्थितियों को उभारा गया है। इसी के अर्न्तगत एक बहुत बड़े अन्तराल को गीतों से भरकर सांकेतिक रूप से जीवन के एक बड़े सत्य को आंकना भी सम्मिलित है। इसका मूल कारण लेखक के कवि का इनके उपन्यासों पर हावी हो जाना है। हर साहित्यिक विधा की अपनी अपनी लय होती है, एक की लय को जब दूसरी विधा की लय पर आरोपित किया जाता है तब परिणाम 'परती-परिकथा' होता है।

एक बात निश्चित है कि उपन्यास का अन्त अपने आप में बेमानी और यथार्थ से कोसों दूर हो गया है। लेखक का यह कहना कि अब युग-युग के बाद एक-एक प्राणी पाप से मुक्त हो चुका है, और हर किसी के प्राणों में नये रंग भर चुके हैं और वीरान धरती का रंग बदल रहा है...परती पर रंग की लहरें···अमृत हास्य परती पर अंकित है·· पिपही शहनाई बजने लगी है···और यह लोग मंच पर खड़े होकर जनता को नमस्कार करते हैं हर्षोन्मक्त जन-मन···आकाश में अबीर गुलाल उड़ रहा है···आसन्न प्रसन्न परती हँसकर करवट लेती है।[1] जबकि वस्तुस्थिति कुछ और है। इतनी सारी योजनाओं के बावजूद भी, परती-धरती की सिंचाई के बाद आज भी···घूसर-वीरान, अन्तहीन प्रान्तर··पतिता भूमि, वन्ध्या परती···धरती नहीं धरती की लाश जिस पर कफन की तरह फैली हुई बालूचरों की पंक्तियां···देखी जा सकती है। इसी लिए जब सुदर्शन चोपड़ा इस वर्णन को रेणु के सुदूर का वर्णन न मानकर आज का यथार्थ वर्णन मानते हैं तो उनसे असहमत नहीं हुआ जा सकता।

यही नहीं विभिन्न प्रकार की ध्वनियों में खोया हुआ लेखक जब हरिजन सुधार की बात करता है तो चौंकना स्वाभाविक हो जाता है। मात्र कागज की कार्यवाही के रूप में हरिजन सुधार की बात करना हास्यास्पद-सा लगता है, जबकि आज भी यह वर्गगत भावना अपनी पुरानी बीमारी के साथ 'क्रॉनिक'

---

1. परती : परिकथा, फणीश्वर नाथ रेणु, 528

रूप में विद्यमान है। इतना ही नहीं आजादी के बाद लेखक 'पनघटों पर मुक्त हंसी की हिलोरें भी सुन लेता है। उसे गांवों की गलियों में हीरे-मोती भी बिछे दिखते हैं। पता नहीं क्यों और किसलिए 'वीणा पुस्तक धारणी मां शारदा के चरणों में नत होकर पुकार उठते हैं···जय मां शारदे! उन्हें विश्वास हो गया है कि हमारी सरकार ने देश की परती तोड़ कर उसकी बांझ मिट्टी की गोद भर दी है। तभी तो वह आवाज के पूरे पिच पर पुकारते हैं। 'ओ! धरती माता···।' तभी तो उन्हें हर किसी के मुखड़े पर रोशनी और सब पर हंसी··· सरल, सहज, मुखर, मानवीय दिखायी पड़ती है। जबकि क्षणिक मुस्कराहट को स्थायी मुस्कराहट बनाना कठिन है और कथित स्थायी मुस्कराहट दिखाना आसान है।

इसके बावजूद परती के पास धान के लहराते खेत, सेमल के बाग, सुपारी, साबुदाना तथा युकिलिप्टस के वृक्षों का वर्णन भी मिल जाता है। यही परती के जीवन के अन्धविश्वास, भेदभाव, मनोमालिन्य, राजनीतिक मतवाद, पाखण्ड, अपढ़ता आदि के सजीव, अंतरंग तथा व्यंग्यात्मक चित्र भी मिल जाते हैं। दूसरी ओर परती-धरती पर बांध बनाने की कोसी योजना की यांत्रिक कार्यवाही के वर्णन भी हैं। बड़े-बड़े बुलडोज़रों, शोवेलस ट्रैक्टरों, एक्स्केवेटर क्रेनों, ट्रैक्टर लोगार्स आदि के वर्णन भी मशीनी युग की प्रबलतम विशेषताओं को दर्शाते हैं। इस तरह इस खोज की निजी उपलब्धि तथा सीमा है जिसे खोज के पथ पर चल कर ही आंका जा सकता है, इसलिए परती की खोज के, उसकी समस्याओं के आधार पर 'परती-परिकथा' का मूल्यांकन अधिक संगत तथा सन्तुलित होगा।

'झूठा सच'. यशपाल

यशपाल का उपन्यास 'झूठा सच' (1958-60, दो भागों में प्रकाशित) केवल उपन्यास ही नहीं एक जीवन दृष्टि भी है जो इनकी समस्त उपन्यास कला के उद्देश्य के मूल में है। इस उपन्यास की प्रवृत्ति का झुकाव अधिकांशतः नायक-विहीन उपन्यास की ओर है, और इसका केन्द्रीय विषय वह समस्याएँ और परिस्थितियां ही हैं जो सारे उपन्यास को प्रभावित किए हुए हैं।[1] इन्ही

---

1. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, त्रिभुवन सिंह, पृ० 511

परिस्थितियों के कारण भारत-विभाजन के पश्चात दिल्ली की ओर आने वाली समूची पीढ़ी का जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। इस पैशाचिक तहस-नहस के बाद भी सहास और आपसी साहयता के बल पर ही वह पीढ़ी अपने को किस प्रकार नयी परिस्थितियों में फिर जमाती है, यही उपन्यास की कथा-वस्तु है।

'झूठा' सच अपने दो खण्डों में सन् 1942 से सन् 1957 तक के काल खण्ड को घेरता है, यद्यपि उसमें विस्तृत विवरण 1946-48 के काल का ही है। इस प्रकार यह उपन्यास देश के विभाजन की पूर्ववर्ती पृष्ठभूमि उसकी यथार्थ प्रक्रिया तथा परवर्ति परिणति सभी को प्रस्तुत करता है। इसके लिए लेखक ने लाहौर में भोला पांधे की गली में रहने वाले निम्न मध्यवर्गीय परिवारों और उनके विभिन्न सदस्यों के बाह्य जीवन, पारस्परिक व्यवहार, और व्यक्तिगत आचरण, सामूहिक तथा व्यक्तिगत संस्कार, चेतना और मान्यताओं के विभाजन के संदर्भ में—उससे पहले, दौरान तथा बाद में—देखा है, और फलस्वरूप होने वाले परिवर्तन या रूपान्तरण को दिखाने का प्रयास किया है।[2] इसमें कवि दृष्टि[3] का अभाव देखना, इसको अखबारों की कतरनों का बड़ा विशाल संग्रह कहना[4] या इसको देखकर युद्ध और शांति,[5] गोदान,[6] या रंगभूमि की याद करना उतना ही असंगत और बेमानी है जितना कि इसमें मार्क्सवाद घूमिल पड़ जाने पर निराश होना।[7] यों लेखक ने मार्क्सवादी चिन्तन के प्रभाव को स्वीकार अवश्य किया है, परन्तु इसे चरम सत्य के रूप में स्वीकारने से इन्कार भी किया है। डा० मदान का मत यहां विशेष महत्व रखता है। वह कहते हैं कि 'मुझे लगता है झूठ तथा सच की समस्या को इस उपन्यास में मूलतः शादी और तलाक के माध्यम से और अशंता पुरी के पतन के द्वारा उठाया गया है।[8] इस प्रकार इस मूलगत समस्या के केन्द्र में वह तमाम परिस्थितियां जो पात्रों को प्रभावित करती हैं यहां

---

1. अधूरे साक्षात्कार, नेमिचन्द्र जैन, पृ० 69-70
2. हिन्दी वार्षिकी 1960 पृ० 26।
3. अधूरे साक्षात्कार, नेमिचन्द्र जैन, पृ० 72
4. वही, पृ० 80
5. आलोचना, 27, पृ० 121-122
6. हिन्दी वार्षिकी, 1960, पृ० 80
7. आलोचना, 27, पृ० 121-122
8. आज का हिन्दी उपन्यास, इन्द्रनाथ मदान, पृ० 83

नायक का स्थान ले लेती हैं और पात्र दूसरे स्तर (सैकेण्डरी) के हो कर रह जाते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि इसमें विभिन्न राजनीतिक पहलुओं का ही विशद चित्रण हुआ है परन्तु इसमें राजनीतिक पक्ष के साथ जबरदस्त मानवीय पक्ष भी है। तारा, असद, कनक, जयदेवपुरी, सोमराज, नैयर तथा गिल, हाफिज़ जी आदि असंख्य पात्र इसमें आए हैं, जो केवल राजनितिक उद्देश्य की पूर्ति नहीं करते, वरन्, प्रेम, विवह, सामाजिक दायित्व, आचार-व्यवहार तथा सामूहिक एवं वैयक्तिक संस्कार आदि मानव-जीवन के अनगिनत पक्षों का उद्घाटन करते हैं। लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने बहुत ठीक कहा है' कि इन लोगों के माध्यम से यशपाल बड़ी सुक्ष्मता से दिखा सकने में सफल हो पाएँ हैं कि वे मान्यताएं जिनके सम्बन्ध में हमें अहंकार था कि कभी खोखली सिद्ध ही नहीं हो सकती, अवसर पाते ही कैसे नए संदर्भों से टकराकर-चूर-चूर हो जाती हैं और जीवन की सारी स्थिरता स्वयंमेव विच्छिन्न हो जाती है। वे व्यक्ति वे लोग, वे जीवन पद्धतियां, जिनमें अपूर्व आत्मविश्वास था, दृढ़ता थी—सहसा अपने मूल से अखड़कर इस प्रकार शून्य में बिखर जाते हैं कि उनका कोई अस्तित्व भी शेष नहीं रहता। गरिमा मण्डित व्यक्ति क्षण-भर में गौरव मर्यादा का प्रतीक बन जाता है, यही जीवन की विडम्बना है जो यशपाल के इस उपन्यास में राजनीतिक धरातल के नीचे-नीचे बड़ी गहराई एवं सूक्ष्म संवेदना के साथ अपूर्व वेदना एवं करुणा के साथ गतिशील होती रहती हैं, जिसका विस्फोट राजनीतिक धरातल पर तो देश के टुकड़े-टुकड़े करा देता हैं, यही 'झूठ सच' का मूल उद्देश्य है।[1]

कथानक को मुख्यतः तीन चरित्रों के माध्यम से ही देखा जाना चाहिए। पहला तारा, दूसरा उसका भाई जयदेवपुरी और उन दोनों का परिवार, तीसरा, कनक और उसका परिवार। तारा और पूरी दोनों ही एक परिवार के हैं। एक ही प्रकार की आर्थिक समस्याएं उनके सामने हैं। विभाजन की विपत्ति का पहाड़ उनके सिर पर एक ही तरह से टूट पड़ता है, फर सारे मामले में उन पर असर अलग-अलग होता है। केवल गहराई से देखने पर ही पता चलता है कि एक घटना का इतना पृथक असर दोनों पर हुआ है। तारा प्रारम्भ से ही संवेदनशील, पढ़ने लिखने में तेज, महत्वाकांक्षिणी लड़की है, शुरू से ही उसे राजनीति में

---

1. हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ,, लक्ष्मी सागर वाषणेय, पृ० 83

दिलचस्पी है। प्रारम्भ से उसके व्यक्तित्व को लेखक ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि निम्न मध्यवर्गीय लड़की के क्रमशः जाग्रत और आत्म सजग होने का प्रभाव संप्रेषित होता है। यह प्रभाव भी मुख्यतः बाह्य घटनाओं, परिस्थितियों के माध्यम से ही है। उसके प्रारम्भिक जीवन का सबसे रोचक और नियामक प्रसंग कम्युनिस्ट कार्यकर्ता (मुसलमान) असद से उसका कोमल किशोर सुलभ स्नेह सम्बन्ध है। इसको लेखक ने सम्भवतः सबसे अधिक संवेदनशीलता सूक्ष्मता, भावात्मकता के साथ प्रस्तुत किया है। क्योंकि समाज तारा और असद के प्रेम, उनके आकर्षण को बर्दाश्त नहीं कर सकता। इसलिए जबरन तारा की शादी एक अयोग्य वर से करवा दी जाती है। जल्द ही पंजाब का विभाजन हो जाता है और तारा पर बलात्कार। लाहौर से तारा किसी प्रकार दिल्ली पहुंचाई जाती है जहां कई नौकरियाँ करने के पश्चात् एक स्थायी सरकारीं नौकरी उसे कुछ राहत देती है। यहीं अंत में शिक्षित और उदार डा० प्राण नाथ से उसका पुर्नविवाह हो जाता है।

इस प्रकार कुल मिलाकर तारा के व्यक्तित्व में कम-से-कम प्रारम्भिक अंश में, एक प्रकार की आन्तरिक संगति और विश्वसनीयता है। किन्तु दूसरे भाग में तारा का स्वरूप अतिनाटकीय हो गया है और संयोग तत्वों, आकस्मिकता एवं अविश्वासनीय प्रसंगों का सहारा लेकर आदर्शवाद उस पर पूरी तरह से आरोपित कर दिया गया है। 'नब्बू द्वारा बलात्कार करने के पश्चात् उसे जघन्य यौन-व्याधि लग जाती है और वह अपने नए प्रेमी डा० प्राणनाथ से स्नेह-सम्मान पाने के बावजूद विवाह की कल्पना से कांप जाती है 'बड़ी नाटकीय परिस्थितियों को पार करती हुई वह भारत सरकार में अण्डर-सैक्रेटरी बन जाती है, इस लिए खुले रूप से इलाज भी नहीं करवा सकती। दूसरे एक नया सिर दर्द उत्पन्न होता है। तारा के इस नए व्यक्तित्व से जयदेव पुरी का अहं आहत होता है और वह सोमराज (उसका पहला पति) को उकसाता है कि वह तारा पर अपने अधिकार जताए। उच्च अधिकारी होने के नाते तारा के आचरण की जाँच होने लगती है और अन्त में वह बरी हो जाती है। डा० प्राणनाथ उसे इलाज के लिए विदेश ले जाने को प्रस्तुत होती है। यह सब स्थिति इस कदर नाटकीय हो जाती है कि लगता है बुरा कर्म करने वालों को नाटकीय जीवन प्राप्त हो, आदर्शयुक्त व्यक्तियों को जीवन के सब सुख मिलें—हरिशचन्द्र तारामती की यह कथा—आदर्श प्राप्त करने के लिए तारा की बाद की गतिविधियाँ यांत्रिक ढंग से

संगठित की गई हैं।[1] इस प्रकार पहले भाग का उसका व्यक्तित्व नायकत्व पद के लिए वंचित होकर रह जाता है ।

वस्तुतः यहाँ भी मुख्य समस्या प्रेम और विवाह ही है। तारा हिन्दू है और असद मुसलमान, जबकि पुरी प्रगतिशील विचारों का होते हुए भी उन दोनों की शादी बर्दाश्त नहीं कर सकता और तारा को निराश होना पड़ता है। प्रेम और विवाह की यही समस्या तारा के डा० प्राणनाथ से विवाह करवाने तक उपन्यास के ऊपर छायी मिलती है ।

दूसरे पात्र जयदेव पुरी है जिसके व्यक्तित्व में उतार चढ़ाव और विविधता अधिक है, पर उसमें आन्तरिक संगति नहीं। अभाव-ग्रस्त परिवार से न होने के नाते वह ट्यूशनें भी पढ़ाता और लड़कियों से प्यार भी करता है। सामाजिक विषमता के कारण, अपने अभावग्रस्त परिवेश से त्रस्त जहां वह सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन चाहता है वहीं नए आदर्श स्थापित करने की चाह भी मरती नहीं। जात-पात, पहले पहल तो उसके लिए कोई माने नहीं रखते बाद में जाकर यह सब कुछ जैसे उसका अभिन्न अंग बनते जाते हैं। विषम परिस्थितियों के बीच वह अदम्य संघर्ष भी करता है और परिस्थितियों के आगे हारता भी है, परन्तु आसानी से टूटता नहीं। उसमें जीवन के प्रति एक गहरी आसक्ति है जो निराशा के घोरतम क्षणों में भी जीने का बल देती है।[2] भारत के बंटवारे में ऐसे कई अवसर आते हैं जब वह उनका मुकाबला करता हुआ विजयी भी होता है और हारता भी है।

पहली कहानी उसकी कनक से प्रेम की कहानी है और दूसरी उर्मिला के प्रेम की। कनक से प्रेम होते हुए भी वह उर्मिला से शारीरिक सम्बन्ध रखता है और उससे 'गन्धर्व' विवाह कर लेता है। फिर जल्द ही उर्मिला के गर्भ में अपनी सन्तान छोड़ कर वह कनक से शादी कर लेता है। क्योंकि कनक यौन दृष्टि से उससे सबल है इस लिए वह उसे भी जल्द तलाक दे देता है। अन्त में सूद के साथ मिलकर वह पूंजी पति बन जाता है। यहां आकर उसका स्वरुप हम एक दम पहले से बदला हुआ देखते हैं। स्पष्टतः कहें तो गिल के शब्दों में कह सकते हैं—

---

1. हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ, लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, पृ० 86
1. विवेक के रंग-कुंवर नारायण, पृ० 280

वह अब बंटवारे के पहले का कठोर नहीं रहा है। अब वह कुछ पूंजी वाले की भांति सोचता है अब उसे सब ओर अवसर की कमी और व्यवस्था में विषमता नहीं दिखाई जान पड़ती। उसे अब परिवर्तन और न्याय की नयी धारणाओं की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। उसकी जड़ें जम रही हैं। अब तक उल्टफेर के विचारों से घबराता है।[1] वस्तुत: अपनीं विरोघाभास प्रवृति के कारण पुरी आरम्भ से ही अपने बदलते स्वरूप के संकेत देने लगता है। प्रगतिशील विचारों का होते हुए भी वह अपनी बहन की शादी उसके मुसलमान प्रेमी असद से नहीं होने देता, जबकि वह स्वयं कनक को चाहता है और उससे मिलने के लिए तारा को माध्यम बनाता है। यहां यह बात ध्यान योग्य है कि कनक ओर पुरी दोनों विभिन्न जातियों से हैं जबकि तारा के प्रेम की बात सुनकर वह उबल पड़ता है और धक्का देकर उसे गिरा देता है। उसके खून निकलने पर वह एक बहाना बना देता है इस तमाम बातों से तारा की प्रतिक्रिया द्वारा उसके विरोघामास की स्थिति अधिक स्पष्ट होती है—'दूसरों की लड़की को चोरी से संदेश भेजकर बुलाने में इनकी इज्जत नहीं बिगड़ती। परिवार की सब इज्जत मेरे ही बलिदान में है। यही न्याय, सत्य, देशभक्ति और हिन्दु-मुस्लिम एकता है।[2] तारा तब अपने भाई को प्रतिक्रियावादी कहती है। उसे अब ऐसा लगता है कि पुरी भी अपने सिद्धान्त में थोथा है। तारा पहले उसका अनुकरण करती थी, उसे आदर्श समझती थी, पर बाद में जाकर वह उसे ढ़ोंगी और केवल बात का धनी समझने लगती है। पुरी जब पड़ोसियों को समझाता है कि हिन्दु-मुसलमान साथ-साथ रहेंगे चाहे मुस्लिम लोग की मिनिस्ट्री बने चाहे कांग्रेस की। इस पर तारा का मन वितृष्णा से भर जाता है और वह कह उठती है 'वाह रे पाखण्ड। कैसे निबाहने वाले हैं? इससे अच्छे तो रतन जैसे हैं जो अन्दर ओर बाहर से एक है, दुश्मन समझते है तो मित्रता का पाखण्ड नहीं करते। ऐसें झूठे, जहरीले लोगों के सम्पर्क से तो मृत्यु अच्छी है।[3] यूं प्रथम भाग में पुरी का व्यक्तित्व थोड़ी-बहुत गरिमा का आभास अवश्य देता है, जब उपन्यास के प्रारम्भ में गांधीवादी पुरी को हम जेल में देखते हैं तो लगता है यह चरित्र उपन्यास में इतना होगा कि नायक की सारी विशेषताएं इसे छू जायेंगी। तब उसकी उग्रता आवेश, विद्रोर, भावना तथा सक्रियता सभी

---

2. वही, वही, पृ० 532
1. झूठा; सच, यशपाल, पृ० 249
2. वही, पृ० 252

कुछ परिस्थितियों के संदर्भ में यथार्थ प्रतीत होती है, किन्तु दूसरे भाग में आते जाते उसका स्वरूप बदल जाता है। उसकी संगति पहले भाग से बिल्कुल नहीं बैठती। वह विविधता ग्रस्त तथा अनिश्चित मन से रचा हुआ लगने लगता है जैसे दूसरे खण्ड तक पहुंचते-पहुंचते लेखक ने उसके व्यक्तित्व को दूसरी ओर ले जाने का निश्चय कर डाला हो। नेमिचन्द्र जैन की बात ठीक लगती है कि उसका (पुरी का) परिवर्तन मनोविज्ञान की दृष्टि से सम्भव होने पर भी कलात्मक सार्थकता की दृष्टि से अस्पष्ट और अनावश्यक लगता है। शायद इस परिवर्तन की आवश्यकता उसके व्यक्तित्व की अपेक्षा कलाकार को अधिक हो।[1] इसी लिए तारा के प्रति उसका आक्रोश, जिस किशोर-सुलभ ढंग से उसका सोमराज को अपनी सगी बहन का सुखमय जीवन नष्ट करने के लिए भड़काना अयथार्थ लगता है जिसका कोई भी ठोस आधार यशपाल नहीं दे पाते। इसी तरह जालन्धर में उर्मिला तथा कनक से एकाएक उसका विमुख हो जाना, या उनके प्रति उसके भावों और व्यवहार में गिरावट का आना जहां उसके व्यवहार में बड़ी जल्द बाजी दिखाता है वहीं उसकी परिणति को आरोपित भी बना देता है।

इस प्रकार पुरी-कनक का प्रेम, उनके विवाह में सामाजिक तथा आर्थिक बाधाएं, पंजाब-विभाजन की घटनाएं, कनक की दृढ़ता और पुरी मे विवाह, राजनैतिक विशारद सूद जी की कृपा से पुरी का आर्थिक उत्थान और चारित्रिक पतन तथा अन्त में कनक से सम्बन्ध विच्छेद आदर्शवादी पुरी का कथानक के सूक्ष्म ताने बाने द्वारा धीरे-धीरे नायक पद से गिरना उपन्यास की उल्लेखनीय मनोवैज्ञानिक सफलताओं में माना जा सकता है।[2] डा० मदान ने इस बात को यों लिया है, क्योंकि पुरी के संस्कार पुराने पड़ गए है इस लिए लेखक उसके व्यक्तित्व का विरोध भी करता है। पुरी के चरित्र को परिस्थितियों के दास के रूप में अंकित किया गया है, जो धन की अमोघ-शक्ति से पराजित होकर पतनशील हो जाता है। वह पुरी के सैक्स और जीवन में मार्क्सवादी चिन्तन धारा के साथ फ्रयडियन विचारधारा का भी प्रभाव मानते हैं। कनक से पुरी की विरक्ति तथा उर्मिला से उसकी आसक्ति का विवेचन उनके अनुसार मनोविश्लेषणात्मक धरातल पर हुआ है। इस तरह उन्हें यशपाल की दोनों चिन्तन धाराओं का प्रयोग

1. अधंरे साक्षात्कार, नेमिचन्द जैन, पृ० 78
2. विवेक के रंग-कुंवर नारायण, पृ० 284

तो मिल जाता है परन्तु उनको इस बात की शिकायत है कि पुरी की हीन भावना का संकेत तो बार-बार दिया गया है, परन्तु उसकी अपराध भावना का एक बार भी नहीं। यह अपराध भावना उर्मिला के गर्भ में पुरी की सन्तान होने का परिणाम है। इस तरह यह शिकायत अपने आप में सही और सार्थक लगती है। इसके अतिरिक्त पुरी का व्यक्तित्व मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अंकित हुआ है। यौन दृष्टि से कनक उससे सबल है, वह उसको सन्तोष तो नहीं दे सकता, उसका अपमान ही कर सकता है। इसलिए भी वह कनक को पीड़ित करता है। पुरी का व्यक्तित्व सरल न होकर विसंगतियों का पुंज है और लेखक की सहानुभूति से वंचित रह जाता है। लेखक की सहज-सहानुभूति या तो नारी से है या साम्यवादी एवं उदार विचारों के पुरुष से।[1]

इसमें तीसरा पात्र कनक है जो तारा और पुरी के परिवेश से एकदम भिन्न परिवेश की है। वह अर्द्ध-आधुनिक शिक्षा-दीक्षा लिए युवती है। इन दोनों की अपेक्षा कनक का व्यक्तित्व इस अर्थ में जटिल माना जा सकता है कि वह एक ऐसे वातावरण में पली है जिसमें पाश्चात्य और भारतीय संस्कृतियों का आभिजात्य गोलमाल है। पुरी के प्रति उसका अदम्य आकर्षण बड़ा सतही और अपर्याप्त है। उसकी भावनात्मक अभिव्यक्ति भी कुछ अधिक मुखर है जो कनक के व्यक्तित्व को कोई ऊंचा आयाम नहीं पाने देती। परवर्ती जीवन में वह और भी सामान्य और वैशिष्ट्यहीन हो जाती है, और अपने ढंग से जीवन के उलझते जाने पर भी उसकी कोई छाप नहीं रहती। ऐसा लगता है पुरी और कनक का विच्छेद और कनक को गिल के हवाले कर देने की बात लेखक के साम्यवादियों के प्रति अनुचित पक्षपात के लिए की गयी है। इससे लगता है कि लेखक यह प्रर्दशित करना चाहता है कि कम्युनिस्ट ही पढ़ी-लिखी स्वाधीन-चेतन नारियों का ध्यान आकृष्ट कर सकते हैं और वे ही किसी नारी का पूर्ण परितोष भी कर सकते हैं।

प्रायः इसी तरह लेखक शादी और तलाक के माध्यम से अपने ही ढंग से 'झूठा:सच' की केन्द्रस्थ समस्या का समाधान देते हैं। तारा-सोमराज, तारानाथ, कनकपुरी, कनक-गिल को छोड़कर और भी बहुत से जोड़ें हैं जो शादी और तलाक जैसे दो महत्त्वपूर्ण छोरों में अशांत और उद्विग्न हैं। शीला-मोहनलाल,

---

1. आज का हिन्दी उपन्यास, इन्द्रनाथ मदान, पृ० 86

शीला-रतन, मर्सी-चड्डा, सीता-अनाम युवक, राजेन्द्र-उषा, कंचन-नरोत्तम, श्यामा-डे, उर्मिला और मोंगिया जिनमें प्रमुख हैं। तारा का पति सोमराज अपनी भाभी को ही अपने घर डाल लेता है। बन्ती अपने पति से तिरस्कृत होकर उसकी दहलीज पर अपना सिर पटक कर मर जाती है। इस प्रकार ये पात्र अपने जीवन के अनेक पहलुओं को लिए कभी विवाह से पूर्व और कभी विवाह के पश्चात् अपनी नियति के लिए छटपटाते मिलते हैं। कई बार उनका स्वरूप स्वाभाविक हो जाता है, कई बार वही आरोपित होकर रचना में दरारें डालने लगता है। यहां डा० मदान के इस मत से सहमत होना पड़ता है कि यशपाल विवाह को एक सामाजिक बन्धन के रुप में स्वीकार नहीं करते, वह उसे एक वैयक्तिक सम्बन्ध के रूप में मान्यता देते हैं। यदि कनक तथा पुरी के विवाहित जीवन में सार नहीं रहा, तारा और सोमराज के विवाह का आधार नहीं रहा, शीलां तथा मोहनलाल का गठबन्धन शिथिल पड़ चुका है तो नारी को पूरा अधिकार है कि वह अपना नया सम्बन्ध स्थापित कर सके। इस तरह वह नारी को शोषित मानकर उनकी वकालत करते हैं। इसमें ही सामाजिक न्याय है और यही सच है, यशपाल की दृष्टि में शेष झूठ है।[1]

इसी प्रकार लेखक की दृष्टि अन्त में जाकर भी आरोपित और विषम होने का संकेत देने लगती है, जब डा० नाथ से यह कहलवाया जाता है कि जनता सदा मूक भी नहीं रह सकती। देश का भविष्य नेताओं और मत्रियों की मुट्ठी में नहीं है, देश की जनता के हाथ में है। इसी तरह सूद और पुरी का पतन पूंजीपति ह्रासशील शक्तियों की पराजय दिखलाने और भविष्य के बारे में संकेत करने की तैयारी मात्र लगता है। इस तरह झूठःसच का अन्तिम स्वर, जो विषम है, गौण रुप में राजनीतिक भी है।

'झूठा सच' में इस प्रकार अनेक पात्रों के होते हुए भी कोई ऐसा सशक्त पात्र नहीं जिसे हम नायक पद के लिए रेखांकित कर सकें। कभी तारा, कभी पुरी और कभी कनक एक दूसरे को काटने का अवश्य प्रयत्न करते हैं परन्तु उनकी स्वाभाविकता लेखक के पूर्वग्रहों के आगे कृत्रिम होकर रह जाती रही है। इसका परिणाम पात्रों का नायकत्व गुणों से विभूषित मात्र होकर ही रह जाता है। यदि इसे और स्पष्ट ढंग से कहे तो कुंवर नारायण के शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है, 'कम से कम 'झूठा सच' में ऐसा कोई चरित्र नहीं जो

1. आज का हिन्दी उपन्यास, इन्द्रनाथ मदान पृ० 83

किसी सूक्ष्म आत्ममन्थन में गुजरता हुआ दिखाई दें। चाहे वह क्रमशः अपने आदर्शों से गिरता हुआ नायक जयदेव पुरी हो, चाहे बिना किसी आदर्श के भी एक आदर्श नायकत्व की ओर उठती हुई उसकी बहन तारा हो, चाहे पुरी से अपना वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ती हुई कनक हो— वे सब जीवन के प्रति एक बिलकुल, दैनिक और व्यवहारिक दृष्टिकोण रखकर चलते हैं। किसी भी परिस्थिति में उनका ध्यान तात्कालिक सामाजिक या पारिवारिक या आर्थिक कठिनाइयों के आगे उन जटिलतर प्रश्नों की ओर नहीं जाता जिनका सम्बन्ध हमारे अस्तित्व की बुनियादी मजबूरियां से है।[1] क्योंकि प्रायः सभी पात्र परिस्थितियों से इस कदर प्रभावित है कि उनका समूचा स्वरूप ही उन्हीं पर निर्भर करता है इसलिए वह सजीव (मानव) का नायक का स्थान प्राप्त कर लेती है। तब हम न तो तारा को और न ही पुरी तथा कनक पर अंगुली रख कर यह कह सकते हैं कि फलां (यह) इस उपन्यास का नायक है।

यही नहीं यह उपन्यास अपने विशालकाय गर्भ में अनेक (टिपीकल) चरित्र और देशीय प्रसंग आत्मसात किए हुए हैं। पहले भाग में लाहौर की गलियों में पलती विचारधारा उस समय के सम्पूर्ण भारतीय परिवार का इतिहास है। उपन्यास का पहला भाग जिसे वतन और देश नाम दिया गया है, भारत के बंटवारे का सही लेखा-जोखा है। वस्तुतः यह उपन्यास ही नहीं एक एलबम भी है जिसमें प्रत्येक चित्र बोलते नजर आते हैं। जहां तक विभाजन की घटना के दृश्यों तथा परिणामों का सम्बन्ध है इनमें जीवन की पाश्विकता तथा वीभत्स अधिक उभरा है। उपन्यास में कहीं लाशें बिखरी पड़ी हैं, कहीं असहाय बोझ से लदी गाड़ियां हैं, कहीं उखड़े हुए मुसलमानों के काफिले और हिन्दुओं के दल है, कहीं साम्प्रदायिक नारों की गूंज तो कहीं आग की लपटें हैं, कहीं उड़ती जनता की पुकारें हैं तो कहीं भीड़ों की अनुभूति है, कहीं सूनेपन की, कहीं नेताओं के सन्देश हैं तो कहीं सुधारकों के उपदेश। इस प्रकार साम्प्रदायिक संघर्ष, राजनीतिक संघर्ष और प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार, राजनीतिक दलों की स्थिति और उनके क्रिया-कलाप, आम चुनाव, काश्मीर पर हुआ आक्रमण, गांधी हत्याकाण्ड, योजना आयोग, गांधी जी का आमरण अनशन, काकोरी कांसपीरेसी केस के क्रांतिकारियों के अनशन, नाविक क्रांति आदि का भी प्रासंगिक उल्लेख

1. विवेक के रंग, कुंवर नारायण, पृ० 281

किया है, जो ऐतिहासिक घटनाएं हैं।[1] कुल मिलाकर यह उपन्यास एक असाधारण घटना की कहानी है, एक भूचाल की कहानी है और मानवता में छिपी पाश्विकता की गाथा है। पहले भाग में वतन से उखड़े लोगों को दूसरे भाग में देश में वसने का, स्थापित होने का स्थान भोला पांधे की गली से हर सम्भव अर्थ से भिन्न दिल्ली है। जहां पर उस गली के प्रायः सभी सदस्य और उनसे जुड़े हुए अन्य व्यक्ति अपने जीवन को नया आधार, नया अर्थ देने, नया भविष्य खोजने और रचने के लिए प्रयत्नशीय दीख पड़ते हैं। इस प्रकार 'झूठा सत्र' एक भयंकर विस्फोट के फलस्वरुप एक छोटी-सी गली से बढ़कर महानगर वन जाने की तीखी यातना भरी यात्रा की कहानी है।

'कब तक पुकारूं' : रांगेय राघव

सन् 1958 में रांगेय राघव का 'कब तक पुकारू'' नामक विशाल काय उपन्यास प्रकाशित हुआ, जिसका पहला नाम 'अधूरा किला' था।[2] इसमें करनटों की जीवन-गाथा प्रस्तुत की गई है जिसका नायक सुखराम कुछ साल पहले जीवित था। उसका जन्म खानाबदोश घराने में हुआ। उसका पालन-पोषण उस समाज में हुआ जो घोर उत्पीड़ित है और शोषण का शिकार है। जहाँ न तो इनके सामाजिक नियम ही शाश्वत होते हैं और न उनकी नैतिकता के बन्धन ही। अपनी इस स्वच्छन्द नैतिकता में इनके मर्द औरतों को वेश्या बना कर या तो उनके द्वारा धन कमाते हैं या अधिकतर चोरी करते हैं। इनकी औरतें डोमनियां (बेड़िने) प्रायः अपने पति से चुरा कर ऊंची जात वालों से नाजायज़ ताल्लुक रखती हैं। जिन बेडियों और करनटों के पत्तल मेहतर तक नहीं उठाता, उन्हीं बेड़ियों के साथ ठाकुर एक प्याले में शराब पीता है और पूछने पर कहता है कि हम उनमें लीन हो जाते हैं भला-बुरा काम करते हैं।[3] जहां सारा परिवेश सारी व्यवस्था ही अपने अंधविश्वासों पर जमी हुई है, जहाँ मरघटों को जगाया जाता है, बलि दी जाती है, मद्यपान, बहुपत्नी प्रथा है, स्त्रीहरण, गर्भपात और कत्ल जैसी वारदातें मामूली चीजें हैं, जहां बलात्कार और चोरी

---

1. हिन्दी के राजनीतिक उपन्यासों का अनुशीलन, सागर विश्वविद्यालय, की डी. फिल. उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध-व्रज भूषण सिंह 'आदर्श' पृ० 216।
2. कब तक पुकारूं, रांगेय राघव, पृ० आमुख
3. 'आलोचना'—35

डाके में खुद पुलीस साथ देती है उसी परिवेश में जन्मा सुखराम अपने को ठाकुर कहता है और उच्चजाति के समान रहने का प्रयत्न करता है। इस परिवेश में उच्च जाति के अधिकार को पाने का संघर्ष ही उनका अपना संघर्ष हो सकता है जिसमें उसके स्वरूप विकास को देखा जा सकता है। यों उसके संघर्ष की चार पीढ़ियां हैं जिसमें तीसरी पीढ़ी के संघर्ष का दावेदार सुखराम है। वह स्वयं को अधूरे किले का मालिक (ठाकुर) समझता है। डा० मदान के शब्दों में नयी का जाया होने पर भी उसका अहं इतना सबल है कि वह डटकर सब का विरोध करता है—पुलिस का, उन सब शक्तियों का जो उसके अहं को तोड़ना चाहती हैं। इसमें गुण्डों तथा डाकुओं से मुठभेड़ लेने की निडरता तथा वीरता भी है, लेकिन प्यारी और रुस्तम खां के सामने झुक जाने की विवशता तथा निरीहता भी है जो इसके व्यक्तित्व का मानवीय पक्ष है।[1] सुखराम के ठाकुर बाप तथा नटती माँ की मृत्यु के पश्चात उसकी शादी प्यारी (नटनी) से हो जाती है। नटों में उसका जीवन व्यतीत होने लगता है। जहां कंजरों के गीत गूंजते थे और वहाँ ठण्ड में गरमाई लाने के लिए कपड़ों के स्थान पर पौरुष ओर स्त्रीत्व एक दूसरे को तृप्त करने का यत्न किया करते थे।[2] प्यारी रुस्तम खां की रखैल बन जाती है। सुखराम कजरी को अपनाये हुए भी प्यारी की ओर आकर्षित रहता है। सुखराम और प्यारी के सम्बन्धों में यहाँ रोमांटिक बोध के दर्शन होते हैं।

वस्तुतः सुखराम का व्यक्तित्व बहुमुखी है। सदा ठाकुर बनने का संघर्ष उसे चैन नहीं लेने देता और वह बार-बार जुलम सहता है। इस जुलम के एक साँस में भी उसमें मानवीयता के पक्ष को भली प्रकार देखा जा सकता है। घूपो चमारिन को जूतों से बचाना, हिरणी को उसका बच्चा वापिस कर देना, रुस्तम खाँ की सुजाक पीड़ा की दवा करना, पड़ोसिन की मदद और डाकू को केवल दरोगा को मारने को कहना ही जहाँ उसके बहुमुखी व्यक्तित्व को दर्शाते हैं वहीं उसके स्वरूप को भी विकसनशील बनाते हैं। सुखराम यों मानव ही है, कमजोर मानव, झूठ भी बोलता है और पत्नी को रुस्तम खाँ की रखैल भी बनने देता है। परन्तु उसे बार-बार लगता है उसका मानवीय पक्ष अधूरा है, क्योंकि उसका परिवेश तब भी उसे चैन नहीं लेने देता। वह डाकुओं के सरदार

---

1. आज का हिन्दी उपन्यास, इन्द्रनाथ मदान, पृ० 78
2. कब तक पुकारूं, रांगेय राघव, पृ० 29

से कहता भी है—'मैं किसी का बुरा नहीं चाहता सरदार, मैं दुश्मनी नहीं रखता, पर लोग जीने क्यों नहीं देते ।[1] सुखराम यह शब्द जीवन के उस बिन्दु के मोहभंग के संकेत है जहाँ दुनिया ढकोंसला और भलाई बुराई बन जाती है। परन्तु वह फिर भी नहीं हारता, उन मोहभंग के क्षणों में भी वह कजरी और प्यारी की सहायता करता है, जब वह दोनों मिलकर रुस्तमखाँ को मार देती हैं और स्वयं आग से घिर जाती हैं । मेम सूसन अपने पिता के साथ जव इंगलैंड वापिस चली जाती है तो काफी देर वाद उसकी लड़की ठाकुराईन होने का और 'अधूरे' किले की मालकिन होने का दावा करती है। परन्तु सुखराम चूंकि क्राईसिस के उस बिन्दु पर है जहाँ उसका मोहभंग हुआ है और वह कुछ नहीं पा सका अतः वह सूसन की लड़की का गला घोंट कर उसे मार देता है और चोथी पीढ़ी के उस अधिकार को सदा-सदा के लिए समाप्त कर देता है ।

लेखक ने वस्तुतः आधुनिकता की चुनौती को इस उपन्यास में समष्टि सत्य के आधार पर स्वीकार किया है—'शोषण की घुटन सदैव नहीं रहेगी । मानवता पर से यह बरसात एक दिन अवश्य दूर होगी और जब नयी शरद में फूल खिलेंगे, नया आनंद व्याप्त हो जाएगा ।[2] इस प्रकार अवसर मिलते ही अपनी टीका करने लगते हैं जब यह टीका कहानी से अनायास निकलने लगती है तो यह सृजन-प्रक्रिया का अंग होने का आभास देती है—परन्तु जब यह निकाली जाती है या आभास होता है तो इसका अखरना स्वाभाविक है ।[3] लेखक ने इस सब के प्रकाश में सुखराम के नायक के माध्यम से करनटों का चित्रण करते हुए उनकी नैतिकता को समाज का आदर्श बना कर प्रस्तुत ही नहीं किया वरन् उन्होंने पाठकों को इसमें व्याप्त सैक्स सम्बन्धी जानकारी देने का प्रयत्न भी किया है ।[4] लेखक ने आमुख में माना है कि असली गाँव भारत में है, जो आज भी मध्यकालीन विश्वासों से ग्रस्त हैं । वे विश्वास, मध्यकालीन, आर्थिक व्यवस्था से नियंत्रित हैं। इसमें इनको प्रकट करने का यत्न किया है । हो सकता है कि कुछ विशेषताएं राजस्थान की ही हों । इस प्रकार लेखक ने सुखराम के माध्यम से सैक्स और अन्धविश्वास को वाणी देनी चाही है । अन्धविश्वासों में पले सैक्स

---

3. वही, वही, पृ० 456
1. कब तक पुकारूं, राँगेय राघव, पृ० 628
2. आज का हिन्दी उपन्यास, इन्द्रनाथ मदान, पृ० 79
3. कब तक पुकारूं, आमुख

की जानकारी देने वाला सुखराम नायक अन्त में चंदा का गला घोट कर अपने अंधविश्वास की जानकारी दे जाता है। उसका स्वरूप उच्च जाति के संघर्ष में ही आँका जा सकता है जहां उसका संघर्ष उसके जीवन विडम्बना बन जाता है, जहाँ सशक्त परिवेश में दृढ़ संस्कारों की विजय होती है। अन्त में कातिल सुखराम का पुलिस को आत्म सर्म्पण उसका आत्म सर्म्पण न होकर उन सब हजारों लोगों का आत्म सर्म्पण हो जाता है जो अब भी भारत के किसी भू-भाग में इन अन्धविश्वासी कुरूपताओं में जी रहे हैं, जहाँ उनकी नियति मात्र जेलों में सड़ने की है और उनकी पत्नियों की दूसरों की रखैलें बनने में है।

'सारा आकाश' : राजेन्द्र यादव

राजेन्द्र यादव का यह उपन्यास बिना उत्तर वाली दस दिशाओं तथा प्रश्न पीड़ित दस दिशाओं अर्थात् पूवार्द्ध और खण्डों में विभक्त है। जहाँ उपन्यास का नायक अपने प्रश्नों के उत्तर के लिए छटपटाता है और प्रश्नों का उत्तर अन्त तक न पाकर अर्थहीनता, प्रश्न चिन्हों की निरन्तरता में आत्महत्या-सा करता लगता है। इस उपन्यास का नायक समर स्वरूप विकास की दृष्टि से कई पड़ाव पार करता है। वह एक निम्न मध्यवर्ग में पला आदर्शवादी युवक है। क्षयी परम्पराओं का भार ढोता वह कापुरुष की ही भूमिका निभाता है। सर पर चुटिया, ढीले ढाले कपड़े और हजारों निम्न मध्यवर्म के लड़कों की भाँति आँखों में भविष्य के उज्जवल सपने संजोय हुए है। अन्त में मोहभंग की स्थिति है जहाँ यथार्थ की दीवारों से टकराकर उसके कच्चे आदर्शों के स्वप्न रेत की दीवारों की भाँति भुर भुरा जाते हैं।

अभाव ग्रस्त परिवार, जहां परिवार अधिक और पैसा कम है। सीलन और अन्धेरे में चीथड़ों से ढके शरीर को छिपाये जहां संयुक्त परिवार की सास बहुएं काम करती है, और जहां नून, पानी तेल और चाबियों को लेकर घण्टों घर में महाभारत मचा रहता है। जहां अन्ध विश्वासों पर जान दी जाती है। जहां की कसैली हवा रिश्तेदारों में झगड़े करवाती है, जहां औरत केवल घर की दासी समझी जाती है। वस्तुतः जहां शादी के नाम पर बरबादी डैने फैलाये है वहीं समर जब अपने जीवन का प्रथम प्रभात देखता है उसे महान् आश्चर्य होता है। उसकी आगे की पढ़ाई और ऊंची उड़ान के स्वप्न उसकी आंख का पानी बन कर रह जाते हैं। और रह जाता है धुंधलकापन और ऊब। मैट्रिक पास करने से पहले

ही वह अपने भविष्य के सात फेरे ले लेता है और अपने सुनहरी भविष्य को घुटन की कैद दे डालता है। परन्तु जल्द ही वस्तु स्थिति यह नहीं रहती और भविष्य की योजनाएं पूरी न होने पर हम उसे स्वयं के अहं की गंध से घिरा हुआ पाते हैं। अपनी मैसोक्स्टि प्रवृति के कारण वह अपने प्रिय को दु:ख पहुंचाता है। पत्नी को अधिक से अधिक दु:ख देता है और जब पत्नी पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती तो पागल-सा पार्कों और सड़कों में घूमता है, पत्नी के विरुद्ध षडयंत्र रचता है। यहां मानसिक शांति उससे कोसों दूर लगती है और वह छटपटाता है। बोर्ड की परीक्षा दे कर वह स्वयं को एक बार पुन: दीशाहीन समझता है।

पत्नी उसकी इच्छा से नहीं बल्कि माता पिता की इच्छा से आयी है। अत: उसका पत्नी पर कोई अधिकार नहीं। खोखला आदर्श और परम्पराओं को न मानने वाला खोखल चढ़ा कर धुरीहीन व्यक्तित्व लिए वह अपनी पत्नी को इसलिए डांटता है क्योंकि माँ के कहने पर वह पर्दा नहीं करती। गाल पर तमाचा इस लिए मारता है कि माँ के अनुसार उसने मिट्टी के डेले से बर्तन साफ कर दिये हैं जो कि पण्डित द्वारा 'गणेश' बना दिये गए थे। कोरी भावुकता, अहं परिवेश की खीझ और सनक में वह जीता और बढ़ता है।

दिवाकर के यहां शिरीषभाई का सम्पर्क उसके स्वरुप विकास को एक नयी दिशा देता है। इस का परिणाम संस्कारों का त्याग तथा चुटिया कटाने में होता होता है। पत्नी का प्यार तो उसे बहुत बाद में मिलता है। इतना अवश्य होता है कि तालाक, भाई बहन का प्रेम, समाज, संस्कार, आत्मा, परमात्मा, धर्म परिवार से अलग रह कर भी क्या मनुष्य का व्यक्तित्व सम्भव है। इस प्रकार के प्रश्नों पर शिरीष से उसकी लगातार बहसें होने लगती हैं।

पत्नी के प्रति ईर्ष्या की भावना, माँ बाप के प्रति उसका विद्रोह सब उसके परिवेश के कारण कहे जा सकते हैं। घर में उसकी चाहना के उलट होता रहा है गाली और थप्पड़ उसे अपने से लगते हैं। भाभी और माँ के ताने उस दम घोंट वातावरण को और भी कसैला कर जाते हैं। बहुत बाद में पत्नी का सच्चा प्यार और उसकी अतृप्त वासना उसके अहं का एक एक पंख नोच लेती है। बत पत्नी के प्रति अहं पंख विहीन पक्षी की भांति रह जाता है। तब वह चुम्बन लेता है और पत्नी रत हो जाता है।

भाभी, मां और भाइयों के प्रति उसे कतई हमदर्दी नहीं। वह असंगतियों का पुंज-सा बना, सब के व्यंग्य सहता जीता कम है, रोता झींकता अधिक दिखाई देता है। पिता की ठोकर खाकर उसका अवचेतन उभरता अवश्य है परन्तु उसके पीछे शिरीष के रूप में लेखकीय अभिव्यक्ति का लेपा अधिक लगता है। तब वह पिता के सामने स्पष्ट रुप से घर छोड़ने की धमकी भी देता है।

संयुक्त परिवार को तोड़ने का प्रयत्न उसका अपना प्रयत्न नहीं, वह सब शिरीष भाई के उपदेशों की देन है। उसका अपना शायद कुछ भी नहीं—जो है वह सब थोथा, घिनौना झर्झर, फटे जूते की भांति है जिसे फैंका भर जा सकता है, संजोया नहीं। तब धीरे धीरे सब मान्यताएं, सब क्षयी परम्पराएं अन्ध विश्वास और सामाजिक खोखले विधान टूट-टूट कर ढुहों के रुप में उसके सामने बिखर जाते हैं। तब आत्मा नाम की चीज़ उसे मात्र अभ्यास, प्रभाव, परम्परा, नकल आदि संस्कारों की जमा पुंजी लगने लगती हैं। ऐसे संस्कार जो रेल के डिब्बे में आराम से बैठे हुए मुसाफिरों की तरह होते हैं। भरे हुए डिब्बे में आप घुसने की कोशिश कीजिये। अंदर वाला हर आदमी आपको बाहर धकेलेगा, कोशिश करेगा कि आप भीतर न आने पायें। लेकिन आपको भी तो आवश्यकता है, सो लड़-भिड़ कर जैसे-तैसे आप भीतर घुस जाते हैं, एक बार जहाँ आपने अपने आप को भीतर वालों से स्वीकृत कराया कि सारा विरोध समाप्त हो जाता है। आप भी उनमें से एक हो जाते हैं। और थोड़ी देर में हालत यह आ जाती है कि जिस जगह को आपने बुरी तरह युद्ध करके हासिल किया था, एकाध घण्टे बाद उस जगह को छोड़ कर कहीं बाहर हो भी आये तो आपकी जगह सुरक्षित ही रहती है।[1] इन दोनों विचारों से छुटकारा पाते ही उसे आर्थिक हालात झकझोर देते हैं। एक चोट के बाद जब भी वह उठा उसे दूसरी चोट ने धाराशाही किया। अन्ततः घर वालों द्वारा पहुंचायी गई पीड़ा, विक्षोभ और घृणा ने उसे यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि व्यक्तित्व का विकास संयुक्त परिवार के टूटने में सम्भव हो सकता है।

बहन मुन्नी की मौत को वह पूर्णतयः घर वालों की गलती मानता है, जो वस्तुतः मध्यवर्गीय अभिशाप का अंग हैं। वर्षों से पहले मुन्नी की ससुराल में न जाने की जिद्द पर भी और उसकी मृत्यु के पश्चात् भी वह कुछ नहीं कर पाता। मुन्नी को मार दिया गया, यही शब्द वह दुहराता अवश्य है परन्तु कुछ भी कर सकने की सामर्थ्य न होने पर वह बहुत दूर चला जाना चाहता है। जहां कुछ

भी न हो, चाहे वह शुन्य ही हो। गाड़ी की लाईन के पास खड़ा कभी वह वम्बई भागने की और कभी संन्यास लेने की बात, कभी आत्महत्या की वात सोचना उसके उस मोहभंग का उस दिशाहीनता का संकेत है जहां एक भटकाव, एक उलझाव, एक मध्यवर्गीय अभिशप्तता है जहां आज का मध्यवर्गीय इन्सान कुछ भी नहीं कर सकता। उसकी नियति क्या है, उसे कहां जाना है, वह कुछ नहीं जानता। अन्त में दो विरोधी दिशाओं की ओर जाने वाली गाड़ियों के बीच मूर्छित हो कर गिरना होरी[1] के समान है जिसका आदर्श यथार्थ से टकरा कर चूर हो गया था। अन्तर इतना है कि होरी की वह पूर्ण मृत्यु थी जबकि समर नीम पागल की-सी अवस्था में है, जैसे कोई भारी ट्रक किसी रेतीली और फुसफुसाती धरती में जाकर फंस गया हो। इंजन धूं धूं करहा रहा हो, घर्र घर्र पहिये घूमते हों, लेकिन ट्रक वहीं खड़ा रहे, और पहाड़ जैसे वगूले आसमान तक छा जायें। शक्ति जवाब दे जाए। तब सांस घुटती है और जी घबरा-घबरा कर रह जाता है। वातावरण में छायी यह धूल—धूल गतिहीन धूल . ।[2] यही उसकी अवशता है।

वस्तुतः आज का मध्यवर्गीय इन्सान इन सब को भोग रहा है और जी रहा है। उस वातावरण में जहां का परिवेश उसके व्यक्तितव के विकास के लिए एक चुनौती हैं। इस में कोई शक नहीं कि पारिवारिक सुख, स्वार्थ, और संतोष के आगे उसे घुटने टेकने पड़ते हैं। वह चाहता है ऐसा न करे परन्तु वह देखता है वैसा ही हो रहा है।

वस्तुतः नायक का स्वरूप अपने स्वाभाविक विकास को लिए हुए है। परन्तु शिरीष के माध्यम से लेखक ने दार्शनिक, सामाजिक, आर्थिक, प्रश्नों की बौछारों की दीवार-सी खड़ी कर दी हैं जहां नायक इतना अधिक सोचने लगता है कि अपनी बीबी बच्चों का भविष्य उसको गौण सा लगने लगता है। अतः कई जगह लेखकीय अभिव्यक्ति का बलात्कार सहता हुआ भी हम नायक का स्वाभाविक विकास देखते हैं। क्योंकि उस निष्क्रियता और अवशता की स्थिति जिससे छुटकारा नहीं पाया जा सकता। इसे ही आज के मध्यवर्गीय इन्सान की नियति की अभिशप्रतता कहा जा सकता है।

1. सारा आकाशः राजेद्र यादव, पृ० 244
1. गोदान-प्रेसचन्द

'अन्धेरे बन्द कमरे' : मोहन राकेश (१९६१)

मोहन राकेश का यह बहुचर्चित उपन्यास नायक-विहीन उपन्यासों की कड़ी का एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास में नायक का स्थान समस्या ने ले लिया है। या यों भी कहा जा सकता है कि इस उपन्यास का केन्द्रीय विषय समस्या ही है। यह न तो मात्र दिल्ली का रेखाचित्र है, न पत्रकार मधुसूदन की आत्मकथा और न ही पति-पत्नी के आन्तरिक द्वन्द्व की कहानी।[1] यह निश्चित होते हुए भी कि उपन्यास की रीढ़ पति-पत्नी के जीवन में तनाव तथा खिंचाव के सूक्ष्म निरीक्षण तथा काव्यात्मक चित्रण में उपलब्ध है, यह इसकी परिधि नही है। वस्तुतः पूर्ण उपन्यास महानगरी में अकेलेपन की अनुभूति और मानवीय सम्बन्धों की अर्थ हीनता को लिए हुए है, जिसके मूल में स्नेह-हीनता निश्चित रूप में देखी जा सकती है।[2] नीलिमा हरवंस (पती-पत्नी) सारे उपन्यास में इस कदर छाये हुए हैं कि मधुसूदन को नायक का स्थान किसी भी हालत में नहीं दिया जा सकता और दूसरी ओर मधुसूदन खुद जिस क्राइसिस से निकलने के लिए भटकता रहता है वह नीलिमा या हरबंस को नायक पद से वंचित कर देता है। या यूं भी कहा जा सकता है कि वर्णनकर्ता होने के कारण मधुसूदन प्रसंगवश उपन्यास में अपने जीवन तथा व्यक्तित्व की उलझनों की अभिव्यक्ति पा सका है। अतः मधुसूदन की निजी आत्मोपलब्धि का संघर्ष और कलाकार बनने का स्वप्न देखने वाली एक स्त्री (नीलिमा) और उसके पति (हरबंस) के बीच की कशमकश का जोड़ ठीक नही बैठा है। उसने जहां पूरे उपन्यास की अन्विति को ठेस पहुंचाई है, वहीं उपन्यास के प्रमुख सूत्र नीलिमा-हरबंस के बीच के द्वन्ठ की तीव्रता को हलका भी किया है।[3] क्योंकि दिल्ली का रेखाचित्र यह आंशिक रूप से बन पाया है इसलिए समस्या ही सारे उपन्यास का केन्द्र बिन्दु बन उपन्यास की नब्ज को पकड़ने का प्रयत्न करती है।

श्रीकान्त वर्मा की विविध भांगिमाओं के आधार पर अस्तित्ववादी दृष्टि से नीलिमा हरबंस के अर्थहीन जीवन के रूप में इसका मूल्यांकन करते हैं। यह

1. सारा आकाश, राजेन्द्र यादव, पृ० 13
2. अन्धेरे बन्द कमरे-मोहन राकेश-भूमिका
3. आज का हिन्दी उपन्यास-इन्द्रनाथ मनान, पृ० 91

उपन्यास प्रेम का बैठक कमरा है जो सड़क पर है या जो एक स्कूल में परिणत होता है। लोग प्रेम करते हैं और पहले से अपरिचित हो जाते हैं। अधिकांश लोग यह खोज भी नहीं कर पाते। आन्तरिक भाषा के अभाव में आलोचक ने इस प्रेम को सह-अस्तित्व का अभिशाप कहा है, नीलिमा और हरवंस इसके शिकार हैं।[1] इस लिए यह स्थिति परिस्थिति पर हावी हो जाती है। यहां लेखक पाठक के एक संवाद ने स्पष्ट हो जाता है।[2] नीलिमा और हरवंस एक अन्धेरे बन्द कमरे में रहने के इतने आदि आदि हो चुके हैं कि किश्तों के बाहर एक खुले और नामहीन सम्बन्ध की बात वे सोच ही नहीं सकते। सोचना चाहें तो कमरे की दीवारें टूटती हैं। इस तरह अन्धेरे बन्द कमरे में एक स्थिति हैं। हरवंस और नीलिमा की जिन्दगी एक स्थिति है जिसे बहुतेरे लेखक जी रहे हैं। वे छटपटाकर रह जाते हैं, इस से उबर नहीं पाते।[3] इन शब्दों में उपन्यास के उद्देश्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इसलिए अथ से इति तक उपन्यास के पात्रों के जीवन में तनाव बना रहता है। तनाव की इस स्थिति के चित्रण में डा० मदान की बात सही ध्रुवों का जायजा लेती लगती है जब वह उपन्यासकार को आधुनिकता की चुनौती से विमुख होते देखते हैं—इस तनाव की स्थिति के चित्रण में उपन्यासकार ने आधुनिकता की चुनौती को स्वीकारा है। परन्तु जहां मधुसूदन के जीवन में इस स्थिति से वह उभरने का संकेत देते हैं और नीलिमा हरवंस की स्थिति को मानव की नियति नहीं मानते, तब वह समस्या का उथला समाधान देते हैं और आधुनिकता से विमुख भी हो जाते हैं।[4]

मधुसूदन जो पत्रकार है सतही और उथला व्यक्तित्व लिए सतह पर ही चक्कर काटता रहता है, गहरे नहीं उतर पाता। उसकी कुण्ठा असली नहीं लगती। वह अनवरत जीवन के स्कूपों की ओर भागता दिखता है। अपने जीवन में स्थिरता लाने के लिए वह शुक्ला, सुषमा श्रीवास्तव और निम्मा के सम्पर्क में आता है। अनेक परिस्थितियों में से गुजरता हुआ क्षणों में जीता और मरता है। मानवीय मूल्यों के आगे सदा वह एक आदर्श को लिए रहता है और जैसे ही सुषमा मानव मूल्यों को नकारती है हम उसे सुषमा के विलग खड़ा हुआ देखते हैं।

1. अधूरे साक्षात्कार, नेमिचन्द्र जैन, पृ० 127
2. कृति अंक, 8-11 श्रीकान्त वर्मा
3. ज्ञानोदय, जुलाई, 1965
4. ज्ञानोदय, जुलाई, 1965

वह मात्र विचारधारा को जीवन मानने पर कागज का आदमी बन कर रह जाता है ।[1] वह सुषमा को इस लिए छोड़ कर चला जाता है कि सम्भवत: वह अपने पन को भरने के लिए उसे साधन बनाना चाहती है । तब लेखक की मधुसूदन के बारे में अपनी धारणा बेमानी हो जाती है कि वह सजग तथा सचेत है, वह जिन्दगी मे टूटा है, उसका जीवन अभिशप्त है, वह जीवन में संगति खोजना चाहता है, उसे जिन्दगी के टुकड़े मिलते हैं, हर टुकड़ा कहीं से टूटा हुआ है या जंग खाया हुआ है । वह अन्दर और बाहर से पथराया हुआ है । वह जीवन के खण्डित रूप में स्वीकार नहीं करता, तटस्थ नहीं हो पाता, इस लिए लगातार भटकता और छटपटाता है ।[2] यह इसके व्यक्तित्व की लेखक की व्यक्तिगत कल्पना है जो उपन्यास में साकार नहीं हो सकी ।

सुषमा में भी अकेलापन है, नीलिमा और हरबंस भी अपनी तनाव की स्थिति के कारण अन्दर से खोखले हो चुके हैं । अन्य पात्र भी जीवन की शून्यता से घिरे हुए हैं । इसे भरने के लिए शायद एक ही उपहार है और वह है सहज मानवीय सम्बन्ध । इसका कारण यह है कि अकेलेपन को मानव की नियति मानने से इन्कार किया गया है । आज के जटिलता पूर्ण यांत्रिक युग में मानवीय सम्बन्ध टूट कर बिखर चुके हैं । मनुष्य अपने वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में यांत्रिकता का दास बनता जा रहा है । प्रक्रिया को बन्द करना भी असम्भव है । सुषमा के माध्यम सें इस रीतेपन को भरने का स्वांग भरता है । इस नियति का शिकार नीलिमा और हरबंस हैं । इसका स्वीकार्य और सामना नीलिमा को करना पड़ता है । सुषमा में आधुनिकता की स्वीकृति ही सजीव व्यक्तित्व का कारण बनी है । नीलिमा-हरबंस इससे समझौता करते हैं और मधुसूदन इससे पलायन । उपन्यास में सधुसूदन का कस्साबपुरा में निम्मा के पास जाना उपन्यास के अन्त को आरोपित बना देता है । क्योंकि इसको बदलना मानव की नियति को बदलने का उपचार लगने लगता है । ठाकुराइन, शुक्ला और सुरजीत, शुक्ला और मधुसूदन के प्रसंग, इन सबके मूल में उपन्यासकार की जीवन-दृष्टि है जो जीवन में संगति की खोज से बाहर निकल कर उसकी उपलब्धि में सांस लेना चाहती है । इसी खोज में मधुसूदन का कस्साबपुर जाना लेखक के लिए उपलब्धि बन जाता है और आलोचक के लिए आधुनिकता की प्रक्रिया का अवरुद्धन ।[3]

---

2. ज्ञानोदय—जुलाई, 1965
3. आज का हिन्दी उपन्याम, डा० इन्द्रनाथ मदान, पृ० 92
4. आज का हिन्दी उपन्यास—इन्द्रनाथ मदान, पृ० 93

उपन्यासकार का मूल केन्द्र नीलिमा और हरबंस के जीवन का तनावपूर्ण वर्णन है। दोनों अलग-अलग व्यक्तित्व लिए हुए, अपने अलग-अलग स्वभाव, और अलग-अलग जीवन-दृष्टियों के कारण एक दूसरे से कटे हुए एक दूसरे की उपेक्षा करते हैं। उनका उपेक्षा भाव अपने-अपने ढंग से जीवन जीने के कारण उनकी गृहस्ती में दरारें डाल देता है। यह पुरुष और नारी में एक-दूसरे पर अधिकार पाने की होड़ है। नीलिमा शौकीन नारी है। वह कभी चित्र द्वारा, कभी नृत्यकला द्वारा समाज में एक विशिष्टता प्राप्त करना चाहती है। हरबंस भी यही चाहता है किन्तु भीतर-भीतर नीलिमा से ईर्ष्या भी करता है या बुरा मानता है। शायद वह कलाकारों के सम्पर्क में नीलिमा का आना पसन्द नहीं करता। मध्यवर्ग या उच्च वर्ग की यह नियति है कि पुरुष स्त्रियों को छूट तो देता है, उन्हें विशिष्ट तो देखना चाहाता है किन्तु एक सीमा तक। इस सीमा को वह स्वयं निर्धारित करना चाहता है किन्तु भीतर-भीतर यह चाहकर भी सभी से कह नहीं पाता। और यहीं से वह संघर्ष और तनाव के बिन्दु बढ़ते हैं क्योंकि दूसरी ओर नारी और उसका अहं जानबूज कर उन सीगाओं का अतिक्रमण करने लगते हैं। दोनों ही एक दूसरे के प्रति क्रोध, कुछ अनमनेपन, कुछ ईर्ष्या, कुछ अजनबीपन के मिले-जुले भाव लिये रहने लगते हैं। दोनों ही इस स्थिति से गुजरते हैं।[1]

वस्तुत: हरबंस एक आधुनिक प्राध्यापक और एक अच्छा बुद्धिजीवी होते हुए भी नारी के प्रति मध्यकालीन बोध से घिरा हुआ है। अपने बेमानी अहं, और मूल्यों की झूठी शेखी के आधार पर वह नारी पर शासन करना चाहता है। नीलिमा का आन्तरिक द्वन्द्व वास्तविक है और वह इसे समझती भी है। इस बात को नेमिचन्द जैन उपन्यास की सार्थकता में स्वीकारतें हैं।[2] वह बन्धनों में घिर कर नहीं रहना चाहती लेकिन अन्त में उसे यह स्थिति स्वीकारनी पड़ती है। यह स्थिति की विवशता का परिणाम है। एक दूसरे कारण से वे जो होना चाहते थे न हो सके। नीलिमा नृत्य-कला में पागंगत न हो सकी और हरबंस साहित्यकार न बन सका। इस तरह असफलता का मुंह देखने के लिए दोनों बाध्य हैं। इनके पास एक दूसरे को चोंच मारने या काटने के सिवाय चारा ही

---

1. हिन्दी उपन्यास एए अन्तर्वावा, सा० रामदरश मिश्र, पृ० 146-47
2. अधूरे साक्षात्कार—नेमिचन्द्र जैन, पृ० 129

क्या है ।[1] यह चोंच बाजी अधिकतर एक ही भाषा में बार-बार एक ही से कारणों से, एक प्रकार से होती है । हर बार वे एक-दूसरे के ऊपर कुछ न कुछ समझने का, सहानुभूतिहीनता का आरोप लगाते हैं, चीखकर एक-दूसरे को चुप रहने, बकवास न करने, चले जाने के लिए कहते हैं ।[2] हरबंस अपने ही घेरे में बद्ध अहं की तुष्टि के लिए लड़ता रहा है और नीलिमा परम्परा और आधुनिकता, दोनों के खिचाव में जीती रही । शुक्ला नीलिमा के बारे में कहती है—'उन्हें जिन्दगी में जो कुछ मिला है उसकी परवाह नहीं करती, और जो कुछ नहीं मिला, उसी के पीछे भटकती है—वे जिन्दगी भर एक मृग-तृष्णा के पीछे-भटकती रहेगी और इसी तरह छटपटाती रहेगी । शुक्ला का यह कथन उसके और नीलिमा के व्यक्तित्व के मूल केन्द्रों की विभिन्नता को एक दम दो टूक स्पष्ट कर देता है ।[3] इस तरह पहली बार हिन्दी उपन्यास में विवाहित जीवन की अर्थहीनता का सशक्त तथा सजीव चित्रण हुआ है ।

इसमें कोई शक नहीं कि इस उपन्यास में समस्याएं हीं समस्याएं हैं, उनका समाधान नहीं ।[4] विवाहित जीवन की विफलता का हल नहीं, शुक्ला सुरजीत के साथ कैसे जीवन बिता सकेगा ? यदि उपन्यासकार इन समस्याओं का हल देने का प्रयत्न करता तो रचना में अधिक दरारें पड़ने की सम्भावना थी । एक मघुसूदन की समस्या का हल खोजने के लिए उसे कस्साबपुरा ले जाना पड़ा है जिससे उपन्यास का अन्त आरोपित हो गया है ।

इसी के साथ उपन्यास अपने दिल्ली और लन्दन के परिवेशों के साथ राजधानी, विदेशी दूतावासों के भड़कीले समारोहों, विदेश यात्रा के विवरणों, काफी हाउस के वर्णनों और नृत्य आदि के वर्णनों के साथ रेखाचित्र के रूप में हलके-हलके रंगों द्वारा भी उभरता है । कहीं ठाकुराईन अपने स्वार्थ को दबा कर धोती की मांग करती है और कहीं चार आने पैसों के कारण कुतुबरोड से गालियां खा कर लौटने वाला पत्रकार है । कही काकटेल पार्टियों और कहीं रिस्टवाच वेच कर पेट भरने के वर्णन अपने मृदु-कटु प्रसंग के साथ जहां पाठक

---

1. आज का हिन्दी उपन्याम—इन्द्रनाथ मदान, पृ० 94
2. अधूरे साक्षात्कार, नेमिचन्द्र जैन, पृ० 130
3. अधूरे साक्षात्कार—नेमिचन्द्र जैन, पृ० 131
4. इस बात का पहने की संकेत दिया जा चुका है कि यह समस्या प्रधाव उपन्यास है, पृ० 228

को झकझोरते हैं वहीं कुछ वर्णन उपन्यास की आन्तरिक संगति को तोड़ने का खतरा भी पैदा कर देते हैं।

उपन्यासकार की वास्तविक शक्ति का परिचय हरवंस-नीलिमा के परस्पर तनाव चित्रण में ही मिलता है। अन्य पात्रों की उलझनों तथा कुण्ठाओं की सूक्ष्म अभिव्यक्ति में भी यह उपलब्ध है। हरवंस-शुक्ला, मधुसूदन-शुक्ला, नीलिमा-मधुसूदन-सुभाष के पारस्परिक सम्बन्ध आधुनिक जीवन की जटिलता को ही सूचित करते हैं।

'यह पथ वन्धु था' : डा० देवराज (१९६२)

यह पथ वन्धु था (1962) श्रीधर नामक मालवा के एक अध्यापक की कहानी है जो इस उपन्यास का नायक भी है। यह आदर्शवादी युवक अपने अहं को लिए अन्त तक अपने आदर्श के लिए लड़ता है। श्रीधर पर इस प्रकार का प्रभाव उसकी वचपन की साथिन 'इन्दुबाला' द्वारा पड़ा हैं। ,इन्दु' उससे प्राय: दुगनी उम्र की अति सुन्दर ब्राह्मण मराठा सरदार वालाजी की सन्तान थी। वहीं इन्दु पिता की लाइब्रेरी से कई प्रकार की पुस्तकें श्रीधर को पढ़ कर सुनाया करती थी। उन वातों का गहरा असर श्रीधर के भोले मन पर प्रारम्भ से ही पड़ना शुरु हो गया था। श्रीधर का वचपन इसी दीदी की छाया में बीतने लगा। वही श्रीधर 'इन्दु' की शादी के समय उससे आग्रह करता है कि वह शादी न करे। इन्दु के यह कहने पर तुम पागल हो, वह स्पष्ट शव्दों में कहता है कि—हाँ पागल ही सही। लेकिन तुम ब्याह नहीं करोगी। तुम्हें कोई ले जाए यह मैं नहीं देख सकता। तुम्हें मेरे ही साथ रहना है।[1] इन्दु की शादी होने पर 'इन्दु' से उसका रूठना यह सब सहज वाल मनोविज्ञान को स्पष्ट करता है। अन्त में इन्दु जैसे सफल साथी के चले जाने के पश्चात् वह वचपन के दिन अकेले पठारों और नदियों की चट्टानों पर घूम कर बिताने लगता है।

युवा होने पर वह इतिहास के अध्यापक के रूप में अपना जीवन आरम्भ करता है। इतिहास की किताब लिखने के पश्चात् उसका अहं और व्यक्तित्व

---

1. यह पथ वन्धु था, नरेश मेहता, पृ० 130

बचपन की अपेक्षा युवावस्था में अधिक गम्भीर लगता है। श्रीमन्त सरकार के पुण्य स्मरणीय पितामहों का उल्लेख करते समय श्रीधर उचित राजकोंय सम्बन्धनों एवं पदवियों का प्रयोग नहीं करता। श्रीमन्त सरकार द्वारा तत्काल भूल-सुधार और क्षमा-याचना के स्थान पर वह त्याग पत्र दे देना उचित समझता है। मां के विरोध करने पर कहता है 'कि इन लोगों में एक भी नहीं 'जानता' कि दुनिया कितनी बड़ी है। कितने बड़े-बड़े लोग हुए हैं। ये लोग सब कूप-मण्डूक हैं जो छोटी-छोटी बातों में उलझे हुए हैं। ये जानते नहीं कि इतिहास क्या होता है। लेकिन अपना इतिहास भी लिखवाना चाहते हैं, मैं तुमसे कहे देता हूं कि विभाग मुझे बाहर ही निकाल दे लेकिन मैं एक अक्षर भी अपनी पुस्तक में से नहीं काटूंगा।'[1] इस स्थिति के परिणामस्वरूप श्रीधर त्याग पत्र दे पत्नी और बच्चों को बिना बताए इन्दौर भाग जाता है।

इन्दौर में स्वराजी कम और क्राँतिकारी अधिक किशन बाबू के संपर्क में आने पर उसे अपने आदर्शों, अपने अहं की तृप्ति होती दिखती है। यहाँ वह सी० आई० डी० वालों से डर कर इन्दौर भी छोड़ देता है। विशन उसे आक्रामक लगता है। रत्ना जो सुन्दर बंगालिन है चार-चार हत्याएं करती है। यहाँ रत्ना मालती से कहती है कि दीदी यदि यह विवाहित न होते तो मैं इनसे शादी कर लेती। उसकी इस हसीं से श्रीधर इस कदर डरते हैं कि उनके कान शर्म से लाल हो जाते हैं।

इन्दौर में आने पर नायक स्वयं को अवशता की स्थिति में पाता है। कोई भी टोस कदम उठा कर काँग्रेसी नेताओं के भाषण तैयार करने से लेकर, हैण्डबिल और प्रैस-छपायी तक काम, मजदूर रात्रि पाठशाला का प्रारम्भ वह जरूर करता है परन्तु सफलता उसे कहीं भी नहीं मिलती।

श्रीधर जल्द ही रत्ना, मालती को छोड़कर काशी भाग जाता है। वहां हिन्दी-हितकारिणी पत्रिका के सहायक पद पर अवैतनिक काम करता है। मांग मांग कर हिंदी लेखकों के लेख लाने और छपवाने पर भी वह सन्तुष्ट नहीं होता। फिर भी न जाने क्यों उसमें कभी असन्तोष उभर कर नहीं आता। वह स्वयं भी नहीं समझ पाता कि वस्तुतः वह चाहता क्या है? जब उसे प्रश्न करना

---

1. 'यह पथ बन्धु था'—नरेश मेहता, पृ० 409

होता है या उत्तर देना होता है—वे बस देखते रहते है ।[1] रत्ना को एक बार कहता भी है मैं तो अपने आप को कुछ भी नहीं कर पाता कभी कभी तो यह भी नहीं हो पाता कि मैं हूं और तब मुझे क्या करना चाहिए ।[2] वे अपनी उपादेयता कहीं भी नहीं समझता । सारे उपन्यास में वह प्रायः मौन ही रहता है ।

अकेलापन उसे घर में भी और बाहर भी अखरता है । ठीक अपनी आदत के अनुसार कि जब वह कुछ कहता है या सुनता है, तब बिल्कुल अनासक्त विदेह बन कर रहा होता है या सुन रहा होता है – जैसे उससे कोई सम्बन्ध नहीं है । शायद इसीलिए उसे किसी बात का दुख नहीं होता, या व्यक्त नहीं हो पाता । उसका अवचेतन पलायन है । बस वह केवल उस सब को एकान्त में भोगता है । 'वैसे ही जैसे नारी अपने में पुरुष के सहवास को भोगती है ।'

नायक स्वयं को क्रांतिकारियों के बलिदान के आगे तुच्छ समझता है । अपने आप को भगोड़ा कह कर उसे शान्ति मिलती है । रत्ना से वह एक बार कहता है—सच रत्ना तुम लोगों को देखता हूं तो बड़ी श्रद्धा होती है । हम लोगों से तो अपना परिवार भी नहीं चलता और हम भाग खड़े होते हैं । कैसे-कैसे लोगों से जीविका के लिए समझौता करना पड़ता है । उसके बाद भी . तो रत्ना... जहां जीवन का अर्थ अंत तक खोजे नहीं मिलता ।[3] रत्ना भी उसे बखूबी जान जाती है । कहती है—'मैं जानती हूं कि आप किसी भी प्रकार की राजनीति के लिए नहीं बने हैं । इसलिए आप में विवेक है, आवेग नहीं । आपको सम्भव है कभी आन्दोलन नाम से वितृष्णा हो जाए—आप संदिग्ध हैं अपने बारे में तभी तो सम्भवतः इसलिए उनकी प्राप्ति भी नगण्य ही है ।'[4] वस्तुत वह कोई भी निर्णय नहीं ले पाता और अन्त तक निर्णय की स्थितियों के बीच झूलता रहता है ।

जेल से छूटने पर उसे लगता है जैसे वह कहीं का भी नही रहा । उसे लगा वह कायर है और कायर के लिए संघर्ष नहीं होता । इसी कशमकश में पुनः जेल और भयंकर बीमारी और फिर बुढ़ापा उसे घेर लेता है । मालती को वह

---

1. 'यह पथ बन्धु था'—नरेश मेहता, पृ० 46
2. 'यह पथ बन्धु था'—नरेश मेहता, पृ० 423
1. 'यह पथ बन्धु था'—नरेश मेहता, पृ० 426-27
2. 'यह पथ बन्धु था'—नरेश मेहता, पृ० 446

भूल चुका था। रत्ना को भी भूल गया और उसके शब्दों को भी जब फांसी पर चढ़ते हुए उसने 'तुमि आमार शामी' कहा था। इस सब का परिणाम श्रीधर के टूटन में होता है।

अन्त में वह अन्तिम प्रयास करता है। जब वह काशी में रामलेखावनी की सहायता से 'शंखनाद' पत्रिका निकालता है। परन्तु जल्द ही सरकार द्वारा शंखनाद कार्यालय पर तालाबंदी होने पर वह अन्डरग्राउण्ड हो जाता है।

अपने अंतिम शस्त्र से हार कर जब उसे अपना होना निरर्थक लगने लगता है तब वह लौटने का अन्तिम निर्णय ले लेता है। सम्पूर्ण जीवन, स्वास्थ्य, कर्मठता, काशी को सौंप वृद्ध, बीमार, असफल नायक तब मालवा लौटता है। उस घर की ओर जिस के बनने मिटने में उसने यही सहयोग दिया था कि वे लोग मिट जाएं। एक लम्बी अवधि के पहले घर शब्द से वह सिहर उठता था और उसी घर में आकर स्वयं को बेहद अकेला और पराया पाता है। इतने वर्षों के अन्तराल में सब कुछ बदल गया है। उसके घर का बंटवारा हो चुका है। माता पिता चल बसे हैं। पत्नी आखिरी सांसे ले रही है, दोनों लडकियों की शादी हो चुकी हैं जिनमें से एक पंगु होकर घर वापिस आ चुकी है।

एक आघात के पश्चात दूसरा आघात जैसे श्रीधर की इन्तजार में बैठा हो। उसके आते ही इसकी पत्नी चल बसती है और जब पंगु लड़की भी अपने नाना के घर चली जाती है तो श्रीधर और भी एकाकी और टूटा हुआ लगता है। वह अपने ही घर में एकाकी और अजनबी हो जाता है।

सारे उपन्यास में नायक, व्यक्तित्व, तथा साधारण जीवन का चित्रण जिस संवेदनशील संयत तथा आत्मीय रूप से हुआ है, वह नायक के विकास को स्पष्ट करता है। अपने परिवेश से श्रीधर जुड़ा हुआ भी है और कटा हुआ भी है। वह बाहर से कटा हुआ है परन्तु भीतर से जुड़ा हुआ।

श्रीधर का अकेलापन, परायापन और सम्बन्ध-हीनता उसके व्यक्तित्व के अभिन्न अंग हैं। लेखक ने मानवीय संवेदना के आधार पर नायक का स्वरूप दर्शाने का प्रयत्न किया है। एक ऐसा आदर्श जो व्यर्थ बन कर रह गया है। एक ऐसा जीवन जहां कुछ करने की चाहना बेमानी हो गयी है। एक

अभिशतता और अवशता की स्थिति । ... ... पच्चीस वर्ष सम्पूर्ण जीवन की आहुति...उनकी आंखें सुगल रही थीं अंग-अंग में थकान वैसे ही फूट रही थी जैसे इस समय दीवारों की पलकें भीगनी शुरु हुई थीं। वाहर की सृष्टि क्रमशः अन्तर से भी होने लगी थी।[1] उनका पुरुषार्थ नपुसंक दीमक खायी पुस्तक था। आज उसका कोई मूल्य नहीं था। एक ऐसा बिन्दु जहां से गया समय यदि वापिस लाने का प्रयत्न करो तो अपने न होने का आभास होता। उन्हें भी लगा यह सब व्यर्थ गया ... ... श्रीधर बाबू जैसे सब कुछ लौटा लाने को व्याकुल हो उठे। लेलिन वह क्या नहीं जानते थे कि जिन अस्त्रों को लेकर वह जीवन में लड़े थे वह आदर्श के थे। आदर्शों का मुल्लमा तो पहली ही चोट में उतर जाता है।[2] आदशों की ही इस परिणति ने नायक को नियति के सामने मजबूर कर दिया और उसने अपनी हर प्रकार से हार स्वीकार भी कर ली।

नायक का स्वरूप लेखकीय आरोपन से तब दब जाता है जब अन्त में लेखक नायक को मानव का इतिहास लिखने के लिये प्रेरित करता है। इस प्रकार के प्रयत्न को एक नियति से दूसरी नियति की ओर भटकाव के रूप में लिया जा सकता है। जहाँ सादर्शों द्वारा सम्पूर्ण जीवन की हार से फिर एक आदर्श या मानवतावाद की दुहाई उस टूटे सम्पूर्ण व्यक्तित्व को जान बूझ कर भ्रम में डलना जहाँ उसका सब कुछ खो गया है। नायक के अन्त के बारे डा० इन्द्रनाथ मदान तथा नेमिचन्द्र जैन दोनों से सहमत होना पड़ता है, जब वह इसे के भीतर से निःसृत न मानकर आरोपित, और एक चौखटे में फिट मानते हैं।

'एक इंच मुस्कान' : राजेन्द्र यादव—मन्नु भण्डारी (१९६२)

सहयोगी उपन्यासों की परम्परा में 'ग्यारह सपनों का देश' सशक्त रचना होते हुए भी इसे नायक-विहीन उपन्यासों की कड़ी की रचना बिना किसी विवाद के ठहराया जा सकता है। लेखक खुद अपने व्यक्तव्य में इसे स्वीकारता हुआ कहता है—हीरो तो वही है ना जिसके सामने उसका 'प्राप्य' स्पष्ट हो, और वहां तक पहुचने की सीढ़ियों की गिनती उसे जवानी याद हो। उस व्यक्ति को तो हीरो (नायक) का हक नहीं है जिसे न तो अपनी सिद्धि का ज्ञान हो

---

1. 'यह पथ वन्धु था'—नरेश मेहता, पृ० 592
2. 'यह पथ वन्धु था'—नरेश मेहता पृ० 593

न साधनों का—वस, कहीं पहुंच जाने की, किसी बोझ से मुक्त हो जाने की अनाम तड़प ही जिसका बल-सम्बल हो। ऐसा नहीं कि यहाँ भी पात्रों के साथ सहयोगी लेखक ईमानदार रहे हों। यहां भी अनजाने और जानबूझ कर कुछ ऐसा हुआ है कि पात्र लेखकीय बलात्कार के शिकार हो गए हैं।[1] ऐसा होना स्वाभाविक ही था जबकि पुरुष पात्र यादव और स्त्री पात्र मन्नू ने सम्भाल रखे थे। इस स्थिति में किसी पूर्वाग्रह के कारण रचना की आन्तरिक अन्विति में गहरी कमजोरी आ जाना असम्भव नहीं था। राजेन्द्र यादव इस बात को मानते हुए कहते हैं कि उपन्यास की भावनात्मक और वैवाहिक अन्विति की दृष्टि से देखता हूं तो मुझे लगता है कि इन तालियों की गड़गड़ाहट ने मन्नू को भटका भी दिया है।[2]

सम्पूर्ण उपन्यास अमर, रंजना और अमला के अपने-अपने अहं और अपने-अपने व्यक्तित्व को एक दूसरे से भिन्न एक टूक दिखाता है, जिसकी परिणति टूटन है। इस टूटन में जहाँ गहरी उदासी है वहीं उस उदासी पर एक इंच मुस्कान की खोखल उसे और भी गहरा देती है। त्रिकोण के चौखटे में तीव्र और विस्फोटक सम्बन्धों की अति तब देखी जाती है जब अमर एक साथ दो स्त्रियों की ओर आकर्षित होता है; रंजना, जिसे वह कालेज के दिनों से जानता और प्रेम करता है। उसके अनुरोध पर वह अपने घर वालों को छोड़कर उसी नगर में आ जाती है जहां अमर रहता है। दूसरी ओर है अमला, धनी पिता की पुत्री, अपने पति द्वारा परित्यक्ता, अमर की रचनाओं की प्रशंसक। रंजना उसे विवाह के लिए प्रेरित करती है, अमला उसे महान लेखक देखना चाहती है और उसे विवाह करने को मना करती है जबकि कहीं अवचेतन में वह उससे बंधी होती है। अमर को अमला की ही बात अच्छी लगती है किन्तु परिस्थितिवश उसे रंजना से शादी भी करनी पड़ती है, जिस का परिणाम विवाह के जीवन में अशांति होता है। वे अलग भी रहने लगते हैं, पर रंजना गर्भवती है, इसलिए वह फिर साथ रहने का प्रयास करते हैं। किन्तु अमर रंजना को गर्भपात गिराने के लिए मजबूर करता है, इससे दोनों के बीच दरार और बढ़ जाती है। अंत में रंजना किसी दूसरे शहर में नौकरी करने चली जाती है। उधर अमला के जीवन में भी परिवर्तन होते हैं। वह अपने वर्ग और परिवेश से कटती जाती है। अन्त

1. 'एक इंच मुस्कान'—राजेन्द्र यादव—मन्नु भण्डारी, वक्तव्य—राजेन्द्र यादव, पृ० 317
2. 'एक इंच मुस्कान'—राजेन्द्र यादव—मन्नु भण्डारी, वक्तव्य—राजेन्द्र यादव, पृ० 322

में पुरी में एक होटल में अमर अमला की फिर भेंट होतीं है। पर दोनों इतने बदल गये हैं कि एक दूसरे को ग्रहण नहीं कर पाते। अमला पागल हो जाती है, अमर अकेला रह जाता है। इस सम्पूर्ण स्थिति में कई एक नये तत्व हैं, जो आधुनिक जीवन, उसके बदलते हुए दवाबों और तनावों तथा उनकी परिस्थितियों के सूचक हैं।[1]

वस्तुत: अमला और रंजना परिस्थितियों में अधिक, मन:स्थितियों में कम जीवित रहती हैं। दोनों प्रताड़ित नारियां हैं-- अमला उच्चवर्ग की विडम्बना का शिकार और रंजना एक सनकी की प्रवंचना का। अमला और रंजना, अमर के निकट दो सम्पर्क नहीं, दो स्वतंत्र मूल्य हैं, और इन मूल्यों की संगति का निरुपण ही अमर का आभ्यान्तरिक द्वन्द्व है। निश्चित रूप से अमर का खण्डित व्यक्तित्व दो भागों में बंटा है—प्रेम—विवाह, सुख-सुविधा के परम्परागत संस्कार कभी-कभी उन्हें प्राप्त करने की चाह, अर्थात् एक मानवीय नैतिकता—बोध—दूसरी ओर सृष्टा व्यक्तित्व की उच्चतर मुक्ति कामना। एक के प्रति वह उपेक्षा धारणा नहीं कर सकता, तो दूसरे की पुकार को भुलाना उसके वश के बाहर है। रंजना के साथ सब कुछ है—सहानुभूति, संस्कार, समाज और स्वयं अमर की नैतिक चेतना—अमला के पास कुछ भी नहीं......सिवा एक प्रवंचन मुस्कान के। यह मुस्कान है भी या नहीं। अमर के मन का भ्रम ही है। लेकिन जब होती है तो चेतना के अनजान आसमानी द्वार-संधि से झांकती ज्योति रेखा बन उठती है और अमर के मन का सौन्दर्यानुसंधानी आदि-यायावार जाग जाग उठता है—यहाँ तक तो ठीक है लेकिन सम्पूर्ण मुक्ति की बात कहना भ्रामक है।[2] वह न तो उस मुक्ति से प्रसन्न है और न ही कभी उसने इस मुक्ति की चाहना ही की थी। यह नहीं, अन्त में अमर को कुछ न मिलने पर या उसका कुछ भी न बन सकने पर कहना कि शायद यह यात्रा पाने की यात्रा थी भी नहीं, खोने की भी नहीं थी—केवल देखने, जीने और अपने को जानते चलने की दिशा में सिर्फ पड़ाव की बात करती या सिर्फ एक अभिव्यक्ति का संतोष और मुक्ति के सुख की बात करनी महज आरोपित बन कर रह जाती है।[3] लेखकीय व्यक्तित्व सृजन से हट कर ऊपर से चिपक-सा गया है। वस्तुत: यह भ्रामक है और निश्चित रूप से अमर को सम्पूर्ण

---

1. 'अधूरे साक्षात्कार'—नेमिचन्द्र जैन, पृ० 152-53
2. 'एक इंच मुस्कान'—राजेन्द्र यादव—मन्नु भण्डारी, वक्तव्य—राजेन्द्र यादव, पृ० 316-317
3. वही, पृ० 316-317

मुक्ति से कतई सुख का अहसास नहीं देता। उसने कभी तो इस मुक्ति की चाहना की संघर्ष रत रहते हुए भी और सब कुछ खोने के बाद भी उसने दोनों को चाहा, अमला और रंजना दोनों के लिए कहीं अन्दर से रोया तथा कथित मुक्ति के पश्चात भी.........एक और लहर आई और बिखर कर चूर-चूर हो गई। अमर को उस फेनिल पारदर्शी कफन के नीचे होठों पर निष्प्राण-सी मुस्कान लपेटे कभी अमला दिखाई देती, कभी सिसकती मायूस रंजना।...उसका मन हुआ, वह भी उन्हीं लोगों के बीच जाकर लेट जाए और उस पर भी फेन का झीना तरल कफ़न पड़ जाए।[1]

यही नहीं उसने जब भी पीछे मुड़ कर देखा है या उस स्मृति को समेटा है तो रंजना कभी अकेली नहीं आई—हमेशा पृष्ठभूमि में एक बड़ी-सी छाया कृति प्रक्षेपित रही—पर्दे के इस सिरे तक छाई अमला की छाया—'इस सब में अगर अमला नहीं होती तो शायद मैं बड़ी आसानी से इसे नाम दे देता और नाम दे कर, अर्थात् उसका एक रूप निश्चित करके निष्कर्ष रूप में क्षोभ या क्षमा में से एक को चुन लेता।' उसने एक बार डायरी में लिखा था, 'लेकिन अमला.........।'[2]

तब प्यार उसे संकीर्ण, स्वार्थी और निदर्य लगा। उसने खुद को नौकरी में फंसा कर भी देखा। स्वयं को निर्लिप्त भाव वाला भी कहा। परन्तु 'चिट' और मित्र के पत्र की पंक्तियां बार-बार उसके सामने कौंधती रहीं। चाहकर भी वह उनसे दूर न हो सका। चिट थी, तुम्हारी साधना और अपने प्यार के हित में मैं जा रही हूं। कुछ भी कटु कहा—किया हो तो माफ करना। यही समझना हमने एक-दूसरे को गलत समझा.. ...'और पत्रांश था, 'हाँ हाँ बड़ी, सनसनी है। अचानक ही तुम्हारी अमला जी की मृत्यु हो गयी...... सुनते हैं, रात को अच्छी थी और ऐसी कोई बात नहीं थी। जिस ढंग से सब हुआ उससे लगता है कि मामला अतिरिक्त सावधानी से दबा दिया गया।'[3] रंजना अपने नए साथ पर सुखी है (जो अब एक बच्चे की माँ है) और अमला ने क्या आत्महत्या की या उसकी हत्या की गई—यदि रंजना मिलेगी तो हम कैसे

1. 'एक इंच मुस्कान'—राजेन्द्र यादव—मन्नु भण्डारी, वक्तव्य—राजेन्द्र यादव, पृ० 302
2. 'एक इंच मुस्कान'—राजेन्द्र यादव—मन्नु भण्धारी, पृ० 89
3. 'एक इंच मुस्कान'—राजेन्द्र यादव—मन्नु भण्डारी, पृ० 10

मिलेंगे, आदि बातों पर उसका सोचना उसकी भ्रामक नियति के सशक्त उदाहरण हैं जहाँ वह मुक्ति में सुख की कामना कर ही नहीं सकता। 'पुरी' के उसी होटल के कमरे में आकर उसे बार-बार क्यों लगता है जैसे कोई बाहर उसे बुला रहा है। बाहर जाने पर वह पाता कि कोई उसे बराबर कमरे में बुला रहा है। साथ ही पांच वर्ष पश्चात रंजना को पत्र लिखने का उसका अधूरा प्रयास उस को अतीत के प्रति एक सशक्त आकर्षण को भी बताता है।

और अमला, जीवन भर अपने में ही सिमटी चली गई। अमर से प्रथम मिलन से पहले से उसने पत्र में स्पष्ट कर दिया था—मेरे अनेक मित्र हैं अमरजी, किसी से ब्रिज के क्लब—स्पेड की बातें होती हैं, किसी से सिनेमाओं की। आप आज्ञा दें तो आपसे समय-समय पर लिखने-पढ़ने की बातें कर लिया करूं—? लेकिन एक शर्त रहेगी हमारी दोस्ती की। हममें से कोई भी ऊब जायेगा तो चुपचाप परिधि से निकल जाएगा और दूसरा उसका कारण नहीं पूछेगा—रेल के मुसाफिरों जैसी नियति मानकर ही हम लोग निकट आएँगे—।'[1] और उसने किया भी वही। रंजना की ओर आकर्षित अमर को अपने से मुक्त कर गयी। पिता की हत्या के पश्चात् 'इस बार तुम्हें बहुत तकलीफ दी अमर अब कभी नहीं दूंगी। कौन जाने हमारी यह मुलाकात आखिरी मुलाकात हो, और यह विदा ही आखिरी विदा हो, मैं मर जाऊं तो मेरी कहानी लिखना—।'[2]

करोड़ों की स्वामिनी, अकेली से अकेली होती गयी। जिस दिन वह अपना घर छोड़कर, पति छोड़ कर आयी थी, उस दिन सचमुच वह दुःखी थी। वह अमर से कहती है—'पर आज जब पीछे मुड़ कर देखती हूं और इन दस वर्षों में जो कुछ पाया है उसका लेखा-जोखा करती हूं तो लगता है मैने खोया कम पाया अधिक है। इसलिए तो कहती हूं, किस बात का दुःख, और कैसा दुर्भाग्य। लोग समझें दुर्भाग्य, मैं तो नहीं समझती।'[3] तब सादगी उसकी मजबूरी उसकी रूचि बनती गयी और उस रुचि ने ही एक दिन फिर उसके पति के बुलावे पर और उसके आश्वासन को ठुकरा दिये।

एक तरफ अमला अमर पर पूर्ण अधिकार चाहती है, और चाहती है खुद

---

1. 'एक इंच मुस्कान', राजेन्द्र यादव : मन्नू भण्डारी, पृ० 300
2. वही, पृ० 23
3. वही, पृ० 314

अमर उसे ग्रहण करे और दूसरी ओर पूर्ण आत्म-समर्पण किये रंजना अमला की छाया भी अमर पर नहीं देख सकती। एक तरफ अमला का अहं, पैसा, रूप और बौद्धिक सजगता है तो दूसरी और रंजना का आत्म समपर्ण और अहं। अमर को इन दोनों में से चुनाव करना है। संघर्ष अमर और रंजना का है। रंजना अमर और एक अच्छे घर को लेकर जहां तृप्त है वहां अमर इस सबसे ऊपर उठकर महान साहित्यकार बनना चाहता है। वह चाहता है अमला की प्रेरणा और यश। नहीं चाहता कि बच्चे हों और उनके पालन-पोषण में वह अपना कीमती समय गंवा दे। इसलिए ही वह गर्भवती रंजना का अबारशन भी करवाता है। परन्तु इसके साथ रंजना का आत्मसमर्पण उसे कम आकर्षित नहीं करता। अमला उसे अपने इशारों पर नाचने को कहती है और वह नाचता भी है। रंजना उसके इशारों पर खुद नाचना चाहती है परन्तु वह इशारा ही नहीं करता। वैवाहिक जीवन की तनावपूर्ण स्थितियों में तथा विवाह से पूर्व विवाह के निर्णय लेने के क्षणों में अमर टूटता और जीता है। यादव अमर को जितना बनाना चाहता है मन्नू उसे उतना ही गिराती है और रंजना के द्वारा उसे बार-बार 'शेक' करती है। इस 'शेक' में मन्नू रंजना के पक्ष की वकालत करने लगती और अमर तथा अमला उससे दूर चले जाते हैं।[1] तब लगता है, एक पक्ष किसी भी पात्र का 'डैफिनेट स्टैंड' लेकर, लेखकीय तटस्थता भूल कर उसका वकील बन पैरवी करने लगता है।[2] जहाँ मन्नू अपनी रंजना की डिफ्फैंडर हो गई वहां उपन्यास का अमर रंजना का शत्रु न होकर खुद मन्नू का शत्रु हो गया, और मन्नू कथा की समस्याओं और सम्भावनाओं के प्रति ईमानदार न रह कर 'अमर' की खबर लेने पर अधिक उतारू हो गयी।[3] और यादव अमर, अमला और रंजना जैसे तीनविरोधी ध्रुवों को मिलाने का प्रयत्न करता रहे।

वस्तुत: लेखक की जीवन दृष्टि में अकेलेपन की अनुभूति और मानवीय सम्बन्धों की अर्थ-हीनता को भी देखा जा सकता है। अमला पति द्वारा परित्यकता और अकेली है। वह अपने रीतेपन को भरने के लिए कैलाश और अमर का साथ चाहती है। कैलाश उसकी बौद्धिक भूख नहीं मिटा पाता तो वह

1. 'एक इंच मुस्कान', राजेन्द्र यादव : मन्नू भण्डारी, पृ० 314
2. वही, पृ० 314
3. वही; पृ० 314

अमर की ओर आकर्षित होती है। रंजना अपने दायरे में अकेली और असहाय है। पूर्ण समर्पिता होने पर भी उपेक्षित। और अमर इन दो विरोधी ध्रुवों में सामंजस्य बिटाने में ही अकेले से अकेला हो जाता है। इस अकेलेपन को भरने के लिए एक ही उपचार है और वह है सहज मानवीय सम्बन्ध— प्रेम। इसका कारण यह है कि अकेलेपन को मानव की नियति मानने इंकार किया गया है जबकि आज के यांत्रिक और जटिल युग में मनुष्य यंत्र का दास बनता जा रहा है। मनुष्य टूटन और अकेलेपन की नियति के लिए मजबूर-सा हो गया है। इस लिए अकेलापन मनुष्य की नियति बनता जा रहा है। इसे बन्द करना नामुमकिन-सा है। अमर रंजना और अमला के माध्यम से इस रीतेपन को भरने का स्वाँग भरता है। यह मानव की स्थिति तथा नियति है जिसका सामना अमर तथा अमला को करना पड़ता है। अमर को अमला तथा रंजना के बिना अकेले रह कर और अमला को अकेलेपन से खुलकर आत्महत्या द्वारा। रंजना मात्र अपवाद है जो सम्बन्धों के टूटने के पश्चात् दूसरा विवाह कर लेती है।

इस प्रकार विवाहित जीवन की अर्थ-हीनता का सशक्त रूप से वर्णन 'अन्धेरे बन्द कमरे' के पश्चात यह एक उपलब्धि हो सकता है। तीनों ही खण्डित होकर, टूट कर अपने-अपने ध्रुवों से खिसक जाते हैं और छोड़ जाते हैं शून्य, आज के वैवाहिक जीवन की अभिशप्तता, मध्ययवर्गीय और उच्चवर्गीय इन्सान की नियति। इसे ही यदि इस उपन्यास की केन्द्रीय-समस्या अथवा केन्द्रीय विषय कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

'अपने-अपने अजनबी' : अज्ञेय

सन् 63 में अज्ञेय का एक और उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास की परिकल्पना विदेशी पात्रों को लेकर हुई है। नायक नाम की चीज़ इस उपन्यास में कहीं नहीं मिलती। चार पांच पात्रों में यदि किसी को केन्द्रीय पात्र कहा भी जा सकता है तो वह हर हालत में योके ही हो सकती है। इस उपन्यास में आकर लगता है अज्ञेय पहले से अधिक सोचने लगे हैं। अपने पुराने नायकों की भांति बेशक उनके पात्र यहां भी एकांतिक हैं, आत्म केन्द्रित हैं, फिर भी उनमें ज्ञान के बारे में गहरी पिपासा है, अकेलेपन की अनुभूति है, अस्तित्व का संकट है, अजनबी की तलाश है। उनके सामने बड़ा-सा प्रश्न चिन्ह है जिसे उन्हें हल करना है। अतः अज्ञेय बोध के अनुसार अपने

नायक अथवा पात्रों को पहले से अधिक आत्मकेन्द्रित, पलायनवादी, कुंठित और अस्तित्व संकट से ग्रस्त बना देते हैं।

सारा उपन्यास विशेष रूप में दो पात्रों को ही लेकर चलता है। जिनमें मुख्य योके हैं। योके जो पाल के साथ सैर करने आती है—बर्फ पर दौड़ने आती है, अचानक हिमपात तूफान में एक बुढ़िया गड़रियन सेलमा के काठ-बंगले में फंस जाती है जबकि पाल कहीं दूसरी जगह गया होता है। योके और सेलमा दोनों ही एक दूसरे के लिए अजनबी हैं। दोनों ही इस स्थिति का दोषी एक दूसरे को मानते है। प्राकृतिक प्रकोप के कारण अपनी दुखद स्थिति के समय उनके मन में ईश्वर, मृत्यु अस्तित्व और अजनबी जैसे प्रश्न उठते हैं। उस स्थिति में योके और सेलमा की अस्तित्व के बारे में जिज्ञासा और उस स्थिति के कारण दोनों के परस्पर व्यवहार में ही हम योके को वास्तव देख सकते हैं। इस उपन्यास में प्रतीकों द्वारा भी पात्रों के स्वरूप को देखा जा सकता है। योके प्रतीक है मनुष्य संसार में स्वेच्छा में वितरण करने की भावना का योके का सैर करना और बर्फ पर दौड़ना प्रतीक है संसार में स्वेच्छा से मनुष्य का वितरण करना और हिमपाती तूफान में काठ बंगले में उसका घिर जाना सम्भवत: मनुष्य का समाज से कट जाना है, आत्म केन्द्रित हो जाना है या एकांत प्रिय हो जाना है। योके बर्फ द्वारा घिर जाने पर मृत्यु के बारे में सोचती है। सेलमा द्वारा पूछे जाने पर कि तुम्हारा ध्यान हमेशा मृत्यु की ओर क्यों रहता है वह कहती है क्योंकि वही एक मात्र सच्चाई है क्योंकि हम सब को मरना है।[1] ऐसा जानते हुए भी वह मृत्यु को भ्रम ही समझती है। सेलमा की मृत्यु होने पर वह मृत्यु गंध से बचने के लिए कम्बल, चादर से उसे दरवाजे की दरारों को बंद करने का प्रयत्न करती है परन्तु असफल रहती है। इतनी चादरों और कम्बलों के बाद भी मृत्यु गंध से वह छुटकारा नहीं पा सकती। अपने प्रयत्न में विफल होने पर वह सोचती है 'व्यर्थ, सब व्यर्थ। वह मृत्यु-गन्ध नहीं दबती, न दबेगी, सब जगह फैली हुई है, सब कुछ में बसी हुई है। सब कुछ मरा हुआ है, सड़ रहा है, घिनौना है—मृत्यु अनिवार्य है।[2] 'इस वैचारिक प्रक्रिया से गुजरते हुए उसे विश्वास हो जाता है कि वह गंध और कहीं से नहीं आ रही उसी की देह में मौजूद है और वहीं से आ रही है तो उसे मृत्यु गंध बंद करने का प्रयत्न बेमानी

1. 'अपने अपने अजनबी', अज्ञेय, पृ० 65
2 वही, पृ० 107

लगने लगता है।[1]

सेलमा के साथ रहते हुए वह कभी अस्तित्व पर और कभी सेलमा की मृत्यु पर व ईश्वर के बारे में भी सोचती है। सेलमा के साथ रहने के दिनों में उसे अपना अस्तित्व शून्य लगता है। प्राकृतिक प्रकोप से घिरी होने पर वह स्वयं को परतंत्र समझती है। सेलमा की दो एक सच्ची बातों पर तिलमिला कर सारी स्थिति की जिम्मेदार सेलमा को ही बना देती है। उसे बार बार उस अंधकूप में यही लगता है वह कुछ नहीं, उसका कोई अस्तित्व नहीं। वह बार बार यही सोचती है कि मैं 'हूं' या मैं 'नहीं हूं'।

सेलमा की लाश हाथ में उठाये हुए उसे दफन करते समय वह सोचती है क्या कोई प्रार्थना उसे याद है? क्या प्रार्थना का भाव भी उसके मन में है? क्या वह ईश्वर को जानती या मानती भी है, इससे अधिक कि उसका नाम लेकर थूका। ईश्वर उसे केवल अभ्यास लगता है और उसके नाम पर थूकने को भी वह अभ्यास ही कहती है।[2]

वह स्वतंत्रता और परतंत्रता पर सोचती हुई महायुद्ध के परिणाम के बारे में भी सोचती है। महायुद्ध ने उसे जो कुछ दिया उसे लगता है कि वह ही उसका परिणाम है। परतंत्रता और स्वतंत्रता के प्रश्नों का उत्तर भी महायुद्ध का परिवेश उसे दे देता है। पन्द्रह दिसम्बर से चौदह जनवरी तक वह अपनी डायरी में सब घटनाएं लिखती है। उसकी नियति क्या है? उसे लगता है मृत्यु, यंत्रणा, और बेहूदी जिन्दगी जीते हुए, जहां सब एक दूसरे के लिए अजनबी हों वहां नियति क्या हो सकती है। सेलमा योके को और योके सेलमा को न तो अपना अजनबी मानने को तैयार है और न ही उसे बर्दाशत करने की मुद्रा में है क्योंकि अजनबी का चुनाव उनका अपना चुनाव न होकर उनको जानबूझ कर उस चुनाव में डाला जाना है। योके महसूस करती है कि क्या कोई अपना अजनबी तक अपनी इच्छा से नहीं चुन सकता परन्तु जर्मनी द्वारा योके को वेश्या बना दिया जाने पर उसे अपनी नियति का आभास हो जाता है। जहर खा कर आत्महत्या करने से पूर्व योके इसलिए प्रसन्न है क्योंकि उसने स्वतंत्रता से अपनी इच्छा से मृत्यु का चयन किया है और अपनी इच्छा से ही अपने अजनबी को चुना है।

1. 'अपने-अपने अजनबी', अज्ञेय, पृ० 110
3. वही, पृ० 108

मरने से पूर्व वह कहती है—कह दो सारी हमारी दुनियां से कह दो, अन्त में मैं हारी नहीं—अन्त में मैंने जो चाहा सो किया मर्जी से किया। चुन कर किया। मैं मरियम-ईसा की मां मरियम जिसको जर्मनों ने वेश्या बनाया।[1]

इस प्रकार योके की नियति वेश्या बनने से अजनबी के चुनाव और मृत्यु का स्वेच्छा से वरण करने में उसकी अपनी नियति न होकर लेखक द्वारा दी गई नियति है। 'योके' अपने स्वरूप में वार वार लेखकीय दर्शन लेखकीय अभिव्यक्ति लेखक के अस्तित्ववाद को ढोने पर अपना स्वरूप अवरुद्ध कर लेती है। वार-वार लगता है स्वतंत्रता, परतंत्रता, मृत्यु, ईश्वर और अस्तित्व आदि के उत्तरों के लिए योके के स्वरूप को अवरुद्ध किया गया है। उसे स्वाभाविक नहीं बनने दिया गया। लगता है जैसे लेखक के सिद्धान्त पक्ष को मुखरित करने में या दर्शाने में योके का स्वरूप अवरुद्ध होता गया है। इस प्रकार लेखकीय अभिव्यक्ति का वलात्कार होने पर 'योके' भी अज्ञेय के अन्य नायकों के समान पलायन करती है, वेशक यह पलायन आत्मघात के रूप में हुआ है।

'पचपन खम्भे लाल दीवारें' : ऊषा प्रियम्वदा (१९६३)

'पचपन खम्वे लाल दीवारें' (1963) नायक विहनी उपन्यासों को कड़ी का उपन्यास है जिनमें यदि कोई केन्द्रीय पात्र है तो वह गर्ल्ज-कालेज में प्राध्यापिका तथा होस्टल की वार्डन सुषमा शर्मा ही है। ऐसे अभाव-ग्रस्त निम्न मध्यवर्गीय परिवार से जहां अपना पिता और जवान बहनें कुछ भी न कर सकने की स्थिति में है।

जहां पारिवारिक स्वार्थ और मजबूरी के कारण जवानी निकल जाने पर भी लड़कियों के विखरे हुए जीवन में वहारे नहीं आ सकीं। भाई छोटे हैं और मां वाप कुछ भी न कर सकने की स्थिति और तव वड़ी लड़की घर वालों का पेट अपने भविष्य की चिन्ता में घुलते हुए आहों द्वारा भरती है।

'कालेज, और छात्राएं, लैक्चर और फिर भयानक सूनापन, खालीपन और वेगानापन। एक ही धुरी में घूमती और जीवन जीती सुषमा। दूर दूसरे शहर में परिवार के सदस्य और खाली कालेज वरामदों (कारीडोरों) में घर के

---

1. 'अपने-अपने अजनवी', अज्ञेय, पृ० 125

सहज स्नेह की उष्णता को तरसते हुए सुषमा। अपने अकेलेपन का जिम्मेदार घर वालों को समझती हुई उसे कई वार लगा जैसे उसके मां बाप न होकर केवल काली छायाएं हों। तब उसके सब विचार उस बंद गली में मुड़ जाते जिसमें आगे निकलने की कोई राह न हो।

विवशता, क्रोध और आपा खोने (टेम्परलूज) की स्थिति में उलाहना देते हुए माँ से स्पष्ट रूप में कहती है 'जरा अपने दिल के अन्दर झांककर देखो कि तुम ने मेरे लिए क्या किया है। मेरा आराम से रहना ही तुम्हें खटकता है। तुम शादी तय करो नीरू की, मैं अपने सारे गहने कपड़े उठाकर दे डालूं यही तो तुम चाहती हो।[1]

उसे बार-बार लगता है मानो वह एक दलदल में फंस कर रह गयी हो। वह छटपटाती है, उबरना चाहती है, पर दिन प्रति दिन डूबती ही जाती है। घर की जिम्मेदार सदस्या होते हुए भी वह कुछ नहीं कर सकती। उसने चाहा जरूर कि नीरू को बुलाकर डांटा जाए कि वह क्यों बार-बार खिड़की पर आकर खड़ी हो जाती है जबकि उसे पता है ही कि बृजमोहन सामने रहता है। परन्तु उसने जाना कि ऐसा वह कुछ भी नहीं कर सकती। यही स्थिति उसकी कालेज में भी देखी जा सकती है। टाईमटेबल बना कर आधी छुट्टी के पश्चात् के पीरियड स्वयं लेने पर जब उसकी सहेली मीनाक्षी उसको ऐसा न करने की बात कहती है सुषमा स्वयं स्वीकर करती है हुई कहती है, बात तो ठीक है मीनू, पर मुंह खोलकर कुछ कहा भी तो नहीं जाता। मैं तो कभी कभी जिन्दगी से आजिज आ जाती हूं।[2] उस जिन्दगी के कड़वाहट भरे क्षण ही उसे नील की ओर आकर्षित करते है। बेशक नील उससे कम उम्र का है परन्तु उसे पाकर जीवन में पहली बार उसे खोये हुए वर्षों का दुख होता है। जीवन की भागदौड़ और आजीविका के प्रश्नों में चुप चाप विलीन हो गए वे वर्ष --और उन उसके चारों और दीवारें खिची रह गई थीं, दायित्व की, कुण्ठाओं की, अपने पद की गरिमा की और परिवार की।[2] इनसे घिरे होने पर भी अवचेतन उसे हमेशा सालता रहा हैं। उसे प्रेमी नहीं चाहिए था। उसे पति की आकांक्षा भी न थी, पर कभी कभी उसका मन न जाने क्यों डूबने लगता। अपने परिवार का सारा बोझ

---

1. 'पचपन खम्बे लाल दीवारें', उषा प्रियंवदा, पृ० 90
2. वही, पृ० 13

अपने ऊपर लिए वह काँपने लगती। तब चाह उठती कि दो बाहें उसे भी सहारा देने को हों, उस नीरवता में कुछ अस्फुट शब्द उसे भी संबोधन करे।[1]

नील से उसे प्रेम था यह बात स्पष्ट रूप से वह स्वीकार कर लेती है। वह कहानियों की उस शापग्रस्त राजकुमारी की भाँति थी, जो नील के स्पर्श से जाग उठी थी। कभी-कभी नील के मुख पर भावों के उतार चढ़ाव उसे आश्चर्यचकित करते। उसे लगता समाज की छायाएं हरदम उसके और नील के बीच शास्त्रों और होस्टल की लड़कियाँ उसके विरुद्ध षडयन्त्र रचतीं। लड़कियों के मुख से नील और अपने सम्बन्धों की बात सुनकर उसे लड़कियों की भलाई के लिए किये गए कामों पर खीझ होती। वहां दूर भागने की बात सोचती तो स्वयं को परिवार से चिपकी हुई पाती। अपना पिता और जवान नीरू की शकल उसे रूलाने के लिए बार-बार उसके सामने आती तो वह छटपटाती और घर वालों को कोसती।

नील के साथ नीरू की शादी करने के लिए कृष्ण-मौसी को लिखा गया मां का पत्र वह फाड़ डालती है। नील की भेंट में दी गई साड़ियों में माँ द्वारा नीरू को साड़ी पहनाने पर वह माँ पर चिल्लाती भी है। बहन की शादी की बातचीत के लिए आये मेहमानों के स्थान पर नील कल्पना करता और सशक्त बाहूपाश में होना उसके अवचेतन को उधाड़ कर रख देते हैं।

जब विगत जीवन सूना और रूखा लगे और भविष्य अन्धकारमय तब इन्सान वर्तमान को जी भर कर निचोड़ लेना चाहता है। सुषमा ने नील से यही चाहा था परन्तु प्रिंसिपल द्वारा अनैतिक आचरण के आधार पर इस्तीफा मांगने पर उसका वर्तमान भी उससे छिन जाता है। रह जाता है घर और भाई बहनों के चेहरों के बीच झांकता निरीह बाप का चेहरा। प्रिंसिपल को उसका यह कहना कि नील अब यहाँ नहीं आयेगा उसके समूचे खण्डित होने की दशा को दर्शाता है। जिसे वह नील और मीनाक्षी के सामने प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करती है। 'मैं केवल साधन हूं। मेरी भावना का कोई स्थान नहीं। विवाह करके परिवार को निराधार छोड़ देना मेरे लिए सम्भव नहीं। मैंने अपने को एक ऐसी जिन्दगी में डाल लिया है। तुम चले जाओगे तो मैं फिर अपने को उन्हीं प्राचीरों

---

1. 'पचपन खम्भे लाल दीवारें', उषा प्रियंवदा, पृ० 29

में बंदीं कर लूंगी ।[1] और मीनाक्षी के कहने पर कि 'तुम अपनी निधि अपने ही हाथों क्यों लुटा रही हो,' कहती है 'मैं साहस हीन हूं। आज से सोलह साल बाद शायद तुम अपनी बेटी को लेकर इस कालेज में आओ, तब भी तुम मुझे यहीं पाओगी। कालेज के पचपन खम्भों की तरह स्थिर चंचल—।[2] पैंतीस वर्ष की अवस्था में बिल्ली पालने की बात उसके एकाकी और खण्डित जीवन को दर्शाती है जो इसे न चाहते हुए भी स्वीकारना पड़ा।

इस क्लास में उसके लैक्चर नीरस हो जाते हैं। लड़कियां असन्तुष्ट-सी उसकी ओर देखती रहती हैं। वह लड़कियों की उस दृष्टि को देखकर वह बुदबुदाती है—'अब मैं ऐसी ही रहूंगी, मन की वीरानियों में भटकती हुई, नील के बगैर मैं कुछ भी नहीं, केवल एक छाया, एक खोये हुए स्वर की प्रतिध्वनि।'[3] जो बाकी बचा उनमें भी कुछ स्मृतियाँ, कुछ स्वप्न और कुछ अस्फुट शब्द उन्हीं संवेगों की दहलीज पर खड़ी होकर प्रतीत में झांकती हुई, मन की संकुल गलियों में भटकती हुई, हर मुद्रा, हर वाक्य और प्रत्येक स्पर्श के अनेक संदेशों पर रुकती हुई—अपने में सम्पृक्त ही वह रह गई।[4] वह भूल गयी कि वह कितने मोड़ पार कर चुकी है। उसे लगा अब वह उस स्थान पर आ पहुंची है, जहां पीछे मुड़कर देखने से आशाएं बड़ी खोखली नजर आती हैं और यथार्थ की प्रखरं में कोता मल स्वप्न कुम्हला जाते हैं।[5]

अन्त में सुषमा द्वारा नील का अस्वीकार उसके मध्यवर्गीय अकुलाहट और अब का स्वीकार है। जिसमें आज का इन्सान आभिशप्त है। स्वतंत्र जीवन-यापन और सामाजिक नैतिक सम्बन्ध, नारी के नये संदर्भों को उभारते हैं। मध्यवर्गीय इन्सान आज जैसे जी रहा है, उसकी नियति क्या है इस ओर लेखिका का ध्यान रहा है। नायिका की नियति उसकी अपनी नियति नहीं, वह नियति सामाजिक संदर्भों की देन है जिसे ओढ़कर जीना होता है।

---

1. 'पचपन खम्बे लाल दीवारें', उषा प्रियंवदा, पृ० 64
2. वही, पृ० 114
3. वही, पृ० 127
4. वही, पृ० 127
5. वही, पृ० 29

'किस्से ऊपर किस्सा' : रमेश बक्षी (१९६३)

'किस्से ऊपर किस्सा' (1963) (रमेश बक्षी) दर्पण है अवचेतन मन की इच्छाओं का जो अवसर कुअवसर जाग्रत हुआ करती हैं। इन्सान आज भी उतना ही छोटा, उतना ही कमीना, उतना ही कामुक है जितना वह कल था। सैक्स की भूख उसकी आदिम भूख है और गुहाओं में विचरण उसकी नियति जो उसे उत्तराधिकार के रूप में मिली है। आज के जटिल जीवन, व्यापारिक संस्थाओं, नौकरशाही द्वारा भ्रामक नियति का शिकार हो इन्सान इतना छोटा, इतना बौना, इतना खण्डित, इतना एकाकी और इतना आत्म केन्द्रित हो चुका है कि वह स्वयं ही कटु से कटु, कुत्सित से कुत्सित बात या घटना को बिना किसी शरम या डर के स्पष्ट शब्दों में कहने से हिचकिचाता नहीं। वस्तुतः जर्जर समाज की विगलित मान्यताओं को अश्लील के चक्कर से दूर नंगे सत्य के रूप में दर्पण बनाने का प्रयत्न इसका अभीष्ट लगता है और प्रमुख हो गया है आज का रचनाकार और उसका व्यंग्य जो साहित्यिक संस्थाओं द्वारा बौना होकर रह गया है।

सत्य क्या है ? यथार्थ क्या है ? यह प्रश्न अपने आप में बहुत ही महत्वपूर्ण रह चुका है। परन्तु असत्य क्या है, असत्य कैसे कहा और सहा जा सकता है ? वस्तुतः असत्य अपने आप में उतना ही महत्वपूर्ण, उतना ही अपूर्ण है जितना सत्य। यही सत्य नायक के लाख प्रयत्न करने के पश्चात् उपन्यास के अंत तक अस्पष्ट ही बना रहता है।

'किस्से ऊपर किस्सा' अनेकों छोटे छोटे प्रासंगिक शीर्षकों में बंटा अवचेतन मन की विभिन्न मनःस्थितियों को दर्शाता है। उपन्यास का नायक कहानी का है और प्रूफ रीडरी से सम्पादक तक बनाया गया है। सम्पादक एक ऐसी पत्रिका का जिसमें नंगी सत्य कथाएं छापी जानी हैं। ऐसी कहानियां जिससे लोग तिल-मिला जायं। सत्य को जहाँ नंगे सत्य के रूप में लोगों के सामने रखा जायेगा। पत्रिका बहुत छोटी होगी लेकिन बात बहुत बड़ी। उस पत्रिका के सामने ऐसी भीड़ लगेगी जैसी भीड़ किसी आदमी के ट्रक से कुचले जाने पर लगती है। उसके बारे में वैसी ही कानाफूसी होगी जैसी मुहल्ले की किसी लड़की के भाग जाने पर होती है। और वह वैसे ही हाथों-हाथ पढ़ी जायेगी, जिस प्रकार कोई बैन्ड बुक

पढ़ी जाती है—।[1] इसके लिए नायक को 'श्रूड' बनने को कहा जाता है। उसकी बास (प्रकाशिका) उस पर इस कदर हावी है कि उसके कहने पर वह यात्राएं करने पर, दूसरी लड़कियों से प्रेम करने पर और अच्छे भले घर की लड़कियों से फ्लर्ट करने पर तैयार हो जाता है। नंगा सत्य क्या है इसके लिए उसके सामने कुछ प्रमाण हैं—क्या, कभी उसकी मां ने किसी से प्रेम किया है? क्या, उसके पिता के किसी से कोई इल्लीगल सम्बन्ध रहे हैं—कभी वे रंगे हाथों पकड़े गए हैं? क्या, उसकी बहन कभी अपने प्रेमी को चुम्बन देती पकड़ी गई है। 'क्या कभी कभी उसने किसी छोटी उम्र की लड़की को सीने से लगाया है। और जब वह चिल्लाई हो, तब भी उसे न छोड़ा हो? क्या, कभी उसकी बीवी ने किसी और को प्यार दिया है?[3] इन सभी प्रश्नों के आधार पर उसे नंगे सत्य की खोज करनी है और उस पर कहानियां बनानी हैं। हिन्दुस्तान की सभी पत्रिकाओं को तभी समाप्त किया जा सकता है जब कि वह प्रकाशिका के शब्दों में एक दम 'श्रूड' बनकर भावुकता-वावुकता, आंसू-फांसू को छोड़ कर खुद पानी के अन्दर डूबेगा।[3] दूसरे शब्दों में उसे बेशर्म बनना है।

सम्पूर्ण उपन्यास एक पौधे की जीवनी, एक रंगीन तस्वीर दी कुड़ी, दूसरा किस्सा उसी शुतुर्मग का, एक ठो एलोकेशी खुकी, छोटी लकीर, काला बोना, एक और लूज कहानी, और चंदेरी का मंत्री।[4] आदि प्रकाशित कहानियों के माध्यम से उपन्यास का पूर्णता देने का प्रयत्न किया गया है। यही नहीं उसने डायरी शैली पर एक खास प्रकार का शोध भी किया है—गुलाबी कवर वाली डायरी, सफेद कवर वाली डायरी, नफ़ीस डायरी, आदि के द्वारा उसने उपन्यास की विद्रूपता को बढ़ाया ही है कम नहीं किया।

इस प्रकार अपनी रचनाओं के माध्यम से लेखक ने एक नए प्रयोग द्वारा मानवीय अवचेतन को उघाड़ कर सामने रखने का निश्चित रूप से एक प्रयत्न किया है। परन्तु एक बात यह भी निश्चित है कि नंगा सत्य मात्र सैक्स में ही खोजा गया है। उपन्यास के हर पन्ने और लाईन में यह रेखांकित हुआ

---

1. 'किस्से ऊपर किस्सा', रमेश बक्षी, पृ० 35
2. वही, पृ० 2
3. वही, पृ० 5
1. 'ज्ञानोदय', जनवरी, 1960, 'नयी कहानियाँ', जुलाई, 1961, 14 मई, 1961, अक्तूबर 1961, फरवरी 1962, विनोद नवम्बर, 1961, 'धर्मयुग', 2 अगस्त, 1959

मिलता है ।

एक पौधे की जीवनी से लेकर चंदेरी का राजा, चंदेरी का मंत्री तक की कहानियों में वह 'नंगा सत्य' सत्य बताता हुआ और न बताता हुआ मिलता है। कहीं वह अपनी प्रेमिका को किसी के संग शादी तक करने की छूट दे जाता है, कहीं उसकी प्रेमिका किसी दूसरे के संग भाग जाती है । परन्तु हर जगह तब भी अपनी असमर्थता प्रकट करना और लड़की या धन को न ले उड़ सकना उसके विरोधाभास को दर्शाता है । कहानियों के माध्यम से उसने उस नंगे सत्य से स्वयं एक दम काट लिया है । अंतिम असफलता के पश्चात उसका इसका इस्तीफा देना और उसके पश्चात् भी उसके प्रकाशिका का उसके घर आकर ना जाना अपने आप को जहां एक व्यवसायिक संस्थाओं की विवशता और शोषण को बताता है, वहीं नायक को भी उसी श्रेणी में खड़ा कर देता है, जहां बाकी जगहों से नंगे सत्य से बच वह खुद प्रकाशिका को हीं फ्लर्ट करने की सोचता है ।

परन्तु उपन्यास अन्दर ही अन्दर नये मोड़ लेना भी शुरू कर देता है। और तब हमें सम्पूर्ण उपन्यास लेखकीय व्यक्तत्व का मजाक भी और एक अच्छी फैंटेसी भी लगने लगता है । प्रकाशिका से प्रभावित हर चीज़, हर जगह में उसे उसका ही प्रतिरूप दिखाई देता है । यह फैंटेसी की क्रूरता है जो उसकी रचनाओं के माध्यम से समसामयिक साहित्यिक प्रश्नों, व्यक्तियों और रूढ़ियों पर व्यंग बन कर प्रस्फुटित हुई है ।

लगता है जैसे किसी मध्यवर्गीय लेखक (नायक) को उसके ऋण से उऋण कर उसे उच्च वर्ग की सहूलतें देकर कहानी बनाने पर जानबूझ कर मजबूर किया गया है । कार, पैसा, बंगला, स्थायी नौकरी देकर उसे अच्छे घर की बहुओं को फ्लर्ट करना सिखाया जाता है । इस प्रकार का प्रयत्न समसामयिक रचना प्रक्रिया पर एक बहुत गहरा व्यंग्य छोड़ जाता है । और इस व्यंग्य का माध्यम बने हैं लेखक की रचनाएं कुछ कटिंग्ज और लेखक के घर के चिकन के पर्दे, लाख के खिलौने, उस द्वारा बनाया गया अजन्ता टाईप औरत का चित्र, उसकी बहन की लेडी घड़ी, उसकी पत्नी का ढीला ब्लाउज़ । बाथरूम के दरवाजे की क्रिन्क और कोका कोला की बोतल ।[1] जिनके माध्यम से लेखक

1. 'किस्से ऊपरे किस्सा', रमेश बक्षी, पृ० 94

ने एक फैंटेसी की कल्पना कर नंगे सत्य को सामने रखने का प्रयन्न किया है। प्रकाशिका वास्तव में कोई प्रकाशिका नहीं हो कर उसके बिम्बों का रूप है जो सम्पूर्ण व्यवसायिक प्रकाशकों का मात्र प्रतिनिधित्व करती है। उसके घर के चिकन का पर्दा प्रकाशिका की चिकन की साड़ी बनता है, पत्नी का ढीला ब्लाउज़ उसके कुहनियों तक का ब्लाउज़, लाख के खिलौने लाख के कड़े बनते हैं, बहन की घड़ी उसके हाथ की घड़ी, अजन्ता टाईप औरत का चित्र प्रकाशिका का चेहरा और जूड़ा बनता है।[1] उसके बाथरूम के दरवाज़े की क्रिक क्रिक प्रकाशिका के कमरे की काल-वैल, उसके कमरे में पड़ी फिनायल से भरी कोका कोला की बोतल प्रकाशिका द्वारा दिया जाने वाला पेय बनता है। और इस्तीफा देने के पश्चात प्रकाशिका का उसके घर आकर न जाना आज के लेखक की नियति लगता है जो मजबूर होता है ऐसी संस्थाओं के हाथ में जहां उसकी आजीविका आश्रित-सी बनी रहती है।

यही नहीं सम्पूर्ण किस्से फैंटेंसी के हिसाब से मानव अन्तर के अवचेतन की उन विद्रूपताओं के प्रतीक हैं जिनके माध्यन से हमारा असली रूप सामने आता है। 'पौधे की जीवनी', 'शुतुर्मुग', 'बौना आदमी,' 'रंगीन तस्वीर दी कुड़ी' और 'चंदेरी का राजा', 'चंदेरी का मंत्री', अपने आप में उस विद्रूपता का प्रतिनिधित्व करने लगते हैं जिनके कारण हमरे अन्तःकरण में हजारों प्रकार की कुंठाएं हलचल मचाया करती हैं। अपने किस्सों द्वारा नंगे सत्य को प्रकट करता हुआ आलोचकों, प्रकाशकों और शास्त्रियों पर दुहरी मार भी करता है जो लकीर के फकीर हैं या एक चौखटे में हम सबको देखने का प्रयत्न करते हैं।

'चारु चन्द्रलेख' : डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (१९६३)

सन् 63 में प्रकाशित इस उपन्यास का नायक उज्जैन का राजा सातवाहन है जिसने देवी के चरणों में सिर रख कर शपथ खाई है कि सीधे जनता से सम्पर्क रखेगा, किसी को छोटा और बड़ा नहीं मानेगा, धरती को बपौती ना मानकर धरोहर समझेगा और सामन्ती-प्रथा का उच्छेद करेगा।[2] राजा सातवाहन एक दिन सीदी मौला नामक एक सिद्ध की खोज में निकलता है, तो रास्ते में उसकी चन्द्रलेखा नामक एक परम् सुन्दरी, समस्त स्त्री-गुणों से सम्पन्न स्त्री से भेंट होती

1. 'किस्से ऊपर किस्सा' रमेश बक्षी, पृ० 2
2. 'चारु चन्द्रलेख', डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 78

है जो स्वयं किसी तपस्वी की खोज में है। राजा से वह अपनी खोज में सहायता की मांग करती है और उसकी रानी बनने को तैयार हो जाती है। सातवाहन राजधानी लौटकर उससे विवाह कर लेता है और साथ ही तपस्वी नागनाथ को भी ढूंढ़ निकालता है। पर वह तपस्वी कोटि वेधी रस की सिद्धि में लगा है और रानी चन्द्रलेखा से इस कार्य में सहायक होने की मांग करता है, क्योंकि सर्वगुण-सम्पन्न स्त्री द्वारा ही उस रस की सिद्धि सम्भव है। इस सिद्धि और भारत की तत्कालीन अशान्त अवस्था को राजा सातवाहन किस प्रकार सम्भालता है, उसी में नायक का स्वरूप देखा जा सकता है। वस्तुतः कहानी तव की है जब भारत के उत्तरी माग पर पूर्ण रूप से तुर्कों का राज्य स्थापित हो गया था। .... विदेशी आक्रमण के प्रतिरोध के समय देश की प्राण-शक्ति, ग्रह-गण, मन्त्र, भूत वैताल, डकिनी-शकिनी, ऋद्धि-सिद्धि, सुन्दरी साधना मोहन और उच्चारण में लोप हो रही थी। राजा यहां नायक भी है और 'नैरेटर' भी, अतः सारी प्रति-क्रियाओं का बोझ उसे ही सम्भालना पड़ा है।

वस्तुतः राजा सातवाहक इस उपन्यास में स्वयं ही मानवीय तत्व की इस उपेक्षा का एक अन्य रूप है। प्रतीक स्तर पर वह ज्ञान अथवा चेतना का प्रतिनिधि है। जो इच्छा और क्रिया शक्ति के अभाव में जड़ और विमूढ़ है। उपन्यास के प्रारम्भ से ही वह अन्य प्रेरित है, उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है। न तो उसमें कोई प्रेरणा ही है और न ही गति ही। वह स्वप्नों में विश्वास करता है। सिद्धि रस के लिए अपनी पत्नी चन्द्रलेखा को जाने देता है। शत्रु से युद्ध के मैदान से लेकर राजमहलों तक उसके सभी काम बीधा, अलहन और मैना ही करते हैं। वह एक प्रकार की निष्क्रियता की स्थिति में पड़ा रहता है। जोखिमों में उसके सहायक ही पड़ते हैं और वह खुद तमाशबीनों की भाँति दूर खड़ा उस सम्पूर्ण प्रक्रिया को 'वाच' भर ही करता है। यहां तक कि दुश्मन से लड़ाई वह अपने मंत्रियों के कहने पर ही करता है न कि अपने निर्णय से। प्रजा और सैनिकों की 'राजा सातवाहन की जय' के नारों में अगर वह कभी कुछ सोचता भी है तो उसे क्रिया रूप नहीं दे पाता। वस्तुतः वह अपने उद्देश्य और अपनी नियति के बारे कुछ भी नहीं जानता।

वह प्रारम्भ से अन्त तक रोता-झींकता रहता है। शादी के समय से ही वह चन्द्रलेखा के हाथ का खिलौना है, उसकी संशयालु एवं निर्बल चेतना उसके वशीभूत है, वह कठपुतली जैसा उसी के हाथों में नाचता है, उसी के लिए उसमें

मरता है। उससे अनुनय-विनय करता है। पर उसे नियन्त्रित नहीं कर पाता।[1] चन्द्रलेखा ही जनता में शक्ति का प्रचार करती है। वह तो चन्द्रलेखा को स्पष्ट शब्दों में यह भी कह देता है कि क्षमा करो देवि, मेरे लिए तुम्हारा यह रूप और लावण्य ही सर्वस्व है। उसको पाकर ही अपने को चरितार्थ अनुभव कर रहा हूं। उसके प्रति मेरा कोई लोभ नहीं है।[2] सातवाहन को ऐसा चरित्र बनाने की प्रतीकात्मक आवश्यकता जो भी हो, मानवीय घात-प्रतिघात के स्तर पर, जीवन्त व्यक्तियों के बीच सम्बन्ध के स्तर पर, उसकी कोई सार्थकता नहीं जान पड़ती। साधु सन्तों का उपदेश सुनकर, सिदीमोला, अमोध व्रज, तथा मैना द्वारा उत्साहित करने पर देश रक्षा की भावना मात्र उसकी नसों को झनझनाहट देकर ही रह गयी है। वह खुद पहाड़ों की अंधेरी खाइयों में निरुद्देश्य भटकता ही दीखता है। देवी शंकर अवस्थी के अनुसार राजा सातवाहन को 'नैरेटर' का पद देकर उसे एक ऐसा ऐतिहासिक दायित्व सौंप दिया गया है कि वह अपनी प्रतिक्रियाओं के माध्यम से उन चरित्रों की बात बता दें। उनके अनुसार वह एक ऐसा कार्डियोग्राम' है जो अन्य हृदयों की धड़कनों के 'ग्राफ' अंकित करता चलता है। इस प्रक्रिया में उसका अपना कोई क्रियाशील व्यक्तित्व ही नहीं रह जाता। वह तो है हर 'प्रभाव' के लिए खुला है, और जहां हर प्रभाव के प्रति खुलापन होता है, लगता है वहां अन्ततः कोई प्रभाव ही नहीं रह जाता।[3]

जब भगवती रानी के समझाकर गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने के पश्चात उसे सौंपती है, तो वह कहता है, 'मैंने शिरसा प्रणाम करके भगवती के आशीवर्चन को ग्रहण किया। हाथ जोड़ कर बोला, धन्य हूं माता, कृतार्थ हूं, सफल काम हूं, परन्तु जानना चाहता हूं कि जानना और चाहना कैसे एक होंगे। यदि अनुचित समझें तो यह दास कृतकाम होगा। मूढ़ हूं माता, न ज्ञान क्रिया, न इच्छा के रहस्य को समझ पा रहा हूं और न ही यह समझ पा रहा हूं कि मेरा कर्तव्य क्या है।[4] याद रहे यहां वह पूरे भारत का राजा सातवाहन है। यह बात नहीं कि वह कमजोरी जानता ही नहीं। वह जानता है और स्पष्ट शब्दों में स्वीकारते हुए कहता भी है—'हम तीनों (राजा, रानी और विद्याधर) के तीन लक्ष्य थे जो थोड़ी दूर तक एक रास्ते से चलने पर मिल जाते थे। इसी बीच मिले बोधा

1. 'हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद', डा० त्रिभुवन सिंह, पृ० 329
2. 'चारु चन्द्र लेख', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 343
3. 'विवेक के रंग', देवी शंकर अवस्थी, पृ० 323
4. 'चारु चन्द्र लेख', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 286

विद्याधर भट्ट के अनुगत, मुझे सहायक समझे जाने वाले। मिली मैना, रानी की प्रियसहचरी, पर उनकी साधना से एकदम असहमत। वह मुझे सहायक के रूप में नहीं ग्रहण करती। उसने न जाने कैसे और क्यों अपने को मेरी रक्षिका मान लिया। बाधा मैंने किसी को नहीं दी।'

'मुझे इन विभिन्न लक्ष्य के यात्रियों को साथ लेकर चलना है। कभी-कभी मैं स्वयं अपना प्रतिवाद सिद्ध हुआ हूं। रानी मुझसे भी अधिक सिद्ध हुई है। विद्याधर भक्त दृढ़ हैं। मैना भी सुना है दृढ़ है। विचित्र योग है। राजा और रानी दोनों ही स्वतः विभक्त हैं, जो लोग अपने को उनका अनुगत मानते है, वे दृढ़ हैं। करे भी क्या। कर्त्तव्य-शक्ति उसने मैना को दे रखी है और इच्छा शक्ति रानी को तथा बोध-शक्ति सम्भवतः बौधा को। तब वह तो माध्यम हो जाता है दूसरों के विचारों तथा भावनाओं का'[1]

प्रतीकों के रूप में राजा सातवाहन, उसकी बत्तीस स्त्री-लक्षणों से युक्त रानी चन्द्रलेखा और उसकी संगिनी मैना को क्रिया-विभक्त शक्ति के तीन आद्य रूप ज्ञान, इच्छा और क्रिया के रूप में लिया है जो एक दूसरे से विच्छिन्न है। क्योंकि वह सारे उपन्यास में संयुक्त नहीं हो पाते इसी लिए किसी को कोई सिद्धि प्राप्त नहीं हो पाती।

इस भांति लेखक ने वहुत प्रकार से उस युग के संघर्ष में आज की स्थिति को समझने और पहचानने का प्रयत्न भी किया है। नैमिचन्द्र जैन के अनुसार उसने पूरे युग के अन्तर्द्वन्द्व को एक उपाख्यान (फेबल) द्वारा मूर्त करना चाहा है। यह दूसरी बात है कि वह अपने इस प्रयास में सफल नहीं हो पाया है। वस्तुतः भारतीय इतिहास के उस अन्धकार युग के विघटन स्खलन का कारण जहां बुद्धि, इच्छा और क्रिया में असामंजय में माना है वहीं उसने आज के युग की अराजकता और विशृंखलता का कारण भी इसी क्षेत्र में असांजस्य को ही माना। इस प्रकार लेखक ने आधुनिक स्थितियों की चेतना के साथ बाहरवी के तेहरवीं सदी के आंतरिक कला से जर्जर और तान्त्रिक साधना के मोह में पथ भ्रष्ट भारतीय जीवन में उस युग की अराजकता, विशृखलता, नैतिक हीनता और मूढ़ता के सूत्र और उनकी परिणति खोजने का प्रयास किया है। इस प्रयास में चरित्र अविकसित रह गए हैं जिसका कारण नेमिचन्द्र जैन के ज्ञान, वर्णन की

1. 'चारु चन्द्रलेख', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 364

रोचकता रहस्यकता पर अधिक बल देने को मानते है ।[1] नेमिचन्द्र की बात से सहमत होना पड़ता है जब यह कहते है 'मानवीय चरित्र या तोजीवन्त नहीं, केवल नाम भर, या प्रतीक मात्र है, अथवा अपूर्ण ओर अविकसित रह गये हैं। या वे अपने आप में कुल मिला कर संयोजित समन्वित प्रभाव को छोड़ते ही नहीं ।[2] इसी तीखी चरित्रवता की स्थापना न होने की शिकायत देवीशंकर अवस्थी ने भी की हैं ।[3]

इस प्रकार नायक के स्वरूप की दृष्टि से राजा सातवाहन अन्य प्रेरित-देवी शंकर अवस्थी के अनुसार 'कार्डियोग्राम' है जो अन्य हृदयों की धड़कनों के 'ग्राफ' को अंकित करने में खुद अपना क्रियाशील व्यक्तित्व खो देता है ।[4]

'शहर में घूमता आईना' : उपेन्द्र नाथ अश्क (१९६३)

1963 में प्रकाशित उपेन्द्रनाथ अश्क का 'शहर में घूमता आईना' 'गिरती दीवारों' की भाँति मध्यवर्गीय जीवन को अभिव्यक्ति देता है। स्वाधीनता से पहले जालन्धर के माध्यम से 'गिरती दीवारें' के चेतन को स्मृति में पकड़ने की कोशिश दैनन्दिन जीवन की कहानी में की गई है। इस उपन्यास का नायक 'गिरती-दीवारों' के नायक चेतन का अगला रूप होते हुए भी उसके स्वरूप से कुछ हट कर है।

चेतन लाहौर में एक दैनिक में सहायक सम्पादक है। वह अपनी सुन्दरी साली नीला के प्रति बहुत आकृष्ट है और एक बार ससुराल में बीमार होने पर अपनी तीमारदारी के उपस्थित नीला को चूम लेता है। इससे उसके मन में पश्चाताप होता है। वह अपने-आप को क्षमा नहीं कर पाता और उसके पिता से सारी घटना कहकर जल्द से उसका विवाह रंगून-निवासी किसी अधेड़ व्यक्ति से करवा देता है। नीला के विवाह के अगले दिन वह अपने जन्मस्थान जालन्धर आता है, पर अब वह इस कारण ग्लानि और पश्चाताप से पीड़ित है कि उसके कारण ही शायद नीला का जीवन बर्बाद हो गया है। इस लिए वह अपनी पत्नी चंदा के साथ भी सहज और स्वाभाविक नहीं हो पाता। चेतन की इस

1. 'अधूरे साक्षात्कार', नेमिचन्द्र जैन, पृ० 107
2. वही, नेमिचन्द्र जैन, पृ० 113
3. वही, पृ० 113
4. 'विवेक के रंग', देवी शंकर अवस्थी, पृ० 323

अस्वाभाविक मन:स्थित का कारण वस्तुत: उसकी काम और अर्थ की कुण्ठाएं हैं जो उसके जीवन को सहज नहीं होने देती। इस सम्वन्ध में लेखक का कथन है, 'वह तो चाहता था कहीं ऐसी जगह जाए, जहाँ उसका मन नीला के विरह, अपनी पीड़ा, अमीचन्द की (उसका बचपन का साथी) डिप्टी-कलक्टरी और उसके संदर्भ में अपनी हीनता के एहसास को एकदम भूल जाए।'[1] यही चेतन की समस्या है जिसे हल करने लिए घर से निकल पड़ता है और जालन्धर की बस्तियों, गलियों और सड़कों की गश्त लगाने में व्यस्त हो जाता हैं। इस भटकन के 12 घण्टों में वह बहुत कुछ पाता है और बहुत कुछ खोता भी है। डा० मदान की यह बात ठीक लगती है कि इस खोने और पाने में जब वह जालंधर को कथा नायक के रूप में देखते हैं।[2] परन्तु एक बात निश्चित है चेतन बेशक जालन्धर शहर के वर्णन में गौण हो जाता है, वह जालंधर शहर से असम्पृक्त किसी भी हालत में नहीं। नेमिचन्द्र जैन ने इस पूरे उपन्यास में यदि कोई महत्वपूर्ण अश माना है तो वह है एक कस्बे की निम्न-मध्यवर्गीय जिन्दगी की बड़ी सूक्ष्मता और विशदता से प्रस्तुत रेखा-चित्र ही।[3] उनके अनुसार इनमें मध्यवर्गीय समाज के बहुत-से-स्तर, बहुत-से रूप और उनके प्रतिनिधि, बहुत से व्यक्ति प्रस्तुत हो सके हैं, और लगता है जैसे पूरे कस्बे की जिन्दगी मूर्त हो उठी हो। विशेष कर इस जिन्दगी का जैसे युगों से चला आता ठहराव, पिछड़ापन, इसकी संकीर्णता, क्षुद्रता, स्वार्थपरता—सब कुछ वड़े विस्तार से ब्योरे के साथ रखा गया है। लेखक ने इस ठहरे हुए जीवन की घुटन, कुण्ठा और असन्तुलित मानसिकता को पूरी तरह व्यंजित किया और उसके सामाजिक, आर्थिक कारणों का निर्देश किया।[4] इस अभाव ग्रस्त मुहल्ले में जहां अशिक्षा, असंस्कृति, भूख और प्यास का राज्य था, जहाँ कई घरों में उमर-भर भूखे-प्यासे कुंवारे पड़े थे, वे यदि अनाचारी, जुआरी, व्यभिचारी और पागल न हों तो और क्या हों? चेतन इन बारह घण्टों में हर व्यक्ति को झेलता है और हर दृश्य को जीता है। उसमें किसी से जूझने की शक्ति ही नहीं है, इस लिए वह आईना है, जिसमें जालन्धर के समस्त जीवन के बिम्ब पड़ते हैं। उसकी भेंट भद्दे, रामदित्ता, चाचा, दीनानाथ हकीम, जालंधरी योगी, हुनर-साहब, गोविन्ददास, लाला अमर नाथ, मणिराम आदि पात्रों से इस बारह घण्टों

---

1. 'शहर में घूमता आईना,' उपेन्द्र नाथ अश्क, पृ 172
2. 'आज का हिन्दी उपन्यास,' इन्द्रनाथ मदान, पृ० 100
3. 4. 'अधूरे आक्षात्कार,' नेमिचन्द्र जैन, पृ० 124

की अवधि में होती है। भद्दा उसे जड़ लगता है, चाचा पागल, और दीनानाथ नीम-हकीम। दीनानाथ बचपन में नये-नये जादुई खेल वनाकर उसे आश्चर्य में में डाल दिया करता था। सिने तारिका के यहां से वह लड़की के नाम पर हमीद के लिए उसकी फोटो प्राप्त कर रखा था। सिनेमा के मालिक को यदि उल्लू बनाकर वह पास ले लेता था, तो पत्रिका के सम्पादक को लेखिका के नाम पर रचनाएं भेजकर वह महामूर्ख तक साबित कर चुका था। यही नहीं अतीत की यादों में वह अपने समरति (समलैंगिकता) आकर्षण के कारण छोटे-छोटे सुन्दर लड़कों की भी याद करता है, जिनकी वह दोस्ती पाने को लालायित रहता था। फिर एक घटना उसे मां के गीतापाठ करने की याद आती है। जहाँ मां को चाहे शान्ति मिलती रही हो, उसे गीता पाठ से उलझन नहीं होती थी।[1] इस प्रकार न जाने अनगिनत बचपन की अनगिनत घटनाएं उसे हर चौक और हर रास्ते पर खड़ा होने पर मजबूर और परेशान करती हैं। इसी प्रकार के अनेक छोटे छोटे प्रसंग बहुत ही सहज, साधारण, और महत्वहीन चीजों की ओर नायक का ध्यान जाता है।[2] डा० मदान इस प्रकार उपन्यास के सारे ताने-बाने में चेतन को इतना अधिक उभरते हुए नहीं देखते जितना उनके अनुसार कि जालंधर शहर उभर कर सामने आता है। उनकी यह बात भी ठीक लगती है कि चेतन इस प्रकार साली नीला को खो कर जालंधर शहर को पा लेता है।[3] इस जालंधर शहर को पाने में उसने जो बारह घण्टे खर्च किए हैं उसका अंत उसकी पत्नी चंदा की गोद में है जहां उसकी थकावट और तपन शांत होती है —दिन भर की भटकन के बाद उसका यह सोचना कि उसके पास जो है, उसे बेहतर बनाने का प्रयास करेगा। जो नहीं है, उसकी चिन्ता नहीं करेगा।—और इस प्रकार घर आकर अपनी पत्नी का मुख देख कर उसका यह सोचना कि वे केवल अपनी ही भावना अपने ही स्वार्थ, अपने ही पक्ष की बात सोचता है। उसके पास जो है, उसे ठुकरा कर जो नहीं है, नहीं मिल सकता उसके पीछे परेशान है। इसी प्रकार अपनी सुहाग रात याद करना जहां चंदा का न नाज था, न नखरा, न चालाकी, न चतुराई, न हठ, न जिद। गहरी विशाल झील से वे आवेगहीन थी। जिसके किनारे चाहे लेटो, पानी पियो, या उतर कर गोता

1. 'शहर में घूमता आईना', उपेन्द्रनाथ अश्क, पृ० 330
2. 'माध्यम', डा० रघुवंश, दिसम्बर, 1964, पृ० 79
3. 'आज का हिन्दी उपन्यास', इन्द्रनाथ मदान, पृ० 100

लगाओ। झील तेज़ नदी की तरह उठा कर नहीं पटकेगी, सहज भाव से सब कुछ ले लेगी। इस प्रकार से सोचने के पश्चात् सुखानुभूति से उसका अणु-अणु पुलकित हो जाता है। जहां उसे त्राण मिलेगा, यह सब कुछ एक अनुपम अद्वितीय चरम भावोपलब्धि की तैयारी मात्र के सिवा कुछ नहीं है। जहाँ एक रस जिन्दगी के लम्बे विवरणों की श्रृंखला का अंत एक भावुकता पूर्ण प्रसंग में किया जा सके।[1]

नेमिचन्द्र बहुत ठीक कहते हैं कि चेतन की अन्तिम उपलब्धि से बारह घण्टों में कोई भी प्रसंग अनिवार्यत जुड़ा नहीं, बल्कि मूलत: उसके लिए अप्रासंगिक है। उनके अनुसार चेतन के साथ उन तमाम प्रसंगों का सम्बन्ध बड़ा सतही और क्षीण है। वे सब अधिक से अधिक उसके अतीत को स्पष्ट करते हैं, उसके आज के व्यक्तित्व में कोई आयाम नहीं जोड़ते। इस लिए उनके प्रति लेखक ने चेतन की जो प्रतिक्रिया दिखायी है, वह भी भावात्मक और गहरी न होकर सतही और भावुकतापूर्ण हो गयी है।[2]

'वे दिन' : निर्मल वर्मा (१९६४)

निर्मल वर्मा का उपन्यास 'वे दिन' (1964) जहां हिन्दी उपन्यास को एक नया मोड़ देता है वहीं एक बिल्कुल भिन्न प्रकार के नायक और उसके स्वरूप को भी दर्शाता है। इस उपन्यास का नायक 'मैं' नाम से है। 'मैं' भारतीय है और प्राग में शिक्षा प्राप्त कर रहा है। होस्टल में एक 'रूम-मेट' के साथ रहता है जो सर्दियों की छुट्टियों में घर आ चुका है। होस्टल छुट्टियों के कारण सुनसान है, चारों तरफ ऊब, उदासी और अकेलेपन के भयावह वातावरण को लिए हुए है। जल्द ही नायक इस वातावरण से मुक्ति पाता लगता है। जब टूरिस्ट एजेन्सी का मालिक उसे विदेशों से आए टूरिस्टों के साथ दुभाषिए (इन्टरप्रेटर) का काम सौंप देता है। पहले तो उसे झिझक मालूम होती है परन्तु बाद में वह इस को स्वीकार कर लेता है। तब वह एजन्सी के मालिक को ब्रिटिश सिग्रेटों के पैकेट उपहार स्वरूप देता है और लगे हाथों बाकी के बचे पैकटों की ब्लैक भी कर डालता है। वस्तुतः वह सोडा, बीयर पीता है और वोदका के लिए तरसता है।

---

1. 'अधूरे साक्षात्कार', नेमिचन्द्र जैन, पृ० 124
.2 वही, पृ० 125

विदेशी टूरिस्टों में 'रायना' उसे सबसे अधिक प्रभावित करती है। अपने रीतेपन को भरने के लिए दोनों को एक एक साथी की जरूरत है, बेशक यौन दृष्टि से वह सबल न भी हो। क्योंकि रायना परित्यकता है और अकेली नहीं रह सकती इसलिए 'मैं' के अकेलेपन की साथिन होना उसके लिए सुखद है। अतः कुछ क्षणों के लिए लगता है कि रायना के सम्पर्क में 'मैं' का अकेलापन कम हो गया है। 'मैं' भी ऐसी स्थिति को हाथ से नहीं जाने देता और उसे पूर्णतया जी भर कर भोगने को तैयार हो जाता है। तब उसकी पहले वाली झिझक दूर हो जाती है और प्राग की पाला खाई सड़को में उसे एक असीम विस्तार देखता है। उसमें इतना धीरज नहीं कि वह 'डान्स रूम' में जाकर नाचे, तब उन्हीं भारी कपड़ों में रायना के साथ बर्फ पर नाचने लगता है। रायना की आंखों में उसे एक अजीब-सा सम्मोहन लगता है, इसे वह स्ययं स्वीकारता है। 'उसकी आखें अजीब सी उज्जवल हो आई थीं, जब कभी मैं उन्हें देखता तो घबरा सा जाता। किसी लड़की की आखों को सह पाना जब वे बिल्कुल तुम्हारे चेहरे के सामने हो और जो इतनी उज्जवल हो, जैसे उस समय उसकी थी मेरे लिए हमेशा असम्भव रहा है,[1] इस सम्मोहन से वह अन्ततः बच नहीं पाता और धीरे-धीरे उसमें खो जाता है। यहां तक कि शाम को रायना का होटल लौटना वह बर्दाशत नहीं कर पाता। उसे लगता है जैसे खालीपन, अकेलापन और घबराहट उसे फिर अशांत करने जा रहे है जाने से पहले रायना उसे सांत्वना देते हुए कहती है कि कल हम सारा शहर घूमें तो उसे लगता है जैसे किसी ने उसकी सबसे प्यारी चीज़ छीन ली हो। वह स्वयं इसे मानता और कहता है लेकिन मैं कल के बारे में नहीं सोच रहा था। उसका जाना मुझे असम्भव-सा लग रहा था।[2] गप्पों और शराब के दौरों में उसे हमेशा अपने अजनबीपन, व्यर्थता, मायूसीपन और अकेले पन की अनुभूति का अहसास रहता है। रायना के होटल जाने पर उसका अजनबीपन और भी सशक्त हो उठता है। नायक कहता है—कुछ घर होते हैं जिनके भीतर आकर भी लगता है कि हम बाहर खड़े हैं। दरवाजों का खुले रहना कोई भी मानी नहीं रखता। दूसरे दिन जब वह फिर रायना को उसके होटल छोड़ने जाता है तो उसे फिर लगता है जैसे कहीं कुछ छूट गया है, जो कुछ देर पहले उसके पास था। नायक के ही शब्दों

---

1. 'वे दिन', निर्मलवर्मा, पृ० 83
2. वही, पृ० 87

में, 'इतने लोगों के बीच मुझे उसका सिर पराया-सा लगा, मुझे लगा अब उसके चेहरे को सब देख सकते हैं। कुछ घड़ियों पहले वह मेरा था, उसके बाल, पीला तिकोना, चेहरा, जैकेट में उसकी देह की गंध लेकिन उस क्षण होटल के तीखे आलोक में इतने लोगों के बीच वे सहसा दूसरों के बन गये थे। उसमें मेरा कहीं भी साझा न था।'[1] परन्तु यह अजनबीपन की स्थिति दो दिन में ही अपने पन में बदल जाती है। और रायना और बहुत अपनी-अपनी लगने लगती है—तब वह उसका चुम्बन भी करता है और आलिंगन भी। यहां तक कि मैं के डबलकोट की जेब में जब वह अपना एक हाथ डाल देती है, और मैं उसके हाथ की गरमाई महसूस करके कहता है—'यह बहुत कम होता है और होने पर चमत्कार-सा लगता है कि तुम्हारा हाथ अचानक एक ऐसी चीज़ पर पड़ जाए जो कुछ देर पहले चीज़ नहीं थी। जो कुछ देर पहले कुछ भी नहीं था। और अचानक वह मेरी समूची देह में फड़फड़ा रही थी। वह असाधारण घटना नहीं थी। वह घटना भी नहीं थी। जिस पर अगुंली रख कर मैं कह सकूं यह शुरुआत है, यह अन्त है। वह सिर्फ होने का सुख था जब कि हमारे बीच कुछ भी नहीं था। इस प्रकार नायक के मन के अवचेतन की परत-दर-परत खुलने लगती है और हम उसके एक दूसरे ही रूप से परिचित होते हैं। इस परिचय में हम देखते हैं कि वह रायना से जहां सब कुछ ले लेता है वहीं उसे बहुत कुछ दे भी डालता है। उसने हम दोनों को घसीट लिया और तब मैं चूमने लगा उसकी बाहों को, माथे के बीच बालों को, उसके होठों के बीच कटकटाते दांतों को।[2] डूबने से पहले एक पल स्मृति, सुख, समय-समय जो हमने संग भोगा था और वह भी जिसे आने वाले दिनों में अकेले भोगना था सब को हमने उतार कर पलंग के पैताने रख दिया था अपने अपने कपड़ों के संग, बहुत देर बाद जब हम ऊपर आये, तब भी वे वहां पड़े थे, बुझती हुई आग की रोशनी में—सूखे, सल्वटों-भरें स्मृतिहीन..।[3] रायना के साथ इस सुखद भोग के बाद भी वह कहीं अंदर ही अंदर से स्वयं को अकेला और अशांत पाता है। इससे छुटकारा पाने के लिए वह अपना ध्यान हटा कर अपने मित्रों के बारे में सोचना शुरु कर देता है। फ्रांज जो अपने कमरे में होगा, पियानों के आगे। मारिया अपने कमरे से बाहर होगी। टी टी जो कहीं नहीं जा सकता। तब वह ठिठक जाता है। इस दोपहर

1. 'वे दिन', निर्मल वर्मा पृ० 136
2. वही, पृ० 209
3. वही, पृ० वही

में हम कितते अलग हैं। और हम में से कोई भी किसी की मदद नहीं कर सकता। तब उसे लगता हैं जैसे हर व्यक्ति यहां एक दूसरे के लिए अन्धेरा है।[1]

नायक अपने घर से, अपने पुराने परिवेश से पूरी तरह कर चुका है। घर के बारे सोचना उसने कब का छोड़ दिया है। अपनी बहन का पत्र उपन्यास के आरम्भ में पाकर उपन्यास के अन्त तक वह उसे खोलकर पड़ने की कोशिश नहीं करता। उसी के शब्दों में घर अहुत अस्वाभाविक-सा जान पड़ता था, जैसे वह किसी दूसरे की चीज़ हो, दूसरे की स्मृति—पहले जो भी मतलब रहा हो, वह दिन, महीनों, वर्षों के साथ धुंधला पड़ता गया था। वह अब अर्थहीन था, और किंचित हास्यास्पद।[2]

इस प्रकार नायक जहाँ अकेलेपन, अजनबीपन का शिकार है वहीं भावहीन चेहरा लिए वह अपनी नियति के बारे अनजाना भी है। वह बार-बार स्वयं से प्रश्न करता है कि क्या हमारी नियति यही अकेलापन, अजनबीपन, बेगानापन, भावहीनता और उदासीनता में जीना हीं है, जिसका उत्तर वह अन्त तक नहीं पा सकता। उसकी आस्थाएं और उसके विश्वास प्रश्न-चिन्हों की सलीवों पर टँगी रह जाती हैं। मनुष्य की मानवीयता ही जब जड़ होगी तो वह मनुष्य रह ही नहीं गया, केवल एक व्यक्ति रह गया है, अकेला, उदास और निस्संग। अन्त में 'मैं' से रायना का अलगाव हो जाता है क्योंकि रायना अब अपने वतन वापिस जा रही है, नायक इस स्थिति को किंचित भिन्न दृष्टि से लेता है—'वह चाहता है कि वह कुछ अनुभव करे उसे कुछ बदला नज़र आए। रायना की गाड़ी छूटती है पर बदलता कुछ भी नहीं—शून्य की अनुभूति भी नहीं, केवल रायना से मिलने के पहले का और उसके संग बिताये क्षणों का मिला-जुला अवसाद पहले के तटस्थ भाव से उसकी अनुभूतियों के संग जुड़ जाता है, बिल्कुल उत्तेजनाहीन—(प्लैसिड)।

वस्तुत: नायक अकेलापन, अजनबीपन, बेगानापन, ऊब, त्रास, आशंका, मोह इन सभी के बीच से गुजरते हुए इस तथ्य तक पहुंच चुका है कि यह सभी अनुभूतियाँ किसी सीमा पर भी समाप्त नहीं हो सकती, ये अन्त हीन हैं। इनको

---

2. 'वे दिन,' निर्मल वर्मा, पृ० 31
1. वही, पृ० 199, 194

स्वीकार करना ही मनुष्य की नियति है। रायना जा चुकी है, मैं दूसरे टूरिस्टों के साथ कल पहाड़ों पर जाने वाला है। उन पहाड़ों पर जहां बहुत सी चीजों को भुलाया जा सकता है।[1] अंत में उसका यह निर्णय कि कल हम खूब पीयेंगे जहां उसकी उत्तेजनाहीन (प्लैसिड) प्रवृत्ति को दर्शाता है, वहीं एक भुला देने की मजबूरी एक विवशता की ओर भी इंगित करता है। अतः यहां डा० मदान के मत से सहमत होना पड़ता है कि निर्मल वर्मा पात्रों की विवशता के माध्यम से मानव की नियति पर प्रश्न चिन्ह लगाकर उसे छोड़ देते हैं। प्रश्न का उत्तर देना भी आवश्यक नहीं समझते। यह इनकी सृजन प्रक्रिया की विशिष्टता है और इसमें लेखक की आधुनिकता भी झलकती है।[2]

'दो एकान्त' : नरेश मेहता (१९६४)

नरेश मेहता का उपन्यास 'दो एकान्त' (1964) प्रेम कथाओं के चित्रण को लिए हुए भी एक अलग पहचान करवाने के लिये विशेष कर नायक के स्वरूप के लिए, महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास में नायक घटनाओं में खड़ा न होकर स्थितियों में खड़ा मिलता है। इसका कारण आज के जीवन में घटनाओं का न घटना और स्थितियों का उत्पन्न होना है। सम्भवत तभी नायक इस स्थिति में खड़ा होता है, जहां घटना घटनी चाहिए थी परन्तु केवल स्थिति ही उत्पन्न होकर रह जाती है।[3] इसी पृष्ठ भूमि में हमारा आज का आधुनिक ढाँचा काम करता है। यहीं कहीं वह नायक है जो प्रेम के तनाव की अंतिम सीमा पर निर्णय और ठोस निर्णय लेने को बाध्य हो जाता है। वस्तुतः सभी अर्थों में यह प्रेम का नहीं प्रेम के तनाव का उपन्यास है। और नायक सैंटीमैंटल और इमोशनल होने के बीच की क्षीण रेखा में है। अपना कुछ गंवा देता है—वह सब कुछ जो डा० विवेक को प्राप्त था। अपनी पत्नी वानीरा के साथ वह बेहद सुखी जीवन की शुरूआत करता है। यह शुरूआत पत्नी की उठती सांसों के साथ हिलते लाकेट को देखने से लेकर एक आदर्श डाक्टर होने के रूप की शुरूआत है। परन्तु जल्द ही पुरी की ग्रामोफून की आवाजें, समुद्र गर्जन, सी बीच की शांति, मूर्त्तियों की रचना, प्यार भरे आलिंगन एक कचोट बन जाते हैं, सालते रहने के लिए।

1. 'वे दिन,' निर्मल वर्मा, पृ० 232
2. 'आज का हिन्दी उपन्यास', इन्द्रनाथ मदान, पृ० 104
3. 'दो एकान्त', नरेश मेहता, भूमिका

वानीरा को पाकर उसे लगा था दो एकान्त वने वह अपने में ही तृप्त हैं। रोज़ ऐसा लगता है कि अभी आलाप आरम्भ ही हुआ है, राग तो शेष है।[1] सम्पूर्ण भोगी रात्रि की भांति विवेक की वही प्राणदायिनी वानीरा न जाने कहा खो गई।

बार-बार अन्दर से आहत होकर भी दाम्पत्य जीवन में उसे लगा उसके इस टूटने में भूल से भी वानीरा का न हो उसके कंधे पर झुका माथा ही था और न आश्वस्त करता हुआ कोई चूड़ियों भरा हाथ ही उसके पश्चात वह दाम्पत्य-जीवन में कभी भी कोई विनोद न देख सका।[2]

क्या केवल एक आदर्श के लिए यह सब हुआ ? यदि हुआ तो क्योंकर हुआ ? उसका देरी से आना यह अपने आप में बहुत साफ और स्वाभाविक है। उसका परोपकारी, सहजलज्जालू स्वभाव ही जहां उसे नदियां, महानदियाँ नावों से पार कराता, वही वर्षा से भीगते दल-दल में अंधेरे से जूझते रात-बेरात, मौसम बेमौसम सूखे में, बाढ़ों में रोगियों की सुश्रुषा वह भी मुफ्त, कराने का कारण बना। जहां एक जून चावल की समस्या है, वहां दवा की लागत वह वादों से से देंगे।[3] तब पैसे के स्थान पर उसे श्रद्धा मिलती है जो कहीं अन्दर से उसे सुखी और सन्तोष देने वाली है। पर वानीरा यह बरदाश्त नहीं कर सकी— 'तुम्हारी विवशता व्यवस्तता दोनों बूझती हूं विवेक, जब मैं अपने से छिन्न हुआ पाती हूं तो एक दम टूट जाती हूं विवेक। और फिर रात को जब कभी नींद खुल जाती है और तुम्हें निर्विकार सोये देखती हूं तो मन कैसा उदास हो जाता विवेक। लगता है कि एक अगम्य सिंधु हमारे ही एकान्तों के बीच आ खड़ा हुआ है।[4] यही नहीं मरा बच्चा पैदा करने के बाद वह पूर्णतया टूट जाती है। क्लाईड और मेजर आनन्द की ओर तब उसका आकर्षण कहीं अंदर से उसकी रिक्तता की पूर्ति करता हुआ लगता है तब वर्तमान को जी भर कर निचोड़ने का उसका निर्णय अपने आप में अहम् बात बन जाती है।

हम देखते हैं समूचे उपन्यास में नायक का इन्तजार करता रहता है, वानीरा की प्रसन्नता का। उस प्रसन्नता का जिसमें एक सुगन्ध होती है, जो

---

1. 'दो एकान्त', नरेश मेहता, पृ० 21
2. वही, पृ० 44
3. वही, पृ० 44
4. वही, पृ० 36

तौलिये और तकिये के धुलेपन में देखी जा सकती है । परन्तु हर बार उसे वानीरा से शिकवा रहा कि वह अपने सितार के तार इस कदर कस कर क्यों रखती है जिससे वह झनझना कर टूट जायें । इस बार भी उसने उस बिन्दु में से वह सेतु खोजकर सामने फैलाने का व्यर्थ-सा प्रयोग किया परन्तु तब सम्बन्ध बहुत दूर पड़ पड़ चुका था, और वह अनवरत अन्दर से घुटन का शिकार होता रहा। इस अवस्था में उसका भावुक होना सहज ही लगता है । बीते हुए क्षणों को खो देने उसे भी दुःख होता है । कुहरे में लिपटे क्षणों की ओर वह मुट्ठियां बढ़ा कर उन्हें पकड़ने की बार बार असफल कोशिश भी करता है । उस कोशिश में वह कहीं अन्दर से टूट भी जाता है ।

पुरी, डिब्रूगढ़, इलाहाबाद और फिर पुरी, सर्वत्र वह अनिर्णय की स्थिति में रहा । इसका कारण उसकी वह झूठी चाहना थी जो उसे वानीरा से दूर से दूर तक करती गई, एक अतिरिक्त समुद्र की तरह दोनों में मौन बढ़ता गया, ऊपर से कठोर परन्तु नीचे अनन्त सृष्टि, उष्णता, गहराई, जाने क्या क्या प्रवाह लिए हुए ।

डिब्रूगढ़ छोड़ते हुए उसके पास केवल अतीत की कड़ुवाहट ही रह गयी। समुद्री जहाज की खिड़की से वह प्रत्येक क्षण छूट रहे असम को बड़ी करुणा के साथ देख रहा था परन्तु जो असम उसके भीतर विराजा था क्या विवेक से छूट सकेगा? यह कुहरा, ये वन-कान्तार, ये अगम्य अरण्य सम्भवतः यहां कम ही छूटे जा रहे थे पर जो उसके साथ जा रहा था उनका वह क्या करेगा? वह पुरी का ही क्या कर सकता था?[1] मनुष्य इस कदर कमजोर हो जाता है कि स्वार्थ के लिए वह दूसरों की ज्यादतियां स्वीकारता चला जाता है वेशज वे ज्यादतियां बाद में उसे बरबाद तक कर दें । वही मेजर आनन्द जो उसके लिए असहनीय हो गया था उसके पास पुनः उनका इलाहबाद जाना उसे अन्दर से छील कर रख देता है। उसका मन ऊपर बालू का सा था जो अन्दर से चट्टान । एक बार अंकित होने पर उसे विकृत भले की कर दिया जाये लेकिन वह सदा-सदा के लिए किसी-न-किसी रूप में हम में विद्यमान ही रहता है, सालने के लिए । व्यक्ति भूल सकता है, विस्मृत नहीं कर सकता और विवेक विगत की खरोंचे और उसमें रिसता मवाद देखता भी है और महसूस भी करता है, परन्तु स्थितियों के आगे घुटने

---

1. 'नरेश मेहता', दो एकान्त, पृ० 33

भी टेक देता है । इसी क्रूर नीति नियति के आगे आज का मानव संत्रस्त है। पत्नी के होते हुए भी अकेलापन और अकेलेपन से मुक्ति के लिए एकांत बस यही दुनिया रह जाती है विवेक के लिए। क्या पत्नी के होते हुए भी सारे पति ऐसे ही होते हैं? क्या वानीरा यह नहीं सोचती कि कोई भी पति अपनी पत्नी के इन आचरणों को कभी भी नहीं सहन कर सकता? जब कि विवेक ने गत आठ वर्षों तक न केवल सहन ही किया है वह आकण्ठ दग्ध हो चुका है, फिर भी वानीरा की यह अब मानना, उसका यह राग किस लिए अपने प्रश्नों को उत्तर न पाने पर उसका टूटना उसी प्रकार स्वाभाविक है जिस प्रकार शीलावत जो हर छैनी का प्रहार कुछ उत्कीर्णिता के लिए सहती है। प्रेम के तनाव के अन्तिम बिन्दु पर आकर कसे तार झनझनाकर टूट जाते हैं। अपने में अनेक मुद्राएं सारे सन्दर्भों के साथ लिए वह गुहा चित्र वन कर रह जाता है । क्लाईड के यहां भोजन के पश्चान वह मेजर आनन्द और क्लाईड की लिफ्ट न लेकर ताँगे पर बैठते हुए कहता है 'हम लोग अनावश्यक रूप से सामाजिक हो गए हैं, फलस्वरूप याद ही नहीं पड़ता कि मैं और वानीरा साथ भी रहते हैं। इसी बहाने अनुभव तो होगा कि हम लोग अपने लिए अभी भी हैं।[1] बेशक यह बात उसे बहुत पहले जान लेनी चाहिए थी जो उसने तब जानी। यहाँ नायक का स्वरूप एक अलग रुप में देखा जा सकता है। अपने विवाहित जीवन में कई क्षण ऐसे आये जब विवेक को लगा कि वह अवांछित है, फिजूल है, उसका होना भर है बस। तब वह कोसता है क्लाईड को, मेजर आन्नद के उस शिशु को जो अब वानीरा (उसकी पत्नी) के पेट में पल रहा है। उसने कोशिश कर देखा परन्तु उसे बात तक करने वाला कोई न मिला। तब उसने चाहा उसकी फैली हथेलियों पर किसी शिशु की नरम पक्षियों जैसी अंगुलियों का स्पर्श हो परन्तु कहने भर से क्या होता है ? उसने कई बार निर्णय लेने की कोशिश की परन्तु वह निर्णय न ले सका। हम महत्वपूर्ण बातों का अन्तिम निर्णय नहीं लेना चाहते क्योंकि उसने एक साहस की अपेक्षा होती है, जो हममें प्राय. नहीं होता।[2] इसी लिए पत्नी के मरा बच्चा पैदा होने पर उसे लगता है—'यदि किसी पीड़ा को मात्र बन्ध्या ही होना है तो उसे भोगते समय उतनी पीड़ा नहीं होती जितनी कि उस पीड़ा के बीत जाने पर। परन्तु मेजर आनन्द द्वारा भोगी गई वानीरा अब उसे सहन नहीं और फिर कब

1. 'दो एकान्त', नरेश मेहता, पृ० 116
2. वही, पृ० 154

तक ऐसे महत्वपूर्ण फैसलों को टाला जा सकता है ? जब गंधाती गंध से सांस लेना दुष्कर हो तो मनुष्य स्वच्छ वायु को तलाशता है। जब छोटा कारण ही याद रहता है, बड़ी बातों तो प्रभाव घिरने तक ही रहती है। जब विवेक वानीरा का सामना करने से लज्जाने लगता है। उसे लगता है अब वह एक से दो एकान्त बन गए हैं, जिन्हें अब एक नहीं होना है। जब घटना होने का इन्तजार करने तक की स्थितियां उससे सब कुछ करवा लेती है। और जब वास्तव में घटना घट जाती है तो हम देखते हैं वह अपनी पत्नी से असम्पृक्त सम्बन्ध-विच्छेद की स्थिति में होता है। तब वानीरा को रात में अपने कमरे में आया देख वह स्पष्ट शब्दों में निर्णय लेता हुआ घोषणा करता है, वह निर्णय जो उसका निजी निर्णय है, जो अन्तिम निर्णय है जिसे बदला नहीं जा सकता—'ठहरो वानीरा। मुझे कोई जिज्ञासा नहीं, इस लिए कि हमारे बीच अब पति-पत्नी का विश्वास शेष है। मैं सामाजिक मुखौटा उतार फेंकने के लिए कभी नहीं कहूंगा पर इतना मेरा आग्रह अवश्य है कि हम अपने लिए घोषित रूप में सम्बन्धों को उतार फेंकें—लेकिन सम्बन्ध के रथ पर से पहले तुम्हें उतरना होगा। इसलिए कि तुम्हारी सुरक्षा का दायित्व मैंने एक दिन लिया था।[1]

इस प्रकार नायक लेखकीय बलात्कार सहता हुआ भी अन्त में निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र रहता है और अपनी नियति तलाक में और अकेलेपन में ही खोजता है। इसे असफल दाम्पत्य जीवन और प्रेम के तनाव में आंका जा सकता है ऐसा तनाव जो ढीला नहीं हो सकता।

'अठारह सूरज के पौधे' : रमेश बक्षी (१९६५)

इस उपन्यास का नायक भीड़ में जीता, भीड़ में जागता, भीड़ में खोता और भीड़ में पाता है। इस मशीनी दौड़ के बीच, कन्धे ठेलती भीड़ के बीच, अनसुने शोर के बीच, यह नयी पीढ़ी का आदमी उलझ रहा है। उसकी एक झलक तभी देखी जा सकती है जब हम ताजमहलों की भीड़ के पार, वर्तमान पहियों से दूर गतिमय काल के बीच एक दृष्टि को, एक स्तर को, एक रेखा को पकड़ सकें।[2]

1. 'दो एकान्त', नरेश मेहता, पृ० 173
2. 'अठारह सूरज के पौधे', रमेश बक्षी, नाराज तारीख

बम्बई की फास्ट और डबल-फास्ट लाइफ, पठान कोट से वी० टी० तक की दूरी, एक लगातार चलती ट्रेन, एक मूर्ति वीनस, संकरा वर्तमान, अनन्त विस्तार वाला अतीत और सोया हुआ भविष्य। ऐसा भविष्य जो खरगोश के सर पर सिंह की भांति अदृश्य है।[1] 'मैं' आज के युग में जीने वाला एक मध्यवर्गीय युवक है। जो वस्तुत: जीवन न जीकर जीवन जीने का बहाना किए हुए है। अपनी आशाओं आकांक्षाओं के बीच उसके जन्म से युवावस्था तक केवल गाड़ी की छक ....छक ही सुनी हैं। रेलवे में गुड्स क्लर्क—एण्ट्री और आलक्लीयर के सिगनल उसके जीवन के सिगनल रहे हैं। सुनसान रातों में विकृत यौन के कारण, इच्छा पूर्ति के न होने पर स्वप्नों के जंगल में विचरता नायक स्वयं को संसार से कटा, अपंग, आँख से अंधा, पांव के स्थान पर वैसाखियाँ लिए हुए उस वीनस की मूर्ति की नाईं समझता है, जिसे रोम वाले 'गौडेस आफ लव' के नाम से पुकारते हैं। जहाँ जिसका इतिहास अतीत की मधुर स्मृतियों से भरा पड़ा है वहाँ वर्षा के पश्चात् होने वाले कीचड़ की नाईं उसके जीवन के कई दुखद प्रसंग भी हैं वहाँ सरसों के गंदे तेल की भभक, गोबर और रेंगते कीड़ें जो उसको अपने जिस्म पर खुजली करते हुए लगते हैं, सफेद कोढ़ के कीड़े और मच्छर।

नायक बचपन से युवा अवस्था तक अपने पिता अण्णा के हाथ की कठपुतली रहा है, वैसे ही जैसे हजारों आज के मध्यवर्गीय युवक रह रहे हैं। अण्णा जो चाहता है वही उसे करना होता है। उसके जीवन को, स्पष्ट कहें तो उसके युवा होने तक की जीवन की गति को चार आयामों में बांटा जा सकता है। पहले उसका बचपन जो उसने रेल की लाईनों पर कोयले बीनते हुए और एंजिन की शंटिंग की आवाज सुनते हुए गुजारा है। फिर उसका वह जीवन जब उसने रेलवे में गुड्स-क्लर्क की नौकरी की, वर्तमान के दंश से त्रस्त कुरली वाली प्रेमिका से शादी न बना कर अण्णा के मजबूर करने पर जलगांव की नथ और सोलह हाथ की साड़ी वाली पत्नी से शादी की।

कोयला बीनते हुए और प्रेमिका और पत्नी के साथ रहते हुये उसका सारा जीवन मानो रेलगाड़ी की अनवरत छक—छक के रूप में गुजरा है। वर्तमान का दंश, अण्णा वात्सल्य उसके व्यक्तित्व, उसके अस्तित्व उसकी स्वतंत्रता को डस लेता है। अन्त में उसकी प्रेमिका किसी अन्य से शादी कर लेती है। कुरला

---

1. 'अठारह सूरज के पौधे', रमेश बक्षी, नाराज़ तारीख

स्टेशन पर गाड़ी में चैन न खिचना उसकी मोह भंग की स्थिति का परिचायक है । जहां उसका वही पहले वाला जीवन है और सोलह हाथ घूंघट वाली पत्नी। धुरीहीन टूटे हुए व्यक्ति की दिशा हीनता और इस वर्तमान के दंश में ही नायक का स्वरूप-विकास देखा जा सकता है ।

घंटियों की टन—टन, रेल की चीखें, गार्ड की हरी झण्डी द्वारा सिगनल और फिर सब कुछ शान्त केवल गाड़ी की पुल पर गुजरने से खट - खट की आवाज। सुबह-दुपहर-शाम-रात सब रास्तों पर गिरी हुई पत्तियों की तरह पहियों से लिपट-लिपट कर पीछे छूटते गए हैं। एक सूरज पीठ पर पहुंचा और दूसरा आंखों पर आया, एक शोर ने दूसरे शोर को जन्म दिया, एक गति दूसरी में जुड़ गई।[1] जैसे सारा जीवन रेल गाड़ी बन कर रह गया हो जहां शंटिंग तो है परन्तु ठहराव नहीं। अनवरत चलने वाला, जीवन को भोगने वाला नायक 'मैं' यन्त्र-चालित एक ऐसा मुसाफिर है जो हर स्टेशन पर केवल झांक कर यह देखता है कि उसका गांव तो नहीं आ गया और विडम्बना ऐसी कि गाँव आता भी है और गुजर भी जाता है परन्तु वह उतर नहीं पाता। स्मृतियां खो जाती हैं और वह माल गाड़ी के गन्दे डिब्बे की भांति एंजिन द्वारा चलता जाता है। जिस पर लाख द्वारा मोहर लगा दी गई है और जिसकी सील को अगले स्टेशन पर टूटना है। टूटना और टूटना। उसकी नियति उसे भगाए लिए जाती है। समय के आगे वह स्वयं को पंगु पाता है। इसका कारण उसके संस्कार हैं ¨ माता-पिता का प्यार हे जिसे वह टाल नहीं सकता। रूढ़ियों के प्रति विद्रोह करता है—परन्तु निष्फल रहता है। घर से भागता है परन्तु फिर वापिस आ जाता है। गोबर, लीद मच्छरों से भरा घर और दूध लेने वाले, ग्राहकों की भीड़ उसे अपना सोग मनाने वालों की भीड़ लगने लगती है।

'मैं' कुछ नहीं जानना चाहता वह तो केवल यह जानदा चाहता है कि ज़िदगी की कितनी जगह उसने पीछे छोड़ दी हैं, वह केवल यह जानना चाहता है कि कितना समय उसने पीछे छोड़ दिया है; मील-मीटर, घण्टे, मिनट से क्या लेना देना। वह इस कम्बलको ओढ़े-ओढ़े इस ऊपर की बर्थ से नीचे झांकते झांकते ही सुबह को शाम और पठानकोट को दिल्ली कर देगा। उसकी घड़ी घड़ी नहीं रही, उसका समय-समय नहीं रहा—वह पठानकोट बजे सुबह हुई थी, और दिल्ली बजे रात

1. 'अठारह सूरज के पौधे', रमेश बक्षी, नाराज तारीख

होगी यही कहता सुना गया है।[1] उसकी सारी उमर भी वर्षों में कहाँ कटी है : एक, दो, तीन चार—चौबिस, पच्चीस, छब्बीस—ऐसे थोड़े ही बड़ा हुआ है वह उसने एक अनवरत छक् छक् छक् छक् सुनी है और एक साल हो गया है। वह कोयले वीनने गया है और वह पांच साल का हो गया है—अनुभवों को वर्षों से कोई कैसे नातेगा। वस्तुत: उसके अनुसार जिसके पास जितने अनुभव हैं, वह उतना जवान है, जिसके पास जितनी यादें हैं वह उतना वृद्ध है जिसके पास जितने ख्याल हैं वह उतना दार्शनिक।

मनुष्य के दिमाग में अनवरत चलने वाली गूंज बड़ी भयावही है। देखा जाए तो मशीनों में सायलेंसर लग सकता है परन्तु मनुष्य के दिमागों में ऐसा सायलेंसर नहीं लग सकता जो उसके दिमागी विस्फोट को रोक सके, उसके उठने वाले तूफानों को धीमा कर सके—उसके अनुसार अभी ऐसा कोई सायलेंसर ईजाद नहीं हुआ, जिस द्वारा मनुष्य की मन:स्थितियाँ शांत रहें।

वर्तमान के दंश से उखड़े नायक को अन्त में अस्वीकार को ही स्वीकारना पड़ता है। उसका अस्तित्व उसके शब्दों में कुछ भी नहीं केवल अण्णा उसका पिता है। अतीत के नाम पर भी उसके पास कुछ भी नहीं 'मेरे पास कितना बड़ा बचपन है लेकिन उसका कोई भी अंश अतीत नहीं हुआ। एक ऐसा दिन नहीं जो फ्लेश की तरह चमके और मुझे चौंकाये, एक ऐसा क्षण नहीं जो बीता हुआ कहलाये और उस पर मैं आंसू बहाऊं। वह सब वर्तमान है और मेरा इतना अधिक निजी है जैसे पहली को मिलती पगार हो।[2] अतीत उसके लिए अधिक लम्बा और विस्तार वाला है जब कि वर्तमान संकरा और बहुत छोटा।

प्राय: जीवन में ऐसा होता है व्यक्ति गुजर जाता है और जगहें खड़ी रहती हैं. घटनाएं खड़ी रहती हैं और प्रतीक्षा प्लेटफार्म टिकट के सफेद रंग को हथेली में महसूस करती ही रहती है।[3] नायक इस वस्तुस्थिति से जूझती गाड़ी की छक ··छक के साथ बहता रहता है जैसे पानी के साथ भरी हुई लाश और वह कुछ नहीं कर सकता—कुंठा और परिवेश से ऊब और वर्तमान का संकरापन किस तरह घिनौना है नायक के शब्दों में—'हर गलास में एक भरा हुआ दिन

1. 'अठारह सूरज के पौधे', रमेश बक्षी पृ० 14-15
2. वही, वही, पृ० 17
3. वही, वही, पृ० 136

लाश की तरह तैर कर ऊपर आ जाता है। एक को निकाल कर फैंकों तो दूसरा आ जाता है और दूसरे को फैंकों तो तीसरा—और पी जाओ तो वही दिन दिमाग पर चढ़ जाता है। वस्तुतः नायक प्रत्येक घड़ी प्रत्येक पल अर्थात् क्षण में जीता हुआ तब से वर्तमान की जुगाली करता लगता है। वह वर्तमान को चबाये जा रहा है, जितना चबाता है उतना ही यह पिस कर बारीक होता जा रहा है।'[1]

दिशा हीनता, व्यर्थता और उबकाई में जीकर भी हिसाब नहीं लगाता कि वह इस समय कहाँ है—उसका व्यक्तित्व है भी या नहीं। वह कहता है—दस साल पीछे अतीत में जाओ, अभी इस समय के इस क्षण पर चलो, फिर पच्चीस साल आगे भविष्य में उड़ो और इन तीन आयामों में गति पर गुजरती मेरी उम्र की लम्बाई जोड़ दो। इस समीकरण को यदि कोई हल कर ले तो वह बतला सकता है कि मैं कहां हूं।[2]

अन्त में टूटन और अकेलेपन से ऊबा नायक चिल्ला चिल्ला कर कहता है कि हां मैं वही आदमी हूं, मैं जाग कर कहे देता हूं कि कोई एक इस मेरी सारी सेना को ले ले। सारे ताजमहल, सारे स्तूप, सारे नोट, वे सारे दिन बीते हुए और कोई एक मुझे ले ले, मैं अकेला हूं। मेरे पास कोई शस्त्र नहीं है।[3] वह पागल की तरह उस आवाज को खोजकर थक गया है उसे प्यास नहीं लगती उसकी प्यास तो अब यह जानना है कि मैं कहां आ गया हूं, कितने स्टेशन आगे आ गया हूं, कितना वक्त हो गया है। भूख और प्यास और नींद और सपने और स्वाद ये सब तो उसके लिए पुरानी सदियों की बातें बनकर रह गयी हैं।[4]

वस्तुतः आज का मध्यवर्गीय इन्सान जीवन जी नहीं रहा बल्कि जीवन घसीट रहा है, वह लगंड़ा रहा है, क्योंकि उसके कदम उधर नहीं जा सकते जहां वह जाना चाहते है, वीनस की मूर्ति की भाँति वह अंधा है क्योंकि जिस तरफ वह देखता है वह उसका अपना नहीं या वह उसे अपना नहीं बना सकता और दो बाजू जो कंधे तक है, वह कटे हुए हैं। अपनी इच्छानुसार वह किसी का

1. 'अठारह सूरज के पौधे', रमेश बक्षी, नाराज तारीख
2. वही, पृ० 137
3. वही, पृ० 134
4. वही, पृठ 136-37

स्पर्श तक नहीं कर सकता । क्योंकि उसका जन्म भूगोल के खण्डरों से हुआ है और उसका निर्माता उसे वैसा ही देखना चाहता है। इसलिए वह ड्राइंग रूम के टेवल पर सजा कर रखने की वस्तु बन कर रह गया है। उसका इस प्रकार निष्क्रम और निष्प्राण हो जाना उसकी नियति ही कहा जा सकता है।

सम्पूर्ण उपन्यास मानवीय उलझनों और जीवन के एक प्रकार के त्रास एक प्रकार की मोह भंगिमा, को लेकर रचा गया है। लेखक के शब्दों में यह रोत्रो की मानवीय ट्रेजडी या रूपायित होते नए समाज की तस्वीर कुछ भी हो सकता है। ऐसा समाज ऐसा युग जहां रोज़ युद्ध, रोज़ संघर्ष होते रहते हैं। महाभारत की लम्बाई को नापने वाले सूरज के पहिए और नयी पीढ़ी के आदमी का उलझन भरा जीवन, जिसे कि उस भयंकर युद्ध के अटारह दिनों को नापने वाले सूरज की इकाई मे किसी से हमारी एक-एक ज़िन्दगी को नाप डाला हां।

'कालेज स्ट्रीट के नये मसीहा' : शरद देवड़ा (१९६६)

शरद देवड़ा का यह उपन्यास नायक-विहीन उपन्यास की कड़ी की महत्व-पूर्ण रचना है। उपन्यास कलकत्ता महानगरी सभ्यता के उस अंश को लिए हुए है जिसमें आज का भारतीय बीटल नवयुग की अपनी सभी अच्छाईयों बुराइयों, संगतियों और विसंगतियों को ले कर जी रहा है। उपन्यास में जहां गिंस्बर्ग का कलकत्ता तक आने का और अमेरिका में पैजामा तक उतारने का जिक्र है, वहीं आज का भारतीय बीटल किसी पोश होटल में अन्दर न घुसने के एवज में पैजामा उतारते की धमकी भर देता है। गिंस्बर्ग की तरह व्यवहारिक रूप उन्हें नहीं दे पाता।

यहां काफी हाऊस हैं, वहसें हैं, चार मीनार है, सेक्स है। समलैंगिकता (होमोसैक्सुअलिटी तथा लेजबियनिज़म) और विपरीत लैंगिकता है। एल० एस० डी०, अफीम और गांजा भी है। यहीं शराव से भरे सकोरे और लव मेकिंग के सफल और असफल प्रयास भी हैं। यही नही दादागिरी के साथ समाज द्वारा वहिष्कृत अश्लील शब्दों और वस्तुओं को खुलकर कहने और बतलाने की जिज्ञासा भी।

यह उपन्यास कई छोटी छोटी घटनाओं को लिए, जिए महानगर की सपाट और खुरंदरी सड़कों से पकड़ा गया है। जहां बिजन दा की मार्मिक कहानी

है वहीं गिन्सबर्ग का भारत आकर भूखी पीढ़ी के दावेदारों को खोखला सिद्ध करने की कोशिश भी है। विजन दा प्रेम में पागल होकर जहां हर आसमानी रंग की साड़ी वाली को अपनी प्रेमिका समझ कर लिपट जाते हैं, वहीं गिन्सबर्ग अपने साथी पीटर (युवक) के साथ एक विशेष समझौते के कारण आलिंगनबद्ध हो कर सोता है और उसका परिचय दूसरों को अपनी पत्नी के रूप में देता है। जहां विजन दा मात्र सड़कों, पार्कों तथा घूमने में सीमित रहते हैं, जहां भूखी पीढी के भारतीय बीटल कलकत्ता नगरी में कई कई वर्षों से रहने का दावा करते हुए भी कलकता महानगरी की नब्ज नहीं पहचान पाते, वहीं गिन्सबर्ग अमेरिका से आने के चार छः दिन पश्चात् ही कलकत्ता महान नगर की नब्ज पहचान लेता है और दूसरे लोगों को बतलाता भी है कि इमसे किन-किन बातों ने प्रभावित किया है और उन्हें क्या कुछ करना चाहिए। भूखी पीढ़ी वाले समाज को बदलने का दावा तो करते हैं परन्तु वह दावा काफी हाउस की बहसों, नारे-बाजी और वेश्याओं के कोठों तक ही सीमित रह सकता है, वहीं गिसबर्ग पैदल ही कलकता महानगरी के शमशान घाटों, पहलवानों के अखाड़ों, साधुओं टोलों में बैठ कर गांजा पी कर जीवन के एबसर्ड पहलू पर विचार करता है। यही नहीं मीलों दूर चल कर पुल के नीचे खड़ा रहकर ऊपर से गुजरते हुए भारी और हल्के ट्रैफिक की ध्वनि में मौत. आतंक, और त्रास का मधुर गीत भी सुनता है। वह जलती लाशों पर नोट्स लेकर अपने देश फोटोग्राफ और टिप्पणियां भेजता है इसके विपरीत भूखी पीढ़ी के अलम्बरदार दादागिरी और एक तरफा भाषायी और पूर्वाग्रह लिए अव्यवहारिक बने बैठे मिलते हैं। विदेशी खिचड़ी के के प्रति उनका आकर्षण और पास के राज्यों या राष्ट्रीय भाव के प्रति घृणात्मक आग्रहों पर लेखक ने मीठी चुटकियां ली हैं।

कलकत्ता महानगरी अपने में अनेक कलकत्तों को समेटे हुए हमारे सामने आती है। एक तरफ कलकत्ता के पॉश होटल हैं. तो दूसरी तरफ सस्ते और गन्दे ढाबों वाला दूसरा कलकता भी देखा जा सकता है। कलकत्ता के सबसे अधिक फैशनेबल एरिया धर्म तल्ला से जरा-सा हटकर, मात्र बीस पच्चीस कदम भीतर की ओर तहमद बांधे, नगें शरीर या मैला गंजीया बिना बटन के गंदा कमीज़ पहन अधिकांश मुसलमानों की बस्ती। वहीं दो तल्ले का एक पुराना होटल नीचे की गलियारे जैसी जगह में कुर्सी मेजों पर तहमद जांघिए पहने हुए आठ-दस मजदूर तब के लोग देखे जा सकते हैं। फिर वही पोश और ऊचे फ़्लैटो में बच्चों

को पालने की खातिर आर्थिक कठिनाई में डूबी सौ रुपये में सुन्दर जापानी वेश्या को भी और एक माँ को भी देखा जा सकता है।

आज अनेक स्थानों पर भाषायी सुपीरिआरिटि कम्पलेक्स की बीमारी जड़ें जमाकर बैठी हैं। जहां विदेशी साहित्य और विदेशी भाषा को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है, वहीं देशी साहित्य और हिन्दी भाषा के साथ सौत-सा व्यवहार भी होता है। इस सम्पूर्ण कमजोरी, आग्रह और पूर्वाग्रह का शिकार किस प्रकार आज का इन्सान हो रहा है, उसे भारतीय बीटल पीढ़ी के द्वारा दर्शाने का प्रयत्न किया गया है।

वस्तुत भारतीय बीटल वर्ग में मात्र रंडीबाजी है। वहां न भावुकता है न बहन माँ का रिश्ता ही उनके लिए कोई मानी रखता है। मानव मूल्य उनके लिए बेमानी साबित हो चुके हैं। इसीलिए उनका साहित्य मानवीय विघटन का साहित्य है। जीवन का और अस्तित्व के हॉरर का चित्रण, इसके कैऑस को प्राथमिकता दी गई है। यह कैऑस और हॉरर पारिवारिक जीवन, मानवीय सम्बन्धों और सैक्स तथा प्रेम में भी हो सकता है। अत: यह पीढ़ी प्रेम और सैक्स में बनावट नहीं चाहती। वह चाहती है उसके अन्दुरूनी हॉरर केऑस का चित्रण साहित्य द्वारा त्याज्य शब्दों द्वारा नारी के प्रमुख अंगों का वर्णन। साहित्य द्वारा वर्जित बिल्ला वह निश्चित रूप से निकाल कर बाहर करना चाहती है। एक बात निश्चित है कि वह भोगा हुआ और जीआ हुआ लिखना चाहती है। चाहे वह कैसा भी हो इसके बारे में वह चिन्तित नहीं होना चाहती। मानव अस्तित्व के हारर और एबर्सडिटी के चित्रण के लिए वह पुरानी भाषा को नया रूप देना चाहती है। यदि दूसरे शब्दों में कहें तो इन्सान को नगें रूप के चित्रण के लिए अलकांरहीन नंगी भाषा का प्रयोग उनके लिए अनिवार्य-सा हो गया है।

काफी हाउस की बहसों के ऊपर गांजा, अफीम, एल० एस० डी० और वेश्यागामी होने के पश्चात पाश होटलों के बढ़िया खानों, शराबों और सौ रुपये में प्राप्त वेश्या के प्रति उनका उतना ही आकर्षण है जितना उनका स्थापित होने के प्रति है। पुरानी और नयी पीढ़ी में पड़ी दरारों और इनमें खींची विभाजक रेखाओं पर लेखक ने मीठी चुटकियां ली हैं।

कुल मिला कर यह नायक विहीन उपन्यास अपने कथा-केन्द्र में कलकत्ता महानगरी कलुषता के साथ नयी पीढ़ी की बौद्धिक समस्याओं को समेटे हुए सामयिकता को यथार्थ अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न मात्र है ।

'समुद्र में खोया हुआ आदमी' : कमलेश्वर

'समुद्र में खोया हुआ आदमी' (1966) कमलेश्वर का महानगरीय अर्थ-व्यवस्था और सैक्स को लेकर लिखा गया मध्यवर्गीय कुंठाओं और खोखले आदर्शों को अभिव्यक्ति देने वाला उपन्यास है । इस उपन्यास का नायक बूढ़ा श्याम लाल एक बेरोजगार आदमी है । सिंधी ट्रांसपोर्ट में चोरी होने के पश्चात जहां उसे बुकिंग कलर्क की नौकरी से अलग कर दिया जाता है, वहीं उस मास का वेतन हर्जाने के रूप में काट लिया जाता है । तब से मकान का किराया अब तक चढ़ता आ रहा है । तारा, समीरा उसकी दो लड़कियाँ और वीरन एक मात्र लड़का है । उसकी पत्नी रम्मी दोनों जवान लड़कियों के कारण परेशान है । श्यामलाल की बेरोजगारी का लाभ उठा कर हरबंस बेल बूटे काटने की अपनी दुकान पर तारा को नौकरी दे देता है । तारा को नौकरी मिलते ही जब सब घर वाले तारा पर निर्भर रहने लगते हैं तब श्याम लाल को लगता है कि उनके पिता होने का अधिकार उनसे छिनता जा रहा है । न चाहते हुए भी वह तारा को हरबंस के साथ अकेले जाने से रोक नहीं सकते । घर में वह अपने को एक फ़ालतू चीज से अधिक कुछ नही समझते । उन्हें लगता है अब उनकी किसी को भी जरूरत नहीं । उनका अब किसी से भी रिश्ता नहीं । क्योंकि अब वह कोई भी फैसला नहीं ले सकते इस लिए बाहर की दुनिया और भीतर की दुनिया दोनों के लिए अजनबी से होकर रह जाते हैं ।

आर्थिक संकट की चरम सीमा तब आती है, जब परिवार के टूट जाने पर, आदर्श को ताक पर रखकर वह कचहरी से सम्मन लाने वाले चपड़ासी को रिश्वत देकर कुछ महीनों तक टालने के लिए कहते हैं । श्याम लाल का इस परिस्थिति में यह कदम बहुत ही स्वाभाविक लगता है जो उसके स्वरूप के उस अवचेतन बिन्दु को दर्शाता है जहां मनुष्य स्वयं को बचाने के लिए कुछ भी कर सकता है ।

वीरन के नौसेना में भरती हो जाने पर श्याम लाल का हौसला फिर लौट आता है, घर में अपने छिन गए अधिकारों पर वह पुनः कब्जा जमाने का प्रयत्न

करता है और पहले वाली स्थिति में कुछ देर के लिए आ भी जाते हैं। अब उनके निर्णय घर के निर्णय होने लगते हैं। बेशक पूरी की पूरी स्थिति पहले जैसी नहीं हो पाती। फिर भी बम्बई से वीरन के भेजे हर महीने के मनी-आर्डर उन्हें भी कुछ अर्थोपार्जन करने की प्रेरणा देते हैं। समाचार पत्रों में खरीद-फरोखत का कालम देखना तब उनकी दिनचर्या में शामिल हो जाता है और वह कवाड़िया सस्ता सामान खरीद कर उसे मंहगे दामों बेचने लगते हैं। परन्तु जल्द ही उन्हें लगता है जैसे सब ओर कुछ बदला-बदला सा है। उनके बच्चे, उनकी पत्नी रम्मों सब में इधर कई परिवर्तन आते हैं। अपनी पत्नी रम्मों का व्यवहार बच्चों के व्यवहार की अपेक्षा अधिक आश्चर्य जनक लगता है। परन्तु क्या बदला है, क्या परिवर्तन हुआ है, लाख कोशिश करने के पश्चात भी वह नहीं जान पाते। हां रम्मों में वह पहले से अधिक चुस्ती जरूर भांप लेते है। रम्मो पहले से कम उम्र की भी लगती है। जब अवश वह कुछ भी कर नहीं पाते तब शादी की पुरानी फोटो देख कर संतोप कर लेते हैं। घर में अपने अधिकारों को छिनने का सब से अधिक नुकसान उनके अनुसार तारा को हुआ है जब वह देखते हैं कि उसके पेट में हरबंस के प्यार की निशानी पलने लगती है। बेशक बाद में उसी हरबंस से तारा की शादी भी हो जाती है। तारा की शादी के पश्चात समीरा की शादी के लिए वेचैन रहने लएते हैं। वीरन दक्षिण ध्रुव में वैज्ञानिकों के साथ क्या जाता है कि फिर वापिस लौट कर ही नहीं आता। सम्भवतः हिम कुष्ठ पीड़ित होकर वह आत्महत्या कर लेता है। इधर कबाड़ी अपना संगठन बना लेतें है जिससे श्याम लाल को अपना यह एक मात्र धंधा भी छोड़ना पड़ता है। आर्थिक संकट के कारण जहां समीरा की पढ़ाई छूट जाती है, वहीं श्याम लाल फिर पहले वाली बेरोजगारी की स्थिति में आ जाते हैं। करोड़ों की दुनिया में फिर अपने को मिसफिट, कुंठित और एकांकी समझने लगते हैं। उनका जीवन फिर उसी ढर्रे पर चलने लगता है। वह रोज सुबह उठकर तैयार होते, कपड़े पहनते, जूता बांधते और फिर मायूस से हथेलितां सिर के नीचे रखकर खाट पर लेट जाते।[2] कहीं कोई उन्हें ऐसा काम नहीं दीखता जिस के लिए वह अपने को इस्तेमाल कर सकते। उन्हें लगता है उनके हाथ मांस और दिमाग की किसी को जरूरत नहीं। एक जमाना था जब वह सोचा करते थे कि उनके सिवाय सब फालतू हैं और अब उन्हें लगता है कि वह ही फालतू हो गये हैं। अपने हाथों की

1. समुद्र में खोया हुआ आदमी, कमलेश्वर, पृ० 71

नीली नीली नसों के ऊपर चढ़ी खाल तब उनके मन में अजीब-सी बेबसी पैदा कर जाती ।[1]

अन्त में घर टूट जाता है परिवार टूट जाता है, समीरा नर्स बन जाती है. वीरन मरा हुवा घोषित हो जाता है, मां अपनी ही लड़की के घर आया बन कर रहने लगती है । श्यामलाल फैक्टरी में दरबान लग जाते हैं । अब वीरन की मौत का सदमा वह बर्दाश्त कर सकते हैं, मृत्यु का डर अब उन्हें नहीं लगता । रात में कुछ आवाजों के सहारे ही वह फैक्टरी के बाहर अपनी रातें काटने लगते हैं । कभी बायलर की, कभी गाड़ियों की, कभी मजदूरों की आवाजें ही उनके जीवन के सूनेपन को भरने लगती हैं । अब वह क्लीनर का कुछ है' का इशारा भली भांति समझने लगे है । इन परिस्थितियों में यदि वह सरकार अपनी पुत्री की मौत का हर्जाना लेने के लिए झूठ बोलकर अण्डरग्राउण्ड चले जाते हैं तो कुछ अस्वाभाविक नहीं लगता ।

इस प्रकार आर्थिक संकट से श्यामलाल का परिवार टूटने पर उनकी घर गृहस्थी बोरों में बन्द होकर यदि उनके दामाद के घर की छत पर चली जाती है, तो वह नियति अकेली श्यामलाल की नियति न होकर आज के निम्न मध्यवर्ग की नियति का सामान्य अभिशाप है । इस अभिशाप में बेकारी और बुढ़ापा भी शामिल है ।

वस्तुतः नायक की ऐसी स्थिति जड़ता की स्थिति है जहां वह सिर्फ एक फालतू चीज़ की तरह रह जाता है, जिसे फेंका नहीं जा सकता, सिर्फ बर्दाश्त किया जा सकता है । जिसे सहेजा भी नहीं जा सकता, सिर्फ होने को महसूस किया जा सकता हैं ।[2] यूं श्यामलाल का स्वरूप निहायत ही स्वाभाविक लगता है जब वह जड़ता की स्थिति में धन के बिना किसी भी प्रकार की नियति को मानने से इन्कार कर देते हैं । श्याम लाल बेंच पर बैठे हैं कूड़ा गाड़ी भयानक शोर करती गुजर रही है—उनको पता है कुछ देर बाद ही दो तीन लाशें लाइनों पर जरूर मिलेगी और उन्हें अन्य दरबानों की भांति गवाहीं के लिए जाना पड़ेगा । तब वह मात्र उस अन्धेरे के घूर सकते हैं जहां शून्य है, व्यर्थता है, मोहभंग है और सबसे बढ़कर जड़ता है ।

---

2. वही, वही, पृ० 71

'बैसाखियों वाली इमारत' (१९६६) : रमेश बक्षी

कुछ गुलाब के फूलों से, कुछ समुद्र की लहरों से, कुछ रवीन्द्र के गीतों से बनी—लंगड़ी इमारत और उस इमारत में रहने वाली लगंड़ी पीढ़ी। आधुनिक युग के नए संदर्भों और मूल्यों को दर्शाती यह इमारत समूचे भारतीय शहरों की इमारतों का प्रतिनिधित्व करती है। जहां सामाजिक सम्बन्धों की आड़ में गर्म सांस की भूख डैन फैलाए मड़राती रहती है और कांपती रेखाओं वाले चित्र कुछ क्षण को धुंधले पड़ने लगते हैं।

पत्रकार जो विवाहिता है इस उपन्यास का नायक है। पति पत्नी के प्रेम सम्बन्धों को अस्वीकार कर उन्हें केवल विवाह तक ही सीमित मानता है। प्रम उसके लिए महज दिमागी विलास है, बेहद गर्मी में जमायी गई आईसक्रीम की तरह। उसके अनुसार जो जूते और चप्पल हम पहनते हैं वह उस प्रेम से ज्यादा महत्वपूर्ण हैं। जो पहना और ओढ़ा नहीं जाता।[1] प्रेम को चुइंगम कहने वाला नायक वसुधा की ओर आकर्षित है तो उसके इन्स्टिक्ट के आकर्षण के कारण है न कि प्रेम के कारण। परन्तु वास्तविकता यह है कि वह कहीं अन्दर से उससे प्रेम ही करता है। उसकी फोन पर आवाज सुनने के लिए घण्टों आफिस में उल्लुओं की भांति बैठा रहना और फोन न आने पर झल्ला कर फोन करना, पत्नी से झड़प और उसे मायके जाने पर मजबूर करना पत्नी को रेलगाड़ी में मायके जाते देख चेहरे पर चमक आना उसके वसुधा के प्रति प्रेम के प्रमाण हैं जिन्हें वह अन्त तक स्वीकार नहीं करता।

वसुधा चित्रकार है कांपती रेखाओं की चितेरी सत्तरह अठारह वर्ष की वह और वह स्वयं तीस साल का परिपक्व जर्नलिस्ट। वसुधा का एडोलेसेंन्ट प्रेम उसके लिए महज् वह भूमि है जिसे वह रौंद डालना चाहता है. जिसे वह किसी भी शर्त पर प्राप्त करना चाहता है। उसकी हवस ही उसके अन्दर से यह शब्द उगलवाती है कि वसुधा एक जगमगाता हुआ नाम है और उस नाम के ऊपर मेरी अंगुलियों के निशान हैं। मैं उसे एक बार नहीं, हजार बार चाहूंगा। उसे सुसंस्कृत ढ़ंग से प्राप्त नही कर सका तो जंगली ढ़ंग से प्राप्त करुगां।[2]

1. बैसाखियों वाली इमारत—रमेश बक्षी, पृ० 164
2. वही, वही, पृ० 164-165

यही नहीं अपने खूबसूरत कमरे में महकते हुए जिस्म को अपने शरीर से पीस डालने का वह अपना अधिकार समझता है। उसके सहसा अस्वीकार से उसका नाराज होना मनोवैज्ञानिक आधार की वह भूमिका है जहां अहं की चोट उसके वैवाहिक जीवन में अशान्ति ला देती है।

वस्तुतः इस उपन्यास का नायक निहायत की भावुक है जो सारे उपन्यास में बौद्धिकता को ओढ़े घूमता है। मिस जायसवाल के साथ उसके शारीरिक सम्बन्ध हैं। वही जायसवाल भली प्रकार बता सकती है कि वह क्या चाहता है? वह बड़े स्पष्ट शब्दों में बयान करती है—'मुझे खुशी है कि आपकी जिन्दगी नये सिरे से शुरू हो रही है। आपको मेरी बात चाहे जितनी बुरी लगे लेकिन यह कहे बिना नहीं रहूंगी कि पत्नी को झटके बिना जिन्दगी में सुकून नहीं आयेगा। और वह वसुधा, वह केवल शगल देगी—। जबकि उपन्यास का अन्त अपपरोक्ष रूप में उसे झटकने में ही होता है। वसुधा अपने सपाट बयान में बम्बई जाती हुई पत्र में वस्तुस्थिति को खोल कर रख देती जिससे नायक झल्ला उठता है। वसुधा के ये शब्द तीर की भाँति उसे बींध कर रख देते हैं—'लेकिन मैं दोस्त की तरह नहीं रहूंगी। आपके साथ में बिना अधिकार के खड़ी नहीं रह सकती। सुनो हम लोग शादी कर लेंगे।—वैसी स्थिति में हमारे बच्चे तो नाजायज नहीं कहलाएंगे, मुझे प्रसूतिगृह ले णाते समय फिर आप को शर्म तो नहीं आयेगी। बेटे को स्कूल में दाखिल करवाते समय पिता का नाम प्रश्न-वाचक चिन्ह तो नहीं बनेगा मैंने कहा था न कि जिस कमरे में रहते हैं उसके दरवाजे खिड़की—छत—दीवार सब स्वीकारने हो हैं।[1] शादी शब्द पढ़कर तब नायक की आंखों की चमक गायब हो जाती है। वह कहता है—वह अगर सामने होती तो मैं क्या नहीं कर गुजरता। मैं आगे बढ़ दोनों हाथों की अंगुलियों को फैलाकर उसकी गरदन को पकड़ लेता, उसका गला दब जाता, वह आंखें तरेरने लगती, उसके मुंह से चीख निकल जाती।[2] यहां स्पष्ट रूप से उसके अवचेतन की चीत्कार सुनी जा सकती है, जहां सामाजिक भय मुख्य रूप से काम करता है, और समाज के विरोध का उस जैसा कामुक पुरुष सामना नहीं कर सकता। तब वह शादी को औपचारिकता में गुजरना तब भी स्वीकार न करता, उसे मात्र बेवकूफ द्वारा बनाए गए संविधान पर स्वीकृति के हस्ताक्षर कहता है—मैं सात जन्म तक भी अगर मुझे याद रहे

---

1. बैसाखियों वाली इमारत—रमेश बक्षी, पृ० 164
2. वही दही 164-165

कि इस जन्म में इस तरह मेरी शादी हुई थी तो मैं शादी और आत्महत्या में आत्महत्या को चुन लूंगा।—शादी अपने गले में मुसस्कराते हुए रेशमी फन्दा डालकर किसी एक अगले क्षण की प्रतीक्षा है, शादी अपनी पीठ पर बोझ लदवा लेना है।[1] वसुधा का पत्र पा कर वह भगौड़े के रूप में दार्जलिंग भाग जाता है। एक पलायन वहां दोहरी जिन्दगी की व्यर्थथता, का बोध देखा जा सकता है। जहां दिशाहीनता, सामाजिक त्रास, अवशता और कंठा के बीच केवल कुलबुलाया जा सकता है।

यदि देखा जाए तो प्राय: वास्तविक जगत में हर इन्सान कहीं अन्दर से प्रेम के स्थान पर एक सबस्टीच्यूट चाहता है। मिस जायसवाल के यह शब्द अवचेतन की सच्चाई के एक आयाम के पास लगने हैं कि 'मैं ऐसी पहचान चाहती हूं जिनका भूत भविष्य कुछ भी नहीं, कटे हुए लोग कहीं मिल जाएं और मिल कर किसी दिशा में खो जाएं– मैं इसी को आदर्श मानती हूं। जिन लोगों के भूत-भविष्य और जिनकी सात-सात पीढ़ियों को मैं जानती हूं वे घटिया किस्म का फ्रस्ट्रेशन ही देते रहे हैं। उससे तो छौंक लगाकर हाथ का जल जाना या वरसात के दिनों में फिसल कर गिर जाना बेहतर है।[2] यहाँ स्पष्ट रूप से मानवीय सम्बन्धो और सामाजिकता की अपेक्षा देखी जा सकती है।

मिस जायसवाल सभ्य वेश्या है। उसके शब्द नायक के लिए बहुत मायने रखते हैं। वस्तुत: इसी प्रकार जीवन जीने का वह आदि हैं। मिस जायसवाल से बौद्धिक विचारों की सहमति होते ही हम दोनों में शारीरिक सम्बन्धों की शुरूआत देख सकते हैं। यही बौद्धिक सामान्यता वह वसुधा में भी चाहता है जिसे वसुधा अपरोक्ष रूप से अनैतिक कह कर झटक देती। है

वह क्षण में जीता है। खालीपन उस पर हावी है। गहरे अकेलेपन की अनुभूति वह सिगरेट के कई पैकट पीकर भी नहीं दूर कर पाता। उदासी के सलीब और लेखकीय अभिव्यक्ति को ढोता है। अन्त में अपने लिए मिस जायसवाल से एमोशनल कुत्ते की गाली सुनकर वह अपन जीवन में प्रथम बार संचेत होता है। सर्वप्रथम वह मिस जायसवाल को ही जो उसका सम्पूर्ण घर तोड़ने पर आमदा होती है, अपने जीवन से झटक देना है। इस झटकने के निर्णय

---

1. वही, वही, पृ० 164
2. बैसाखियों वाली इमारत—रमेश बक्षी, पृ० 69

में नायक के स्वरूप विकास में एक बदलाव अवश्य आता है । उसे लगता है उसने मिस जायसवाल को झटक कर दोहरी जिन्दगी का ओढ़ा एक खोखल उतार फेंका है ।

जब कुमार विमल नायक के स्वरूप के बारे में कहते है तो हमें लगता है कि सच्चाई के एक आयाम के पास है । वैसाखियों वाली इमारत जिसे एक दम रोमांटिक ध्रुव नहीं कहा जा सकता—क्योंकि आप में आज के फालतूपन का एक 'उपयोगी भाव' कहीं-न-कहीं अवश्य देता है । यह एक पत्रकार की कहानी है जो तीन दिशाओं में अपनी ही विचित्रताओं के साथ घिरा हुआ है, ऐसी निर्णयहीन स्थिति का सामना करना है जिसके आगे 'विरोध' का कोई तर्क इस लिए सफल नहीं हो पाता कि विरोध की भी कोई संगति और अनिवार्यता स्पष्ट नहीं होती । ये तीन दिशाएं पत्नी, प्रेमिका और मित्र है, जिनमें स्थितियों से समझौता न कर पाने के कारण, पत्नी अपना अस्वीकार विरोध के रूप में प्रस्तुत करती है, प्रेमिका अपने अबोधत्व के कारण केवल एक स्वार्थ से बंधी रह जाती है जबकि मित्र के रूप में आने वाली आधुनिक नारी 'अवसरवादी' की तरह छलांग मारने की कोशिश में पराजित हो जाती है । यहां केवल 'अबोधतत्व' शब्द खटकता रहता है । यह अबोधतत्व नहीं बल्कि स्थिति का ठीक जायजा है । मोटे रूप में यह पराजय पत्रकार की है क्योंकि वह अपनी जगह (मिसफिट) ही नहीं बल्कि अपन ही वैचारिक परिवेश के कारण पीड़ित भी है ।[1]

अत: नायक कि नियति को फ्रस्ट्रेशन से एमोशनल कुत्ते की गाली तक और फिर अपनी पत्नी को मायके पत्र लिखने तक में आंका जा सकता है । स्पष्ट कहें तो उसकी नियति सामाजिक सम्बन्धों को स्वीकारने, सब पुराने रिश्तों में लौटने की ही अधिक है ।

मछली मरी हुई : राजकमल चौधरी (१९६६)

यह उपन्यास लैस्वियन (समलैंगिक यौनाचारों) के साथ मनुष्य के जीवन की उन विसंतियों को लेकर है जिसमें वह जीता हुआ भी हारा और टूटा हुआ अनुभव करता है । जहां वियर भरे गिलास के साथ एक बहन दूसरी बहन को बिना पुरुष के दो स्त्रियों के शारीरिक सम्बन्धों द्वारा जीवन विताने की बातें

1. ज्ञानोदय, अगस्त, 1967

बतलाती हैं। जहां विरोधाभास और बदलते मानवीय और आर्थिक मूल्यों से त्रस्त नायक निर्मल जीवन के सही ध्रुव को अन्त तक नहीं पा सकता। आर्थिक कारण और शहर के कानूनों के आगे जिसमें भ्रष्टाचार जन्मसिद्ध अधिकार बन कर आता है, उस निर्मल पद्मावत को तोड़ कर रख देता है जो कल्याणी मेन्शन के साथ कई फैक्ट्रियों और मिलों का मालिक है। अपने ऊंचे 'स्काई-स्क्रैपर' की तरह वह स्वयं को अकेला और दुनिया से कटा हुआ पाता है। भावुकता और अतीत को न भुला सकने पर हम देखते हैं कि वह बराबर माँ की याद करता है जो पिता की मौत के पश्चात लारी वाले संग भाग गई थी और तब उसके मालिक ने कैसे तथा उसके छोटे से पिल्ले को घर से मार कर भगा दिया था। वह अन्त तक इन्तजार करता रहा अपनी माँ का ताकि छप्पर के स्थान पर अब उसे स्काई-स्क्रैपर दे सके। अन्त में फौलाद की तरह मजबूत निर्मल टूट जाता है, खण्डित हो जाता है।

नायक का स्वरूप विकास उसकी विभिन्न अवस्थाओं में देखा जा सकता है। गांव से निकाल दिए जाने के पश्चात् वह कराची से लाहौर और फिर महायुद्ध में टूटा-फूटा और बिखरा यूरोप देखती है। माल-वाहन समुद्री जहाज निर्मल को बेयरा के रूप में टोकियों, हांगकांग, पीकिंग, मास्को, वारसा, बुडापेस्ट, बर्लिन, वियेना, और पैरिस के तटों से परिचित कराता हुआ अमेरिका की ओर ले जाता है। यहां निर्मल देखता है जर्मनी के अलावा नाज़ी बच्चे। बर्लिन की कांटेदार दीवर ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी के सिपाही जो फिर कभी गृहस्थ न हो सके। समूचा यूरोप उसे लगा जैसे टूटे कांच के सहारे चल रहा था, लाशों से भरी फुटपाथों पर।[1]

जेल में उसने राजनीतिक नेताओं से कानून, धर्म, विज्ञान और राजनीति के उद्देश्यों को बखूबी जाना। यहीं उसके हृदय में आदमी को दरिद्र और अपाहिज करने वाली व्यवस्था के प्रति हिंसक भावना का जन्म हुआ। यहीं उसे कहीं अंदर से अरस्तू और कार्ल-मार्क्स सही आदमी लगने लगे। जब लन्दन और आक्सफोर्ड के बुद्धिजीवियों को उसने बियर की बोतलों के साये में, सारी दुनिया से तोबा करके बाईबिल' की क्रियायें दुहराते हुए देखा, तब उसमें भी एक ठहराव आया और वह अपने भविष्य के सपनों के लिये बहुत देर तक अमेरिका में रुक-सा गया।

---

1. मछली मरी हुई, रामकमल चौधरी, पृ० 47

घर और घर के वरामदे में मौसमी फूलों के गमले अव उसे अपनी आवश्यकता लगने लगते हैं। यही कल्याणी से मिलने पर उसे चौदह-पन्द्रह साल की क्लियोपैट्रा और बूढ़े सिपहमलार जूलियस सीजर की कहानी एकदम सच्ची लगने लगती है। यहां वह मंत्र मुग्ध और नशे में दीखता है। परन्तु उसका यह नशा जल्द ही टूट जाता है जब कल्याणी को खोकर वह वापिस भारत आ जाता है। यहां जब वह ऊंचे दफतरों में उन छोटे आदमियों को देखता है। जो न तो यह जानते है कि वह क्यों जिन्दा हैं और न ही उन्हें अपना पास और जीने मरने का कारण का ही पता होता है। तब निर्मल में जिन्दा रहने की भावना फिर से जन्म लेने लगती है। दुनिया को नंगा देख वह भी नंगा हो जाता है और वेशर्मी से प्रिया और शीरीं के साथ खेलने लगता है। वह इस दुनियां को जंगलों और अखवारों की दुनिया समझने लगता है। जो अपने बारे में जिन्दा रहते हैं। यहां तक कि लोक जहां चाहते हैं, नंगा हो जाते हैं। और नंगापन बुरी बात नहीं।[1]

इस प्रकार अपने परिवेश के दिये दंश से दुखी वह सब कुछ अनचाहे ही करता जाता है। उस परिवेश में जहाँ से अब तक उसे कहीं किसी भी स्त्री का प्यार नहीं मिला। वह प्रारम्भ से अधूरा रहा, पहले उसकी मां लारी वाले के साथ भाग गई और उसे कल्याणी ने अधूरा छोड़ दिया। तब से उसने जाना औरत सहारा नहीं देती, चाहती है एक आदमी जो उसके इशारों पर नाचता रहे।[2]... और जहाँ आदमी का मतलव केवल उसकी क्रय-शक्ति मानी जाती है, वह जो खरीद सकता है। यानी निर्मल पद्मावत न होकर उसका नाम कुल वारह सो पचास डालर ही रह जाते हैं। इस पर कहीं अन्दर से लगता है अब वह एक नामहीन, शक्तिहीन, वीर्यहीन, मात्र साधारण आदमी ही रह गया है।

अपने भविष्य के लिए तब वह अथाह परिश्रम करता है। मस्तिष्क की शक्ति द्वारा दूसरों के मस्तिष्क न काम करते हुए टेढ़ी मेढ़ी रेखाएं और उसकी अनगिनत प्लानें उसके सामने दुनियां की तिजोरियाँ खोल कर रख देती हैं। परन्तु फिर भी उसे लगता है वह अकेला से अकेला होता जा रहा है। परिश्रम आदमी को भीड़ बनने और प्रतिभा भीड़ में खो जाने की इजाजत नहीं देती। खामोशी उसका नकाब बनने लगती है। परन्तु स्टाक एक्सचेंज में भाव गिराने

1. मछली मरी हुई, राजकमल चौधरी, पृ॰ 47
2. मछली मरी हुई, राजकमल चौधरी, पृ॰ 115

और बढ़ाने की ताकत रखने वाला निर्मल कल्याणी की याद को न भुला सकने के कारण टूट जाता है। इसी लिए कल्याणी को कोई गाली दे यह निर्मल को बरदाश्त नहीं। वहां वह मरने मारने को तैयार हो उठता है।

निर्मल का स्वरूप उसकी यौन हीनता के कारण एक कोम्पलैक्स के रूप में अधिक उभरता है। सारी आयु शादी से पहले, कल्याणी के संग अनैतिक अधिकार और शादी के पश्चात् शीरीं के साथ नैतिक अधिकार का लाभ वह उठा नहीं पाता। अपनी यौन हीनता के कारण वह जल्द ही ठण्डेपन की उस सीमा तक बह जाता है, जहां सब वस्तुएं घिनौनी लगने लगती हैं।[1]

जिस समय औरत स्तनों को दबाने की तकलीफ चाहती है,[2] जब एक औरत एक दूसरी औरत के लिए तरसती है तब निर्मल इस कदर ठण्डा और कुंण्ठित हो चुका होता है कि वह कुछ भो नहीं कर पाता। न तो वह अपने नैतिक अधिकार का लाभ ही उठा पाता है, और न ही अपनी पत्नी को लैस्बियन होते हुए देख सकता है। यह एक ऐसा बिन्दु है जहां निर्मल बुरी तरह हारता है खण्डित होता है। शीरीं की इसी अवस्था को जब प्रिया (कल्याणी की लड़की) सीधे सादे ढंग से निर्मल के सामने रखती हुई कहती है - शी इज़ योर वाइफ। शी इज़ सच एक फाइन क्रीयेचर—तो निर्मल इसे पौरुष की ललकार समझकर कहीं अवचेतन में दबी कल्याणी की उसी आवाज़ का बदला प्रिया के साथ एक ही समय में कई बार बलात्कार करके ले लेता है। बेशक वह इस प्रकार प्रिया को उसकी लैस्बियन पन से मुक्ति दिलाने में सफल तो हो जाता है, परन्तु अपनी इसो अपराध भावना से अन्दर से पूर्णत: खण्डित भी हो जाता है।

इस प्रकार अन्त में उपेक्षित शीरी को अपनाना, इस मरी मछली को पुनर्जीवन देना अपने ग्राप में भी स्वाभाविक कतई नहीं बन पड़ा। प्रिया की इज्जत के बदले और कल्याणी की यादगार स्वरूप प्रिया को कल्याणी मेन्शन भेंट करना पुराने बोझ से मुक्ति पाना नहीं कहा जा सकता। निर्मल का इस प्रकार का आचरण उसकी एक नियति से दूसरी नियति की ओर भटकाव ही हो सकता है, एक ऐसी नियति जिसके बाद भी भटकना ही हो।

---

1. मछली मरी हुई—राजकमल चौधरी, 115
2. वही, ,, पृ० 117

अस्तंगता: कृष्ण चन्द्र शर्मा 'भिक्खु' (१९६६)

यह उपन्यास सालाजार और उसके पूर्वजों की साम्राज्य लिप्सा को लेकर है। गोआ जो भारत का अभिन्न अंग था और जो फिर से आजाद ही भारत का अभिन्न अंग बन चुका है, जब यही गोआ की श्रृखला में आवद्ध विश्रृंखलित ही अवमूल्यन की दिशा में वढ़ चला था। इसी वोध की अकुलाहट का परिणाम यह उपन्यास है।[1]

इस नायक-विहीन उपन्यास में यदि केन्द्रीय पात्र देखा जाए तो वह इस उपन्यास की पात्र रूथ ही है। जो लेखक की कलम में तब बंधी जब लेखक ने उसे वातायन से जब जव अतीत के अन्ध विवर में झांका तो अनुभव किया कि खण्डिता 'रुथ' की जीवन-वेदना, उसकी और उस जैसे इतिहास उपेक्षित जनों की अनन्त पीडाएं। उस वेदना, उन पीडाओं ने जो ज्वाला दी, उसी के आलोक में उभरी अतीत के अन्य विवर में डूबी रेखा कृतियां।[2]

सन्तरण शील जहाज रोहीदास के डैक पर 'रुथ' प्रवचित मनुष्य की कहानी सुन तीन दर्शकों की अपनी करुणा स्निग्ध दाहक जीवन गाथा 'फलेश बैक' के माध्यम से सुनाती है।

'रुथ' का जीवन समुद्र के साथ विलास करने वाली माण्डवी के समान ही अद्भुत है। कभी प्लावन और कभी ज्वारभाटा, फिर शांत। इसी तरह की दोहरी जिन्दगी जीने वाली रुथ भी है।

सालाजार का शासन, जहां लोगों को शराब पीकर नाचने भर का अधिकार था। कोई स्वतंत्र अखबार नहीं। पुस्तकों का प्रकाशन नहीं। बिना सेंसर एक पेम्फलैट तक नहीं छप सकता। जहाँ एक सार्वजनिक सभा तक न हो सके। जहां विवाह के निमन्त्रण-पत्रों पर सेंसर हो। जहाँ उनकी स्वाभिभक्ति को सदा सन्देह से देखा जाए। जहां उनकी दासता उनकी कुरूपता कही जाए। विलासिता के मेकअप में जहाँ उस कुरूपता को संवारा जाए और स्वतंत्रता के नाम थोड़ी और बेहोशी बांट दी जाए।[1]

1—2—अस्तंगताः कृष्ण चन्द्र शर्मा, 'भिक्खू', भूमिका पृ० 83

नशा सिर्फ नशा। पर आजादी देने को तैयार कोई नहीं। जहाँ लोगों से अपने मन का दिखावा किया जाए। गोरेपन की बू से दूर रहा जाए। तभी तक जब तक वह उनकी इच्छाओं को स्वीकारते रहे, तब तक वह स्वतंत्र चेतना से काम न लेल।[1] इस परिवेश में जन्म लिया रूथ ने। जब उसने आखें खोली तो उसने स्वयं को 'निन्यू इन्फेण्टिल' (अनाथालय) में पाया इस इन्फेण्टिल में अवैध सन्तानें जन्म लेती थी। अविवाहित माताओं का पाप जिसे फादर एन्नुहनो पुण्य कहते थे। क्योंकि इस तरह उनके जन्म धर्म का मानने वाला एक और बढ़ जाता है।[2]

संस्कारों और आचारों से व्यवस्था में भी वह अधार्मिक रही। इन्फेंण्टिल में रोज बच्चों की वृद्धि होती रही। कुछ बच्चे जाते लोगों की दोगली सन्तान बनकर जाते भी रहे। परन्तु जो वस्तुत: संतान तो कभी न बन सके पाये हां उनके लिए विलास की सामग्री जरूर बन गए। नौकर और रखैल के रूप में लोग अपनी वासना की तृप्ति करने के लिए वह ललचायी नजरों से इन्फेंटिल की ओर देखते।

इसी इन्फेण्टिल में उसने जाना कि बच्चे कहां से आते है। बच्चों का स्वाभाविक कौतूहल उसमें प्रारम्भ से दीखने लगा। यहीं उसका बाल सखा जोजे और सहेली रोज भी थी और यहीं पावरी की समलैंगिक (होमोसेक्सुअलटी) से पीड़ित सुन्दर कोमल आतुश भी। बचपन से ही दमित जीवन और उस परिवेश में रुथ को बहुत कुछ सिखा दिया। जिसका परिणाम हर सहज मान ली जाने वाली बात पर अविश्वास और अस्वीकार था। यही कारण था कि उस दस साल की कच्ची अवस्था में ही रुथ जोजे के संग वहां से भागने के सपने देखने लगी।

पोर्चुगीज शासन ने कुछ अजीब से मूल्य दिये। सम्बन्धों की टूटन के कल्चरल संस्थाएं उन्होंने नहीं दी। राजनीतिज्ञ चेतना नहीं दी। दिये तो केवल शराब खाने (बार) और इन्फेण्टिल रेकोलिपमेन्तु (अनाश्रितों के आश्रय) और सड़कों पर लोगों को कुचलने और मनमानी करने के लिए भाड़े के अफ्रीकी सैनिक।[1]

1—2—अस्तगंत: कृष्ण चन्द्र शर्मा 'भवखु', पृ० 83, 84

उसी छोटी-सी अवस्था में रुथ को परेरा की गोद ली सन्तान के रूप में कम, उनकी वासना पूर्ति और नौकरानी के रूप मे अधिक देखते हैं। उसी कच्ची उम्र में परेरा का 'रुथ' को शराब पिलाकर उसका शील भंग करते भी देखते हैं। यही परेरा का बलातकार रुथ में प्रारम्भ से ही हिंसक भावना जगाने का काम करता है। तब हम उसे एक षड़यन्त्रकारी के रूप में पिता और पुत्र में 'घृणा' पैदा करवाने और परेरा को मानसिक रूप में खतम करने की भावना देखते हैं। दुःख सुख से स्वयं को छलते हुए कंगाली में भी हम उसे तब रानी का-सा अभिनय करते देखते हैं। परन्तु कुछ भी न पाते हुए जहां केवल देना ही देना हो। इच्छा से भी और अनिच्छा से भी। जहाँ की जिन्दगी नियत और प्रत्याशित न हो। फिर भी सब कुछ घटता रहा, अप्रत्याशित होकर।

इसी परिवार में युवा अवस्था में हम उसे उच्च स्तर का जीवन जीते देखते हैं। घर मास्टर की सहायता से पढ़ते हुए और वाद-विवाद करते हुए हम रुथ में एक अलग ही प्रकार की रुथ को उगते देखते हैं। अपने रुथ की चकाचौंध द्वारा परेरा के विनाश के लिए भरसक प्रयत्न करते हुए अपने जीवन में आंसुओं को खुद ही पोंछते हुए, अपनी चोटों को खुद ही सहलाते हुए, दुनिया के सामने हम उसे अपने ही भरोसे जाते हुए देखते हैं।

रेडियो गोआ में प्रसारिका (एनाउन्सर) की नोकरी के पश्चात हम देखते हैं कि उसकी आत्म-निर्भरता की भावना जड़ें पकड़ने लगती हैं। उसे वहाँ की जिन्दगी शराब और सैक्स में डूबी होने पर परेरा परिवार से व्यापक लगती है। मात्र थोड़ी-सी स्वतंत्रता के लिए जो परेरा परिवार में उसे नहीं मिल सकी और रेडियो गोआ उसके लिए महत्वपूर्ण बन गया। परन्तु बदले की भावना वह तब भी न भूल सकी। श्रीमती परेरा से यह राज जानने के पश्चात् कि वह लड़की उन्हीं की है परन्तु पिता दूसरे हैं, रुथ को हम कहीं अन्दर से टूटता हुआ देखते हैं। वह दीन हो उठती है जिस प्रतिहिंसा की चिन्गारी में उसकी द्वेष-भावना इस्पात बनती निखर रही थी, वही चिन्गारी जब इस नपे बोध की शिला तले दबकर निस्तेज होने लगी तो वह निरुद्देश्य, व्यक्तित्वहीन, जड़ और इच्छाहीन हो गयी।[1]

---

1. अस्तगाताः कृशण चन्द्र शर्मा भिक्षू, पृ० 227

घुटी घुटी और बोनी जिन्दगी जीते हुए परेरा परिवार उसका जन्म दिन मनाता है। यही जन्म दिन उसके जीवन का निर्णयात्मक मोड़ सिद्ध होता है। ढेर सारे उपहारों में परेरा द्वारा यीशु की मूर्ति और साथ ही 'अश्लील' किताब पा कर रूथ 'ननरी' की दुनिया में लौटने का फैसला करती हैं। प्रीस्ट के सामने अपने अपराध गिनाते समय उसे कोई अपराध किया नजर नहीं आता। यहां तक कि कुछ समय तक वह अपने अस्तित्व तक को भूल जाती है, अपने प्रति अकरुण हो उठने वाली यीशु की करुणा से अन्त तक वंचित रहती है। जब पादरी—'हे इश्वर, तुमसे ही सब राष्ट्र उत्पन्न हैं, वे आयेंगे और तेरे समक्ष ही तेरी पूजा करेंगे। वे तेरे नाम को गौरवान्वित करेंगे क्योंकि तू महान है और चमत्कारों का विधाता है। तू ही एक मात्र ईश्वर है। एलले लूइ[1] यह कहता तो 'रूथ' कहीं बहुत दूर खोयी होती। एक मौन विद्रोह तब उसमें हिलोरें मारता होता। हजारों वर्षों से रखा फ्रांन्सिस-जेविर्स सन्त का शव तब उसे बेमानी और चमत्कार रहित लगने लगता है। बार बार उसे परेरा याद आता है—उसका आनन्द तो उसको धीरे-धीरे मारने में था। उसके दिए हुए दर्शन के त्रास से पागल कर मारने में।[3] अपने मन की इच्छा पूरे होने पर, विक्षप्ति की अवस्था में वह ननरी से रांची के पागलखाने में पहुंचा दी जाती है। यहीं उसे उसके पिता का मित्र डाक्टर अंकल आश्रय देता है। यहीं वह नर्स की ट्रेनिंग ले कर एयर होस्टेस (वायुयान परि-चारिका) बनती है। यहीं रोज (पुरानी सहेली) की मुलाकात इसके जीवन को पुनः एक नया मोड़ देती है। तब हम उसे रोज़ के साथ गोआ की आजादी के लिए गुप्त संघर्ष करते हुए देखते हैं—ऐयर-होस्टेज की नौकरी छोड़ क्रांतिकारियों के गुप्त गोआ-रेडियों से प्रसारण करते हुए। यहीं वह अपने प्रणयी और बालसखा और सालाजार सरकार के गुप्तचर विभाग के अध्यक्ष जोजे द्वारा गिरफ्तार हो जाती है। वही जोजो जिसकी वह अपने जीवन में राह देखती रही थी। गिरफ्तार होने से पहले जोजे द्वारा भागने का समय दिये जाने पर वह स्पष्ट शब्दों में उसे भी संग भागने को कहती है और ऐसा न होने पर जोजो द्वारा सदा के लिए जेल में सड़ने के लिए डाल दी जाती है। बाद में भारतीय सेना द्वारा वह जेल से मुक्त कर दी जाती है।

प्रारम्भ से अंत तक उसे यही शिकायत रहती है कि कोई उसको सही ढ़ंग से पहचान नहीं पाया। मनुष्य मात्र की यह विडम्बना है कि मनुष्य कई बार खुद

1. 2. अस्तगताः कृष्णचन्द्र शर्मा भिक्खु, 255, 262

को पहचानते हुए दूसरों द्वारा उपेक्षित हो जाता है। उसे सालता रहा कि वह दो व्यक्तियों की भूल का फल क्यों बन गयी। और शरीर से न थकने वाली रूथ अंत तक में बुरी तरह थक कर टूट जाती है। जिन्दगी के कड़ुए-मीठे अनुभवों के साथ उसकी भावुकता भी मरती जाती है। हर अनुभव के द्वारा उसकी खाल पर और परत चढ़ती है और उन परतों द्वारा हाथी की खाल बन जाती है जिसमें कांटे न चुभ कर सिर्फ अंकुश ही प्रतिक्रियाएं जगा सकते हैं।[1] वही टूटी हुई रूथ अन्त में भगोड़े जोजो के साथ प्रणय सूत्र में बंधने को अस्वीकार कर देती है। केवल इसलिए कि जोजे ने उसके साथ भागने पर पहले इन्कार क्यों कर दिया था। अब मानना बनी रूथ के शब्द 'उसकी मोहभंगी माँ को दर्शाते हैं,' मुझे जीवन से कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए। मैंने सब कुछ तो पाया है। यह मेरी अपनी किस्मत थी कि ठीक समय से न पाया। भाग्य जब मुस्कराया तो वह भी गलत वक्त से। असम्भव संभव हुआ फिर भी प्रत्याशित अप्रत्याशित बना रहा।'[2]

इस प्रकार जोजे को अस्वीकार कर अजीव से विरोधाभास लिए नियति न जाने उसे किस ओर लिए जाने लगती है। उसकी नियति को मोहभंगिमा की नियति कहा जा सकता है। वह भंग जो पाँचुगीस शासन की देन था, जिस में बराबर मानवीय सम्बन्धों का विघटन होता रहा। मोहभंग की यह नियति एक अधीनस्थ देश की नियति न होकर विश्व के तमाम उन देशों की नियति है जो अभी दूसरे राष्ट्रों के अधीन हैं।

वस्तुत: रूथ का स्वाभाविक विकास इस उपन्यास में कहीं आकस्मिक घटनाओं के कारण अवरुद्ध हुआ और कहीं मात्र 'फिल्मी' मा योजनावद्ध और अस्वाभाविक बन कर रह गया। परन्तु लेखकीय बलात्कार सह कर भी उपन्यास के अंत में रूथ का निर्णय आरोपित और अस्वाभाविक न होकर स्वाभाविक और स्वतंत्र है।

'सुवह अन्धेरे पथ पर' : डा० सुरेश सिन्हा (१९६७)

सुरेश सिन्हा का उपन्यास 'सुवह अन्धेरे पथ पर' (1967) निम्न मध्यवर्ग की आन्तरिक पीड़ा को कई दिशाओं मे हमारे सामने व्यक्त करता है। इसका माध्यम है नायक राजू एक छोटा-सा बच्चा जो अपने घर में होने वाली हर बात

---

1. मस्तंगता; कृष्ण चन्द्र शर्मा भिक्खु', पृ० 36
2. वही, वही, पृ० 289

को हर परिवर्तन को देखता है। बोलना तो कुछ चाहता है किन्तु बाप के भय से मौन बना रहता है। केवल देखने भर तक की यह प्रतिक्रिया बहुत जल्द ही खत्म हो जाती है और वह बच्चा युवावस्था में पांव रखते ही हर बात का मनन-विश्लेषण करने लगता है जिस पर पहले वह मौन रहा करता था। उसे अपना करीब-करीब सारा बचपन याद है, राजू से लेकर कालेज के रजिस्टर में राजेन्द्र को वास्तव तक का जीवक। वह स्वय को तब से जानता है जब से वह राजू से राजेन्द्र श्रीवास्तव हुआ। बार बार उसकी स्मृतियों में एक छोटा सा कमरा उभरता है। दीवार पर प्लास्टर नहीं है। क्रमहीन ढंग से जुड़ी हुई ईटों पर अतीत एक लम्बे कमरे के उस अंधेरे में भी क्रमश: दीखने लगता है और उसके बाद तो पृष्ठ-पर-पृष्ठ उभरने लगते हैं। कड़ुवे और घुटन भरे वह दिन जब वह नये नये मुहल्ले में आये थे। तब उनका बिल्कुल मन न लगता था—उनको न सुबह अच्छी थी, न शाम ही। वहां का हर एक क्षण अन-चिन्हा प्रतीत होता था। धुंधलके का घूंघट डाले भोर जब बड़े स्नेह से उन्हें उटाती, तो पहली प्रतिक्रिया होती अब? अब एक पहाड़-सा दिन क्षण क्षण बीते, तब कहीं शाम होगी और शाम—शाम हुई नहीं कि सारा कम्पाउण्ड बच्चे की आंख की भांति बन्द हो जाता और फिर अन्धेरे में उड़ती हुई रिक्तता कचोटने लगती और तब वह अपने के ग्राने की प्रतीक्षा करने लगती।

इलाहबाद का एक गन्दगी भरा निम्नवर्ग का मुहल्ला। धुएं और लोहारों की गन्दी गलियों से सनी हवा प्रारम्भ में ही राजू को मुहल्ले में खेलने पर पाबन्दी का कारण बनती है। क्लर्क पिता अपने परिवेश के लिए कुछ कर सकने के लिए अन्त तक भटकते रहे। बीमार और धार्मिक माँ, मौन और गम्भीर बहन, नून तेल और पैसे-पैसे का हिसाब, कर्ज से दबा बौना व्यक्तित्व लिए वह ग्रपने परिवेश से बुरी तरह ग्रसित नजर आता है। कुल मिलाकर एक अजीब-सी उदासी और कसैलापन सारे परिवेश पर व्याप्त रहता है। गहने बेचकर, मकान बनवाकर भी कमरों में पलास्टर न लगवा सकना जहां निम्न मध्यवर्ग के अभावों को दर्शाता है वहीं एक हूक-सी मन पर छोड़ देता है।

उसी दम घोटू वातावरण में बौना व्यक्तित्व लिए नायक चुपके से अपनी मौसी की लड़की मीरा से प्रेम कर बैठता है। आधुनिक बनने की झौंक में निम्नवर्ग के सब दिखावे पार करता हुआ वह मीरा से शादी की बातें तक सोच जाता है।

परिणामतः जहां नायक का दिमागी शोषण होता है वहीं परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त करती है। बाकी बच रहती है मीरा के झूठे चुम्बनों की सिहरन जो मीरा के फलर्ट करने से हरदम ताजा रहती है।

अभावों से घिरे परिवार को जब उसने अपना आसरा देना चाहा तो समाज ने उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को पूरी तरह अस्वीकार कर दिया। उसे लगा मात्र डिग्रियां उसके लिए कुछ भी नहीं, आकाशवाणी की नौकरियां, प्राध्यापक की नौकरियाँ और पत्रिकाओं की नौकरियाँ महज़ हवाई बन कर रह गयी हैं। जहाँ मात्र पैसा और सिफारिशें प्रधान हों वहां न्याय और डिग्रियों की नीलामी कब की हो चुकी होती है। जिस देश की राजनीति और आर्थिक नीति मध्यवर्ग की कब्र पर बने और कूटनीतिज्ञ जहां दिनोंदिन मालोमाल होते जाए वहां उस जैसे निम्न मध्यवर्गीय युवक के तथाकथित सडांध श्रम की आवश्यकता कैसे हो सकती है।

मध्यवर्गीय शोषण को लेकर ही प्रायः नायक का स्वरूप कभी स्थिरता के दो ध्रुवों पर घूमता रहता है। बचपन की सरहदों से नौजवानी की सरहद तक पहुंचने पर उसे एक ओर आर्थिक विषमता और अभावग्रस्त परिवार का चीत्कार सुनाई पड़ता है तो दूसरी तरफ मीरा का परजीवी व्यक्तित्व जो झूठे प्यार के वायदों पर राजू का दिमागी शोषण करता है। उसे लगता है मानो मीरा के प्यार से वंचित सम्भवतः उसके दुःख दर्द को बांटने वाला दूसरा भी आ रहा है, परन्तु वह एक महज भ्रम निकलता है जो मृग मारिचिका की भांति उसकी इच्छाओं, उत्तेजनाओं को मात्र उद्दीपन देने के पश्चात यकायक ठण्डा पड़ जाता है।

बहन की शादी के लिए मकान गिरवी रख कर लिया गया कर्ज अन्त तक न उतार सकना और अन्त में बनिये द्वारा मकान हड़प लेना निम्म मध्ववर्ग के इस मार्मिक पहलू को छू देता है जहाँ शोषक और शोषित दोनों की नियति एक ही धुरी पर चक्कर काटती रहती है। निम्न मध्यवर्ग की दिशाहीनता, उनके अभाव ही उनकी नियति बन कर सामने आने लगते हैं। जीवन की सारी आशाएं इच्छाएं और आदर्श जीवन को खोखला बना कर भारी यातायात की सड़क के मध्य फैंक देते है, कुचलने के लिए नहीं। पिता की मौत के पश्चात् नायक यकायक भावुक हो जाता है और स्वयं को खण्डित महसूस करता है।

सचमुच अब दुनिया के लिये मैं अपरिचित हूं। उसे मेरी गति की कोई परवाह नहीं। मन में गहरा दुख लिए वह सोचता है। काश, आज मीरा साथ होती—उफ क्या सचमुच अकेलापन ही मेरी नियति है।[1] वह किसी के आंचल पर मुंह रखकर रो भी नहीं सकता। वह टूट कर बिखरना चाहता था परन्तु ऐसा न कर सका। मन को झुठलाने के लिए जब अन्दर से वह हंसा तो उसे लगा उसका भीतर हाहाकार कर रहा है। उदासी और घुटन का कैंसर पाल कर उसने जाना कि वह धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। परन्तु लगता है उसे अपना विनाश मन्जूर नहीं—हर शाम एक जख्म बन सकती है, घड़ी दो घड़ी का साथ देकर व्यक्ति नए निशान देकर सारी सम्भावनाएं अपने में समेटे और हर कन्फेशन्स झुठला कर पत्थर का बुत बन सकता है—हर सम्बन्ध विष की गांठों में बांधकर, जर्रे, जर्रे में बांट कर आदमी को मृत्यु की नियति दे सकता है, पर आदमी का काम टूटना नहीं है, क्षणों में जीवन भी पूर्णता की ओर गतिशील होना है और फिर अपनी सम्पूर्ण सक्षमता के साथ एक नए जन्म का, स्वयं अपनी जिन्दगी का एक नया इतिहास प्रारम्भ कर आगत को कर्मों और संकल्पों की निष्ठा से प्राण देना होता है—।[2] इसी प्रकार आदर्शात्मक भावना को अपने ऊपर ओढ़े हुए नायक जब सारा जीवन कुछ न कर सका, न घर ही बचा सका न पिता को ही। अन्त तक बिना किसी ठोस कार्य के ऊंचे ऊंचे आदर्शों और यूटोपिया की बातें करना अपने आप को भ्रम में डालना है। ऐसा भी हो सकता है अन्त में लेखक में उसकी कठिनाइयों को कम करने के लिए उसे कड़वा मिक्श्चर पिला दिया हो। परन्तु एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि दो एक स्थलों पर उसकी बातें यथार्थ की लगती अवश्य हैं जब वह कहता है—यह विपदा कोई सरकार नहीं मिटायेगी, कोई राजकीय व्यवस्था इस अवसाद-पूर्ण स्थिति से मानव मात्र को मुक्ति नहीं देगी। नैराश्य एवं अंधेरे पथ पर भटकाव से किसी की मुक्ति-नहीं होगी। परिवर्तन आदमी करेगा, सरकार नहीं। परन्तु मात्र सोचने से कुछ भी सम्भव नहीं, जब तक उस समग्र विचारधारा को एक व्यवहारिक रूप न दिया जाए। वह जीवन संघर्ष में कूदे लोगों को और स्वयं को जानकर, वह भी पालतू जानवर, समझता है—काफी हाऊस में प्रवेश करने पर दरवाजे पर टंगे साईनबोर्ड पर—'डाग्ज आर नाट एलाऊड' लिखा देखकर कहता है—जो

---

1. सुबह अन्धेरे पथ पर—सुरेश सिन्हा, पृ० 406—407
2. वही पृ० 415

जिन्दगी में अभाव, घुटन, विषमताओं एवं कुण्टाओं से टहराव की नियति बन कर मृत हो जाते हैं, वे कुत्ते है—मुझे तरस आ रहा था मैनेजर पर—क्या वह सबके सब कुत्तों को आने से रोक देता है—दैट फैलो । उसका इस प्रकार अपने को कुत्ता समझ लेना उसकी उन्हीं निम्न मध्यवर्गीय कुंठाओं को उघाड़ता हैं जो अवचेतन से उठकर ऊपर आ गई है । और, पल भर पहले सोची आदर्शों की बातों का ढेर वहीं बिखर जाता है ।

अत: उस दमघोटू वातावरण में उस स्वार्थी समाज में बोना व्यक्तित्व या नायक के उसी समाज में संघर्षरत होने की अभिशप्तता उस मध्यवर्गीय इन्सान की नियति की ओर इंगित है, जिस विरोधाभास में वह आज जीवन जी रहा है ।

झरोखे-भीष्म साहनी (१९६८)

यह उपन्यास मध्यवर्गीय परिवार की कहानी लिए हुए है । वह लघु परिवार जो प्राय: टूटने को है । इसका नायक एक छोटा-सा बालक है जो ताका करता था । एक परिवार और उसकी छत के नीचे रहने वाले, उस छत से मुक्त अलग-अलग रास्तों के लिए तरस रहे हैं । उन रास्तों को पकड़ पाना एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार के लोगों के लिए कितने संघर्ष की बात हो सकती है, वहां जहां मनुष्य सब कुछ करना चाहते हुए भी नियति के सामने निष्क्रिय, निस्सहाय और अवश महसूस करता है । नायक के शब्दों में—जिन्दगी भर के कुछेक झरोखे लगता है, अपने हाथों से ही खोल रहा हूं । सांय और अवाजें, भटकते रंग-काला और सफेद और लाल-इन्हीं का झुरमुट सा उभरने लगता है । दिन की रोशनी में उठने वाली आवाजें दिन की रोशनी में ही बिखर जाती हैं । अपना अस्तित्व खो देती हैं, लेकिन सांय काल के झुटपुटे और रात के अन्धेरे में उठने वाली आवाजें हवा में तैरती हुई, दीवारों को बेधती हुई चली आती हैं और लगता है आज भी तैर रही हैं और दीवारों को बेध कर मेरी ओर आ रही हैं ।[1] तब उसे उसका बचपन याद हो आता है । एक वेसुध पन को लिए, भोलाभाला बचपन, जहां हर बात पर प्रश्न चिन्ह लगे रहते हैं । और विडम्बना यह कि उन प्रश्न चिन्हों के पीछे एक छोटे से बालक की अपने और अपने परिवार की कहानी है ।

---

1. झरोखे—भीष्म साहनी, पृ० 7

बुखार और विरह की पंक्तियां। गलियों में भिखमंगों और फकीरों की आवाजें। सन् सैंतालीस से पहले का परिवेश। एक पंजाबी परिवार। बालक बुखार में है और मां उसे चैतमास के छन्द सुना कर सुलाने का प्रयत्न कर रही है। पिता बार बार चिल्ला कर मां को ऐसे छन्द सुनाने को मना करते हैं और मां बिना सुने यथा-स्वर वही गाती जा रही है। गली के बच्चे दूर किसी के कोठे पर खेल रहे हैं। हवा में उनके गाने की तिरती आवाजें बच्चे को तंग करती है। वह कसमसाता है, परन्तु खेल नहीं पाता।

उधर घरका नौकर तुलसी हंसोड़ है। उसकी बातों पर उसकी दोनों बहनें हंस-हंस कर लोटपोट हो जाया करती थीं। इधर पिता का चिल्लाहट भरा स्वर सुनाई देता है—ऐसा वेवा का घर है, यहां कोई चीज़ नहीं मिलती।

धार्मिकता और अन्धविश्वास में उसका विकास हुआ। घर में मां पूजा-पाठ करती है। बाहर, सब धर्मों को मानती। फिर मनोतियाँ और नौटंकियों का खेल, जिसे वह बड़े चाव से नौकर तुलसी के कंधे पर बैठ कर देखने जाया करता था। घर में मुसलमान व्यापारियों के बर्तनों को हिन्दू व्यापारियों के बर्तनों से अलग रखा जाता था। भाई बहनों को ऊंचा हंसने पर और बहनों का कोठे से झांकने पर निषेध था। न जाने कितनी छोटी-छोटी घटनाएं हैं जो अब सिलसिले बार जोड़ी नहीं जा सकतीं। जिन्हें पीछे छोड़ा जा सकता है, छुआ नहीं जा सकता।

दो सफेद हंसते साये उसकी दोनों बहनें बिछड़ जाती हैं। छोटी बहन की मौत का शब्द उच्चारण करना जानता है। उसके अर्थ से परिचित नहीं होता। घर वालों को उस वातावरण को सहमा देखकर वह भी सहम जाता है। वह उस मौत वाले कमरे में जाने का साहस नहीं करता। इसी प्रकार दूसरी बहन के प्रसव पीड़ा में चीखने पर उसका सोचना बहुत स्वाभाविक लगता है कि शायद यह बहन भी मर गई। इसका कारण घर भर में उसके प्रश्नों का उत्तर देने वाला कोई न होना है। उसके प्रश्न प्रश्न ही बने रहते हैं।

बचपन और उससे जुड़ी हजारों घटनाएं—मां की चाबियों के खो जाने पर घर भर में हंगामा! फिर वही सैक्स जिसकी समझ उसे नहीं हो सकती थी। भाई के मास्टर को शिकायत करने पर और मास्टर को पूछने पर स्पष्ट परन्तु भोलेपन से कहता है कि वह अपने लिंग को छू नहीं सकता बल्कि उसे खींच कर बड़ा भी कर सकता है।[1] फिर मास्टर और मां की मार जिज्ञासा और कौतूहल

1. झरोखे—भीष्म साहनी, पृ० 37

की शाँति फिर भी नहीं। वही वीर्य के प्रश्न पर भाइ तथा मित्र से स्पष्ट वार्ता स्वप्नदोष से त्रस्त कई महिने बिना सोये निकालना। बाल मनोविज्ञान के अनुसार बालक के भोलेपन और अनावश्यक के कौतूहल के उन बिन्दुओं को रेखांकित करता है जहाँ दुराव या छिपाव नहीं होता।

घर के कोठे पर खड़े हों तो सड़क पर एक सिरे पर चरनी है; और दूसरे सिरे पर सड़क। उसकी दुनिया चरनी से शुरू होकर और अतरसिंह हलवाई की दुकान तक पहुंच कर खत्म हो जाती थी। जहाँ सड़क के किनारे कुछ लोग दरी बिछा कर कौड़ियों से चोपड़ खेला करते। इससे आगे क्या था वह कुछ नहीं जानता।[1] यही था उसका छोटा-सा परिवार—उसका बचपन।

उसके स्वरूप-विकास के दूसरे पहलू को हम उसके जवान होने में देख सकते हैं। जब वह बाहर की दुनियाँ से अतरसिंह हलवाई के आगे की दुनिया से लौटता रहता है। तब वह नौकरी पेशा क्लर्क के रूप में आता है। ऐसा क्लर्क जो मध्यवर्गीय अभिशप्तता की गहरी छाप लिए हुए है।

क्लर्की सीख कर कई वर्षों के पश्चात जब वह घर पहुंचता है तो उसे लगता है उसकी गली, मुहल्ला, सड़कें सब सिकुड़ गयी हैं। यहाँ तक कि उसकी माँ और उसके पिता तक सिकुड़ कर पहले से बौने हो गए हैं। इस सिकुड़ेपन से कहीं दूर जाने के लिए उसका भाई छटपटा रहा है। परन्तु मां बाप के स्वार्थवश वह कहीं जा नहीं पा रहा। इतने वर्षों के पश्चात भी मां के वही उलाहनें, माँ बाप में छोटी-छोटी बातों को लेकर वही झड़प जैसे अनवरत चलती आ रही हैं। अन्ततः भाई का वहाँ से चले जाने का अन्तिम निर्णय और माँ का उसी समय अपशुकन की बात करना। उसे लगता है यह माहौल कभी भी नहीं बदल सकता। मां बाप बूढ़े हो गए हैं और भाई कहीं दूर जा रहा है। बड़ी बहन अपने परिवार के संग और छोटी बहन न जाने कहाँ खो गयी है। जब कि कल उसे स्वयं नौकरी पर वापिस जाना होगा। भविष्य अतीत, वर्तमान, परन्तु कहीं कोई हल नहीं, कहीं प्रश्नों से छुटकारा नहीं, जवाब हैं लेकिन अधूरे।

इस प्रकार मध्यवर्गीय युवामानस के सामाजिक सम्बन्धों के साथ-साथ यह उपन्यास उनकी अनंत महत्वकांक्षाओं को लिए हुए है जो सीमित साधनों के

1. वही वही पृ० 13

बावजूद आगे बढ़ रही हैं। वह हर जगह कुछ नया, कुछ तबदील हुआ देखना चाहता है। वह चाहता है कुछ स्वतंत्र रहकर करे। जब मध्यवर्गीय सामाजिकता, अन्धविश्वास और मां-बाप का प्यार उसके रास्ते में आड़े आने लगता है, तब वह उन्हें झटक कर चल देता है। उसमें भविष्य की खोज और नये पन की चाहना जैसी आकांक्षाएं काम करती हैं। पिता का पुश्तैनी व्यापार उसे पसन्द नहीं और न ही माँ की चीखना-चिल्लाना और आँसू वह बर्दाश्त कर पाता है। उनमें छटपटाहट है स्वतंत्र रहने की, बुजर्गाना बन्धनों से मुक्ति की। पुराने परिवेश और पुराने मुहल्ले उन्हें लगता है कि वे उनकी साँसे रोके खड़े हैं। ऐसे लोगों को जीवन के संघर्ष में कूदना चाहते हुए भी उन्हें कई बार फैसले लेने पड़ते हैं। एक ऐसा बिन्दु जहां वह अथ और अति को नहीं जानते हैं। प्रश्न-चिन्हों की निरन्तरता में उलझे हुए वह ताकते रहते हैं कोई तो इन प्रश्नों के ढेरों को हटायेगा। परन्तु मध्यवर्गीय नियति से अभिशप्त वह ढेर सारे प्रश्न अंत में उन्हें स्वयं ही हल करने होते हैं। इस प्रयत्न में पारिवारिक मूल्य नये मूल्यों के सामने टूटने लगते हैं। ऐसी ही स्थिति में वह पुराने गली मुहल्ले, सड़के मां बाप और भाई के सिकुड़ेपन से दूर जाने का फैसला ले लेता है।

वस्तुत: नायक अन्त तक कुछ भी नया नहीं कर पाता। वेशक उसका भाई पारिवारिक सम्बन्धों को झटक कर वहां दूसरे स्थान पर अवश्य चल देता है। नायक का नौकरी को लौटना ही उसकी द्विविधा निष्क्रियता और अवशता को दर्शाता है, जिसको उसकी नियति ही कहा जा सकता है। वह अन्त तक सोचता रहता है जिन्दगी की असल दौड़ कहां से शुरू होती है, कौन सा मोड़ काटो तो लड़कपन पीछे छूट जाता है और जवानी शुरू हो जाती है? कौन कह सकता है कि इस मोड़ के पीछे जो कुछ था वह धूमिल और अस्पष्ट था, महत्वहीन था, पर जो कुछ आगे होगा, वह बिलकुल साफ होगा. महत्वपूर्ण होगा? क्या बचपन में धूल उड़ती है।[1] और जिन्दगी करवटें लेती रहती है। इसका अन्त कहां होगा हम नहीं जान सकते।

आज के मध्यवर्गीय मानस का असमंजस और अरक्षित भविष्य के त्रास में जीना ही उसकी नियति हो सकता है। ऐसी नियति जहां प्रश्नों के उत्तर नहीं मिलते, बचपन में बढ़े हो जाने पर और जवानी में भी।

---

1. झरोके—भीष्म साहनी, पृ० 141

'अलग-अलग वैतरणी' : शिवप्रसाद सिंह (१९६७)

इधर नायक-विहीन उपन्यासों की कड़ी का एक और उपन्यास सामने आया है जिसमें कथा-केन्द्र के रूप में करैता गाँव को ही इसका श्रेय मिल सकता है। यह गाँव अपने सीमित दायरे में जिसमें उसका अपना चरित्र भी कम महत्वपूर्ण और व्यंजक नहीं है, कितने ही सजीव और निर्जीव पात्रों को संग जोड़े हुए है। सम्पूर्ण करैता गांव की ठसक अन्त में कसक का भान देकर रह जाती है। एक ऐसी नियति की ओर इंगित है जिससे हमारे गांव के अधिकांश लोग अभिशप्त हैं। 'करैता' रेंघनी चिरइया पेड़ से कलपती उड़ रही है—कुत्ते की तरह रोती हुई—सब कुछ तो सफाचट कर दिया—पता नहीं कल क्या करने पर लगी है, 'जहां जमींदारी की पुश्तैनी पुख्ता दीवालें एक हल्के धक्के से ही जमीन पर आ रही है—देखते ही देखते पूरा माहौल बदल गया,······ ·· सब कुछ ताश के पत्रों की तरह हल्के-से धक्के से बिखर गया।[1] इसी करैता में रहकर यहां से जाते हुए जैपाल सिंह को लगता है कि 'एक हिंसक दुर्गंध उसके फेफड़ों में अटक गयी है।' शशिकांत जिसे करैता से वेशिनाख्त लौटना पड़ता है, हताश, पराजित अपने से ही सवाल करता है, 'मैं मुर्दा जगह को बदलने के बजाय खुद उसी का एक अंग नहीं बनाता जा रहा हूं' और जग्गन मिसिर को अकसर महसूस होता है कि 'इस गाँव के हर व्यक्ति की आतमा में कोई अतृप्त प्यासा बेचैन प्रेत हाहाकर कर रहा है,······'आखिर क्या हो गया है इस सीधे सादे जीवन में डूबे रहने वाले लोगों को। ऐसी विरक्ति, ऐसा तटस्थता, ऐसी निर्मोही अलगाव क्यों?' जयपाल सिंह, जग्गन मिसिर, सुरजू, धनेसरी, सीरी, हरिया, पुष्पा, कनिया, पटनहिया, भाभी—'अलग-अलग वैतरणी' इतने चरित्रों का अलबम नहीं तो क्या है, जिसकी विशेषता यह है कि हर एक की अपनी अद्वितीयता है। विशिष्टता में व्यक्ति और 'टाइप' का भेद मिट जाता है—इस विशिष्ट चरित्र-सृष्टि के निर्माता शिवप्रसाद की दृष्टि में एक ही साथ तटस्थता और आसक्ति दोनों ही हैं।[2]

अपनी वंश ईर्ष्या, कत्ल, जुल्म और हजारों प्रकारों में झगड़ों में उलझे जमींदार, गरीबी ओर कंगाली द्वारा बौने हुए, गांधीपूजा, शहरी, शिक्षा और धन के पीछे पागल लोग उसी करैता का अंग बनकर ही तो आते हैं। भुखमरी द्वारा

1. अलग अलग वैतरनी : शिव प्रसाद सिंह, पृ० 48
(2—3) धर्मयुग, 10 अगस्त पृ० 22

बिलबिलाते बच्चे, स्कूलों में चीकट कपड़े लिए नंगधडंग बालक, ठण्डायी पीकर समलैंगिकता (होमोसेक्सुअलिटी] द्वारा पीड़ित हैडमास्टर जवाहरलाल सब जैसे नग्न रूप में हमारे सामने से गुजरते चले जाते हैं और छोड़ जाते हैं गावों की उस ऊब, बेईमानी और अन्य विश्वास को जिनमें आज का ग्रांवई इन्सान जी रहा है।

एक छोर से दूसरे छोर तक इस उपन्यास में मोहभंग की स्थिति दीख पड़ती है। एक छोर पर जैपाल का मोहभंग है तो दूसरे छोर पर विपिन का। यही नहीं इन दोनों छोरों के मध्य न जाने कितने और पात्र हैं जिनको मोहभंग की स्थिति में करैता से पलायन करना पड़ता है। परन्तु जैपाल और विपिन के मोहभंग में अन्तर स्पष्ट से दीखता है जो केन्द्र में होने पर अन्य पात्रों से अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। जयपाल के मोहभंग में ज्यादा सजीवता और ज्यादा तड़प है, जबकि विपिन का मोहभंग फीका और बेजान होते हुए भी अर्थहीन और बेइमानी नहीं है। यूं विपिन के पलायन को आज के भीरू सुविधाजीवी व्यक्ति का पलायन अवश्य कहा जा सकता है। करैता कोई-कोई या तत्व की तरह महसूस करने के कारण हम विपिन को उससे कट कर अलग हुआ देखते हैं। इसको उसके बाहरीपन का प्रतीक ही कहा जा सकता है। उसके लिए करैता एक कठिन समस्या की तरह है जिसके साथ उसका एक ही रिश्ता बन सकता है कि वह झुठलाने की कोशिश करे यह रिश्ता अपने आप में दिमागी रिश्ता है। करैता से विपिन के जितने और सम्बन्ध हैं—पैदायशी, खानदानी, या पुष्पी के साथ हल्की सिहरन वाले, उनकी भूमिका सिर्फ इतनी ही है कि दिमागी रिश्ते को थोड़े वक्त के लिए करैता से जोड़ दें, सिर्फ समस्या का साक्षात्कार करना अनिवार्य हो जाए। मगर उन रिश्तों में इतना दम नहीं कि विपिन को विचलित कर सकें या भीतर का आदमी बना सकें।

विपिन को उपन्यास के प्रायः केन्द्र में रखना केवल करैता को बौद्धिक रूप में देखने का प्रयत्न है। इस तरह गांव के साथ उसका सार्थक सम्बन्ध केवल सुधार योजनाओं द्वारा हो सकता था। परन्तु उपन्यास के अन्त तक गांव सुधार के प्रयत्नों में वह दर्शक मात्र ही बना रह जावा है। उसकी योजनाएं मात्र कल्पना तक ही सीमित होकर रह जाती हैं। जग्गन मिसिर कहते हैं कि विपिन उन थोड़े से लोगों में से है जिसने पास चेहरा है। बाकी भीड़ बिना चेहरे वालों

की है।[1] विपिन के पास चेहरा सिर्फ इतना ही है कि वह पढ़ा-लिखा है, गांव को समस्या की तरह देखता है। वर्ना उसके जैसा बिना चेहरे का पात्र पूरे उपन्यास में नहीं है। क्योंकि विपिन व्यक्ति नहीं, देखने का ढंग है। इसी लिए वह सारी सामाजिक इकाई से टकराने के बजाये पलायन का रास्ता पसन्द करता है। वस्तुतः वह सर्वत्र पलायनवादी ही रहा है। उसकी विरक्ति से ज्यादा उत्तेजक और नाटकीय जग्गन मिसिर की विरक्ति कही जा सकती है, जो जानते हैं, गांव का क्या होगा। 'गांव कोई आदमी नहीं है कि उसका कुछ होता रहेगा। अरे भाई, यह तो खेमा है। कभी उखड़ता है कभी गड़ता है। असली चीज़ तो धरती है—उसके बिना आदमी का गुजर नहीं····· नहीं करोगे तो भरोगे, है कि नहीं ?'[2] यह संकेत है कि चीज़ बदलेगी तो जग्गन मिसिर के प्रयत्न से बदलेगी, जो देश के नितांत साधारण जन के प्रतीक है—विपिन के तथाकथित बौद्धिक अकर्मण्य चिंतन से वह उसी अमानवीय स्थिति में पड़ी रहेगी जहां है।[3] पुष्पा को स्वीकार करने में जहाँ विपिन को संकोच है, उससे कहीं सजीव और सराहनीय है पटनहिया भाभी की निर्लज्जता जो जानती है कि 'निर्लज्ज होना खुद में एक पीड़ा भरा है।' इसी पीड़ा को अंगीकार किया राजो और देपाले ने जान देकर, कनिया ने अन्दर से टूट कर और पुष्पी ने कहीं अन्दर से घुट-घुट कर।

जहालत, गरीबी और तंग ख्याली की परतें जहाँ एक-पर-एक न जाने कब से जमती चली गयी है, जिस समाज को बदलना नामुमकिन-सा लगता है, जहाँ की फिजा में दमघोट और मुर्दों-सा हर मनसूबा घूमता पस्त हो जाता है, उस गांव को क्या कहा जा सकता है ? खलील मिर्जा के शब्द कहीं अन्दर से झकझोर देते हैं इन्सान भी अजीब है। कुछ बना सकने की इसमें ताकत नहीं पर मिटा सकने का गरूर वह हमेशा ढोता रहता है।[4] और खलील मियां जमीदार से गरीब दर गरीब होकर हमेशा के लिए गांव छोड़ जाते हैं। तब 'तहजीब' को कोई नहीं पूछता। क्योंकि वह तो कुतिया है जो पेट में दाना रहने से ही दुम हिलाती है।

---

1. अलग अलग वैतरणी—शिवप्रसाद सिंह, पृ० 686
2. वही वही, पृ० 687
3. अलग अलग वैतरणी—शिव प्रसाद सिंह, पृ० 280
4. वही, वही, पृ० 280

वस्तुतः यह स्थिति उस संक्रांतिकाल (ट्रांज़ीशन) की होती है जब एक व्यवस्था के टूटने पर दूसरी व्यवस्था के उस अन्तराल को अभी नहीं भर पाई होती। एक अजीब तरह की अव्यवस्था, गड़बड़ की स्थिति बनी रहती है। पुराने मूल्य अच्छे-बुरे जो भी, ध्वस्त हो जाते हैं, और उनके स्थान पर नए मूल्य निर्मित नहीं हो पाते। सम्भवतः वह गर्भस्थ होते हैं, और उन्हें बाहर आकर स्थापित होने में समय लगना है। इसी स्थिति को जब लेखक कथा के माध्यम से दोहरे-तिहरे स्तर पर लेकर चलना चाहता है, तो उपन्यास में कई रेखाएं दौड़ती-भागती दिखाई देती हैं। कभी वे एक-दूसरे के समानान्तर चलती हैं, कभी एक दूसरे को काटती हैं, और उनमें पार्थक्य इतना कम हो जाता है कि एक ही रेखा दिखाई देती है। कथा-वस्तु का एक सूत्र वह है जहां कथाकार ऐसे ग्रामीण जीवन को उसकी समग्रता में अंकित करना चाहता है जो इतिहास चक्र में क्रमशः बदलता रहा है। सम्भव है बाहर से देखने पर उसमें ज्यादा तबदीली न आयी हो, पर उसका आभ्यान्तर बराबर परिवर्तित होता गया है और पुरानी नैतिकता और मर्यादा इस हद तक टूट गिरी है कि गांव बिखर-बिखरा गया प्रतीत होता है।[1] सामाजिक दस्तावेज के रूप में इस उपन्यास में विघटन और चुनाव वाले जनतंत्र के दौर में नैतिक सामाजिक परम्पराओं की झंकार को टूटता हुआ या नपुंसक होता हुआ देखा जा सकता है।[2]

इस प्रकार सजीव ग्रामीण परिवेश और करैता गांव में केन्द्रीय विषय के रूप में ठनक पहचानने के बहाने लेखक समूचे भारतीय जीवन की तब्दीलियों, विसंगतियों, कठोर सच्चाइयों और प्रतिक्रियाओं से सीधा साक्षात्कार करने की कोशिश में लगा दीखता है।

सारे उपन्यास में सजीव वर्णनों को लिए लेखक की आस्था भी साथ-साथ चलती रही है—हमारे गांव से आज कल इकतरफा रास्ता खुला है। निर्यात सिर्फ निर्यात। जो भी अच्छा है, काम का है, वह यहां से चला जाता है—।[3] यहां हम लेखक के आस्थावान मन को विडम्बना में बीज घटित होने वाले मोह भंग के बाद की आस्था का है।

---

1. कल्पना प्रेमशंकर, अक्टूबर, 1970, पृ॰ 48
2. आलोचना: विजय देव नारायण साही, 10 अगस्त, 1969, पृ॰ 22
3. अलग अलग वैतरणी, शिवप्रसाद सिंह, पृ॰ 685

इस औपन्यासिक शिल्प में ऐसा बहुत कुछ है, जो 'मैला आंचल' के लेखक रेणु के कथाशिल्प की याद दिलाता है। कहीं लोक कथाओं का रूपक, कहीं गीतों की पंक्तियाँ, कहीं निरपेक्ष दृष्टि और टूटती स्थितियों की लय के साथ सम्बन्ध सापेक्ष आसक्ति या लगाव। इसके वावजूद 'अलग-अलग वेतरणी' को आंचलिक कहना जरूरी नहीं। हां आंचलिकता के पास की चीज़ अवश्य कहा जा सकता है।

करैता के चित्रण के माध्यम से जिन्दगी के तमाम पहलुओं का इतना विस्तृत सजीव इतिवृत कम उपन्यासों में मिलेगा। उपन्यास काल का अन्त विपिन के पलायन के साथ है। जब मौत, कारण और न्याय के असली शब्दों पर शक होने लगता है। पंचायतें गंडगोल करने लगती है।[1] जमींदारी के पश्चात जब इन्सान अपने ही भीतर के खोल ओढ़ कर डाकू, लुटेरा, और जालिम बन बैठा, तब विपिन को लगा कि तुम से कुछ नहीं हो पायेगा। तुम अपने ही बनाये जाल में उलझी मकड़ी की तरह छटपटाते रहोगे। और चारों तरफ से कटकर उसी में कैद होकर मिथ्या शांति पाने का नाटक करते रहोगे। यही तुम्हारी नियति है।[2] अपने आदर्शों को ताक पर रखकर हम विपिन को पलायन करता हुआ देखते हैं। पात्र और भी बहुत से हैं, परन्तु उनकी भीड़ कोई उकताहट पैदा नहीं करती। इतना जरूर होता है कि कुछ पर निगाह ज्यादा देर के लिए और कुछ पर कम देर के लिए टिकती है। इस प्रकार इन पात्रों में न तो कोई इतना उभरता है कि उस पर से करैता की धूल झड़ जाए और न शेष इतने ही दब गये हैं कि धूल और इन्सान में फर्क करना कठिन हो जाए। अतः स्पष्ट रूप से ये उभरते हुए किसी भी एक पात्र को हम नायक पद की संज्ञा के लिए रेखांकित नहीं कर सकते।

इस प्रकार लेखक ने जिस समूचे गांव को कथा का केन्द्र बनाकर सामाजिक दस्तावेज़ के जरिये जीवन की परिभाषा को तलाशने का प्रयत्न किया है, उसमें वह निश्चित रूप से सफल नहीं हो पाया। बेशक करैता की कहानी महज़ करैता तक सीमित न रह कर उसके माध्यम से मझगांवा, बिरहिमपुर, जाहि, कठौता, या इसी तरह के नामों वाले सभी गाँवों की कहानी हो गयी है। वास्तव में

---

1. अलम अलग वैतरणी—शिव प्रसाद सिह, पृ० 636
2. वही, वही, पृ० 560

इनके उपन्यास में 'गोदान' वाली संस्कारों की गऊ न होकर वैतरणी ही वैतरणीहै। जिसमें सब ऊभ-चूम रहे हैं। और फिर इस वैतरणी को भी पार नहीं किया जा सकता। हां इससे भाग कर अवश्य जाया जा सकता है। वह दौड़ है गाजीपुर डिग्री कालेज में प्राध्यापिकी की दौड़, जहाँ चार सौ रुपये महाबर का वेतन है। देख-रेख के लिए गाँव के एक मात्र सब से सगे मस्त मौला खुदाई खिदमतदार दयाल महाराज है। वस्तुतः यह दौड़ अपने आप में समस्या का कोई ठोस समाधान नहीं, बल्कि यह दौड़ अपने आप में अधूरी और भ्रामक है। इस भ्रामकता के कारण सामाजिक दस्तावेज का माध्यम जिससे जीवन की परिभाषा तलाशी जानी थी आरोपित बन कर रह गई है। इस तरह समूचे गाँव की नियति को एक वैतरणी (नर्क) से दूसरी वैतरणी (नर्क) तक की नियति ही कहा जा सकता है। यह नर्क करैता से गाजीपुर का ही हो सकता है।

'बून्द और बीन' : रांगेय राघव (१९६८)

रांगेय राघव का यह उपन्यास वस्तुतः टालसटाय के उपन्यास युद्ध और शांति' का वही प्रश्न चिन्ह उठाने का प्रयास मात्र है—युद्ध और मनुष्य। लेखक ने भूमि का में कहा है कि यह उपन्यास भारतीय सैनिक जीवन का चित्रण करने-वाला पहला उपन्यास है। वस्तुत: यह उपन्यास विगत महायुद्ध की यूरोपीय युद्ध प्रणाली को अधिक दर्शाता है जिसकी पृष्टभूमि में भारतीय सैनिक हैं अवश्य, परन्तु स्वतंत्र भारतीय सैनिक का चित्रण नाम मात्र का है। फिर भी इस उपन्यास में युद्ध के त्रास पर, मानवीय संवेदना और सुखी आगत जैसे प्रश्नों पर काफी विचार किया गया है। परिवेश की दृष्टि से दूसरा महायुद्ध है, जब सारा विश्व एक विभीषिका का अखाड़ा बन गया था। तब भारत परतंत्र देश था। कहानी अंग्रेजों और जापानियों के हाँगकांग युद्ध की है जिसमें भारतीयों को मजबूरन अंग्रेजों की तरफ से लड़ना पड़ा था।

कर्नल रनवीर इस उपन्यास का नायक है जो भारत-पाक युद्ध के दौरान घुसपैठियों के विरुद्ध कार्यवाही करने आया हुआ है। वर्तमान और विगत की चोट, युद्ध-युद्ध—मारकाट, लाशें, गिद्ध, खून के साथ उसे नंगी स्तन कटी औरतें, वैश्या वृत्ति के लिए मजबूर की गई औरतों के मर्मस्पर्शी चीत्कार अब भी 'सुनाई देते हैं।' अतीत की खरोंचो से बुरी तरह घायल बार-बार युद्ध और मनुष्य के जीवन के बारे में सोचने लगता है। एक मौन जीवन व्यतीत करने की

सजा। जापानियों की कैद में चूहे और गिद्धों से दोस्ती और जापानियों की ओर से पागल तक कर देने की कोशिश। दूर-दूर तक फैली हुई काँटेदार तारें और संगीनों का पहरा, जहां केवल आवाज़ है तो फौजी जूतों की। पानी के नाम पर सारे दिन में एक मग गन्दा पानी और खाने के नाम पर कंकड़ भरा भात। गंदा भात थूकने पर और प्यास से छटपटाने पर जापानियों का क्रूर अट्टहास उन्हें रुलाने के लिए काफी था। यही वह जीवन है जिसे नायक ने जीया और जिसे आज विश्व के सभी युद्धबंदी जी रहे हैं। युद्ध-लोलुप साम्राज्य और उनके सामने मानव मूल्य-का विघटन भली प्रकार हर देश में देखा जा सकता हैं। एक ऐसी जिन्दगी जिसको जिन के लिए आज का हर सैनिक अभिशप्त है। जहां अपने साथियों की मौत पर खुशी इस लिए होती है उन्हें पांव फैलाने के लिए अधिक स्थान मिलेगा। एक ऐसा सम्मोहन है जहां इन्सान की दिमागी हरकतें अपना काम बन्द कर देती हैं। जहां दिमागी ताकत का (नाश) वाश कर दूसरी तरह से सोचने पर मजबूर कर दिया जाता है। उस नाटकीय जीवन का नायक के शब्दों से सही अन्दाज लगाया जा सकता है—कैदियों से भरा डैक जहां पैर फैलाने को जगह नहीं। हम में से जो जहाज में मरता था वह समुद्र में फेंक दिया जाता था. जो जमीन परं मरता था वह मिट्टी में दबा दिया जाता था।

उस असह्य गर्मी में प्यास से हम तड़पते थे। एक मग पानी ! क्या होता था उससे। हम एक दूसरे के पसीने को चाटते थे। और वह समुद्र खारा होता, जिससे गला और सूखने लगता। लेकिन फिर हम लोग किसी न किसी तरह सहार लेते। हम हिलते नहीं, डुलते नहीं, हम बोलते नहीं, हम न गम करते, न शक्ति का क्षय करते। जीवित रहने के लिए नये सत्य ने बताया कि जो लड़ते थे, चिल्लाते थे, वे पहले मर गए थे, वे समुद्र के जन्तुओं का आहार बन गए थे। तब हमें चुप बैठना था। हम उन कीड़ों को जो हमारे खाने में जाते थे, जो चूहों की पकी खाल आती थी, उस सब को बिना विद्रोह के खाने लगे।[1] यही नहीं कैदियों के समूह में किसी के मरने पर दूसरे कैदी करवट बदलने की खुशी में सब कुछ भूल जाते। पानी के न मिलने पर पेशाब[2] पीने की राय देते। उन्होंने स्वयं को पूर्ण रूप से दूसरों के सहारे छोड़ दिया था।

---

1 बन्दुक और वीन—रागेय राघव—पृ० 139-40
2. वही, वही, पृ० 175

वस्तुतः पूर्ण रूप से जड़ता में भी जीवित रहने की अदम्य लालसा को देखा जा सकता है। इसी भावना से प्रेरित नायक को हम समुद्र में कूद कर जापानियों से बचने का निष्फल प्रयत्न करते हुए भी देखते हैं। दूसरे जापानी जहाज द्वारा पकड़े जाने पर जहाँ जूतों की मार और भूख उसका इन्तजार कर रही होती है।

यों गिद्धनुमा यह साम्राज्यवादी मानव युद्ध का अलम्बरदार तब तक जिन्दा रहेगा जब तक दुनिया से आदमी अपनी युग सीमा में जन्मे किसी विशेष विचार से असहिष्णुता से पकड़ कर दूसरे आदमियों को गाली देगा तब तक वह कला और विज्ञान की हठ्डियों की जूठन फैंकता रहेगा। मानव नियति की अभिशप्तता के सिवाये इसे और क्या कहा जा सकता है ?

नायक इस उपन्यास में साधारण मानव की तरह ही है जो गम से घबराता है, चिल्लाता है, खुशी में हंसता भी है और हंसाता भी है। मरने से डरता है, डर से बन्दी बनता है और बन्दी बन्धन से छुटकारे के लिए भागता भी है। लेकिन अन्त तक उसमें जीवित रहने की आशा टूट-टूट कर फिर बनती हुई भी देखी जा सकती है।

हिरोशिमा पर गिराये ऐटम बम को नायक जापानियों के अत्याचारों के बदले के रूप में आंकता है। भावुकता में मानव को शाँति का पाठ भी पढ़ाता है। नायक का इस प्रकार उपदेश देना सच ही लगता है और लेखकीय अभिव्यक्ति का आरोपण भी। अन्त में उसका शादी से सहमत होकर पत्र लिखना लेखकीय बलात्कार नहीं तो क्या है जब वह लिखता है, मैं शादी कर लूंगा क्यों कि जिन्दगी बहुत बड़ी चीज़ है—उसका आधार प्रेम है—। यहां प्रेम और शांति केवल हवाई बातें बन कर रह जाती हैं। जब तक विश्व में उद्जन बम हैं युद्ध अवश्य होगा। बम जरूर फटेंगे। विज्ञान की तरक्की के नाम पर वह न तो उद्जन बमों को समुद्र में डुबोयेगा न ही उसके विस्फोट करने ही छोड़ेगा। नायक की बातें फौजी होकर भी पैगम्बरों वाली लगती हैं। वह हर इंसान को तरक्की, अमन और खुशहाली की तरफ जुटा देखना चाहता है। वह सारे विश्व में एक ही सरकार बनने के सपने देखता है जो मात्र आज के परिप्रेक्ष्य मे यूटोपिया बन कर रह जाते हैं केवल काल्पनिक या बौद्धिक तुष्टि के लिए।

मनुष्य को तो जीना है, परन्तु बुद्ध बन कर नहीं, मनुष्य बन कर ही। हिरोशीमा की बरबादी उसकी घृणा को छीन लेती है। यहां स्पष्ट रूप से बदले

भावना की तृप्ति है जो कहीं अन्दर से उसे सालती रही थी। जब बदले की भावना से नायक स्वयं पीड़ित रहा है, तो वह विश्व में नफरत, सामाज्य की लालसा, रंग भेद की भावना को क्यों भूलकर लेखक के निर्णय पर शांति द्वारा युद्ध के अन्त का उसका यह फैसला सतही फैसला है जिसे भ्रामक ही कहा जा सकता है।

ऐसे सन्देश तो प्रथम महायुद्ध के बाद भी दिये गए थे लेकिन फिर भी हम दूसरे महायुद्ध के बाद विशाल नर संहार, बरबादी स्त्रियों से बलात्कार कीं घटनाएं देखते हैं। यही नहीं जहां लाशें हैं, गिद्ध हैं और वेश्याएं हैं। वहां एक लम्बी कतार हरामी बच्चों की भी है जो पंगु मानव के साथ खड़ी है और आने वाले युद्ध में हथियार उठाने के लिए जिसके हाथ आज भी खुजला रहे हैं। क्या इन हरामी बच्चों को विश्वशांति और आदर्श की घुट्टी पिलाई जा सकती है? यह भड़केंगे और शोलों के रूप में तीसरे महायुद्ध की नींव डालेंगे।

भारत-पाक युद्ध का स्पष्ट उदाहरण दिया जा सकता है। इतने शांति के सन्देशों के पश्चात् भी घुसपैठिये भारत में घुस आते हैं। उनके अत्याचार उस दूसरे महायुद्ध के अत्याचारें की याद दिला जाते हैं। तब मानव प्रेम और विश्व की एक सरकार की बात हवा में लड़खड़ाती लगती है। जब तक संगीने और उदजन बम है तब तक शून्य में बेमानी शांति बार-बार चक्कर खाता फिरेगी और सब देश के देश झुलसे जाते रहेंगे। हजारों लाखों इन्सानें की चिल्लाहट कर्मीज, जापानी, रुसी, इतालवी, अंग्रेज, अफ्रीकी, अमरीकी, एस्कीमो, भारतीय चीनी, और न जाने कहां-कहाँ के लोगों को युद्ध का शिकार हुए देखा जा सकता है। मायें बच्चों को फेंककर पुकारेंगी—रोटी दो—तब हमें खेतों और खलिहानों से आग की लपटें दिखाई देंगी—नंगी औरतें कटी छातियों से खून सरकाती रोती रहेंगी—कपड़ा दो—तुम्हारी मां नंगी है, तुम्हारी बहन नंगी है—और हम देखते रह जायेंगे कारखानों की ईटों को बिखरते हुए, भीड़ के शोर को भयानक हाहाकार करते हुए और विशाल राक्षस को नरकपाल में रक्त पीते हुए, अट्टाहस करते हुए।[1] वस्तुतः युद्ध और युद्ध के पश्चात् जो बचा रहता है, वह यही घिघोनापन और कोढ़ है जो हर देश हर जाति के मुंह पर छू कर ही नहीं बल्कि दूरी से भी बखूबी पढ़ा और देखा जा सकता है।

---

1. बन्दूक और बोन—रांगेय राघव, पृ० 141

युद्ध की इस विभीषिका का अन्त शांति, प्रेम और शादी द्वारा सोच कर नायक अपने काम की इतिश्री समझ लेता है, जबकि उसका स्वरूप आरोपित और अवरुद्ध हो जाता है। प्रेम और शांति केवल ओढ़े हुए शब्द हैं जो केवल धार्मिक उत्सवों और अवसरों तक ही सीमित रह गए हैं। शादी सेक्स भी हो सकती है और तृप्ति का शुगल भी हो सकती है और एक आवश्यक प्राकृतिक मांग भी। हां जीवन जीना अपने आप में विश्वास और चुनाव करने का प्रयत्न है जो मानव के अस्तित्व को कायम रखता है। पर वास्तव में मानव शतरंज का प्यादा है जो कहीं भी मात खा सकता है।

'न आने वाला कल' : मोहन राकेश (१९६८)

इस उपन्यास का नायक मनोज सक्सेना बर्टन स्कूल में हिन्दी के मास्टर पद पर आसीन है। दूरस्थ पहाड़ी इलाका और चैपल की घन्टियाँ, ईसाई स्कूल उस वातावरण को और भी एकाकी कर जाते हैं। स्कूली राजनीति के नीरस वातावरण में हम उसे अकेला होता देखते हैं। वह बार-बार शून्य में प्रश्न फैंकता है 'अब' .—पर इससे कुछ नही हो पाता, उस खालीपन का जो बुरी तरह नायक को घेरे हुए हैं। हाँ उसकी सोच में उलझे हुए धागे में एक गाँठ और पड़ जाती सात दस। अब ? सात पच्चीस अब ? सात सैंतालीस। अब ? सात अट्ठावन। अब ? जैसे कि नींद लाने के लिए एक गिनती गिनी जा रही हो।[1] मानवीय सम्बन्धों और स्थितियों के बीच मध्यवर्गीय मनुष्य की तनावपूर्ण स्थिति ही इस उपन्यास का उद्देश्य है। जीवन के इसी खुरदरेपन में घिसटते हुए नायक को देखा जा सकता है।

त्यागपत्र को लेकर ही सारी स्थिति पैदा होती है, उस परिवेश में जहां उसे मजबूरन त्याग पत्र देना पड़ता है। यह मजबूरी किसी और की न हो कर उसकी अपनी ही हो सकती है। अपनी पैंतीस वर्ष की उम्र में विधवा शोभा से पहले वह कहता है, 'मैं इतनी उम्र तक अकेला रह कर अपने को बहुत थका हुआ महसूस करने लगा हूं।[2] आदमी अपने मन-बहलाव के लिए चाहे जितने

---

1. न आने वाला कलः मोहन राकेश, पृ० 12
2. वही, वही, पृ० 16

उपाय कर ले, पर रात-दिन का अकेलापन उसे तोड़कर रख देता है।[1] परन्तु शादी के जल्द बाद ही घर उसे पहले जैसा मकबरा लगने लगता है। दोनों अपना अलग-अलग अस्तित्व लिए अपने अहं में जीने की कोशिश करते हैं। कुछ उन दोनों के सम्बन्धों में था जिससे नायक छुटकारा चाहता था। उस कुछ का दबाव हम शोभा के आने से पहले भी, शोभा के साथ रहते हुए भी और उस क्षण में जीते हुए भी उसमें पाते हैं। उस तनाव की स्थिति में मात्र सामाजिक सम्बन्ध की कटुता ढोने को उनके पास कुछ न था। नायक के शब्दों में, 'साथ रहने के कुछ महीनों में हमें एक दूसरे की इतनी आदत हो गई थी कि हमने एक दूसरे के मामले में दखल देना छोड़ दिया था। मुझे मन में जितना गुस्सा आता था, बाहर मैं उतने ही कोमल ढंग से बात करता था। वह भी ऐसा ही करती थी। एक दूसरे की बढ़ती पहचान हमारे अन्दर एक औपचारिकता में ढलती गई थी। यह जान लेने के बाद कि न तो हम अपनी-अपनी हदें तोड़ सकते हैं और न ही एक दूसरे की हदबन्दी को पार कर सकते हैं, हमने एक युद्ध विराम में जीना शुरू कर दिया था। उस युद्ध विराम की दोनों की अपनी-अपनी शर्तें थीं—अपने-अपने तक सीमित। दोनों को एक दूसरे से आशा नहीं थी इस लिए हद बन्दी टूटने की नौबत बहुत कम आती। परन्तु बहुत जल्द ही उन दोनों को अपने निजी सम्बन्ध करीब-करीब चुक गये लगने लगते हैं। एक ऐसी स्थिति जहाँ साथ-साथ रहने की और सामाजिक सम्बन्ध ढोने की भी कतई आवश्यकता नहीं रहती। वस्तुतः दोनों ने ही पूर्ण स्त्री तथा पूर्ण पुरुष की कामना की थी, जबकि दोनों ही अधूरे निकले। अधूरे रहते हुए भी अपना जीवन जीते रहने की चाह उनमें स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हे। परिणाम विवाह के पश्चात् ही प्रेम-घृणा सम्बन्ध में घृणा ही रह जाती है और शोभा तथा मनोज सैक्ससेना को हम क्रमशः घुटते और टूटते हुए अन्त में बिखरते हुए देखते हैं— अलगाव के दो ध्रुवों में।

परन्तु विडम्बना तो यह है कि अलम के पश्चात् भी नायक लगातार शोभा के पत्रों की इन्तजार करता हैं। शोभा द्वारा छोड़कर चले जाने पर वह अपना अकेला पन उसके पत्रों की इन्तजार में काटने लगता है। इन्तजार के पश्चात भी पत्र न पाने पर स्वयं कोई निर्णय न ले सकने के कारण वह भीतर से टूट जाता है। वस्तुतः वह इस उलझन का हल स्वयं न खोज कर अन्तिम निर्णय-शोभा

---

1. न आने वाला कल, मोहन राकेश पृ. 16

द्वारा ही चाहता है। इस बात का प्रमाण वह खुद है जब वह कहता है, 'मैंने किसी को एक पंक्ति नहीं लिखी थी, शोभा के पत्र का उत्तर भी नहीं दिया था, फिर भी हर रोज़ जरा सा समय मिलते ही कामन रूम की डयोढ़ी में अपने पिजन-होल पर एक नज़र डाल आता था। पता यूं पहले से भी होता था कि पिजन होल खाली होगा, फिर भी उसे खाली देखने तक मन में एक वयस्तता का अनुभव कर लेता था। इस तरह सुवह का खाली पन दोपहर की प्रतीक्षा में कट जाता था। दोपहर का अगली दिन की प्रतीक्षा में। जैसा कि किसी दिन पिजन-होल के अन्दर कुछ ऐसा रखा मिल जाना हो, जिससे अन्दर की उलझन का उपाय हो सकता हो।' अतः हम देखते हैं कि अगला कदम शोभा के पत्र द्वारा ही उठाना चाहता है। क्योंकि अपनी तरफ से वह स्वयं कुछ भी न कर सकने की स्थिति में है।

इन्हीं परिस्थितियों में वह चपरासी फकीरे की बीबी काशनी और स्कूल टीचर बानिहाल की ओर आकर्षित होता है। जब काशनी उसे नपुंसक समझ कर तीखे व्यंग्य से छील कर रख देती है तब कुछ समय के लिए उसका सोया पौरुष जागता अवश्य है। परन्तु अपने स्वभाव के अनुसार वह क्षणिक ही होकर रह जाता है। अपने अन्दर की सारी रुकावटों को तोड़ने की तैयारी करने के पश्चात भी वह उन सब से घिरे हुए उन्हीं में सीमिट कर रह जाता है। काशनी से ठीक वक्त पर भी उसका कुछ न करना उसके उसी बिन्दु के ठहराव को दर्शाता है जिस बिन्दु से शोभा ने उनसे अलग रहने का निर्णय लिया था। वही बिन्दु था जहां बानिहाल के पास आकर वह ठहर गया था। बानिहाल की चुनौति से पहले बंशक वह कुछ करने की मुद्रा में अवश्य होता है, परन्तु चुनौती के पश्चात् बानिहाल के बार-बार अनुरोध पर भी, वह अन्त तक अस्वीकार की मुद्रा में ही रहता है। शोभा द्वारा प्रवंचित नायक की हर वस्तु में इसकी छाया देखता है। वह बानिहाल को उन सब वस्तुओं में नहीं लाना चाहता जिन पर पहले से किसी का स्पर्श रहा हो। यह बिन्दु उसकी हार का बिन्दु है। तनाव की स्थिति में टूटे हुए मनुष्य से सम्भावना भी क्या की जा सकती है जहाँ वह स्वयं को कुछ भी करने में असमर्थ और बेमजा पाता हो।

इस वस्तु स्थिति से हल ढूंढने का प्रयत्न वह छोड़ नहीं देता। वह कहता है,'—जो भी वस्तु स्थिति थी, उसके बीच से ही तो हल ढूंढना था। आगे की जिन्दगी में एक की जगह दो गाँठे कस गई थीं, तो दोनों को ही तो एक-एक

करके खोलना था ।[1]

उस दमघोटू प्रवेश में हरदम स्वयं को फालतू समझने वाले नायक को स्कूली वातावरण मिश्नरी अनुशासन और धार्मिक प्रवचनों से ऊबकाई आने लगती है। स्कूल में देरी से पहुंचने पर भी वह हैडमास्टर की कोई बात सुनना नहीं चाहता उसके झाड़ने पर स्पष्ट शब्दों में कहता है—'मेरा मतलब है कि आपको किसी से भी इस तरह बात करने का हक नहीं है—।[2] आत्महत्या के तनाव की चरम सीमा पर हम उसे चाकू द्वारा तोड़ फोड़ करने पर भी तैयार देखते हैं। इसी तनाव की स्थिति में पत्नी को पत्र का उत्तर लिखने के स्थान पर वह स्कूल से त्याग पत्र लिख देता है। एक ढीला.ढाला चुप रहने वाला आदमी अपना जीवन जीता हुआ, वह बहुत बरदाश्त न करने की स्थिति में दिखाई देता है। अपने क्षण में किथे गये निर्णय को वापिस लेना उसके लिए असह्य है। वह निर्णय जो न आने वाले कल के लिए है उसे किस प्रकार टाल सकता है।

दो चीजें उसके सामने थीं। स्कूल के जाने पर हिन्दी मास्टर के रूप में जिन्दगी उसकी अपनी जिन्दगी नहीं थी। इसे लेकर भी उसे कुछ करना था और शोभा के पति के रूप में भी जिन्दगी उसकी अपनी नही थी इसे लेकर भी उसे कुछ करना था ।[3] इस कुछ में उसे इस बात की खुशी है कि कल वह यहां इस दम घोटु, एकाकी, नीरस वातावरण में न होगा। एक मुक्ति भरपूर मुक्ति स्वतंत्रता की बात से जहाँ वह प्रसन्न है वहां बिछुड़ने का थोड़ा संशय भी उसे सालता हैं। परन्तु यह संशय क्षणिक है जो बस चलने के साथ ही पीछे छूट जाने वाला है।

अन्त में बस का टिकट लेकर भी वह दुविधा में रहता है कि वह पत्नी के पास जाए या नहीं। उसकी यह विरोघाभास की स्थिति ही उसकी नियति की अभिशप्तता है जो उसे न जाने कहाँ ले जाने वाली है। स्पष्ट रूप में कहें तो उसकी नियति एक भटकाव से दूसरे भटकाव की ओर है, जहां अनिश्चितता और अनिर्णय की स्थितियां हैं।

---

1. न आने वाला कल, मोहन राकेश, पृ० 69 29
2. वही, पृ० 69
3. वही, पृ० पृ 30

इस प्रकार तनाव की स्थिति में, कहीं भी स्वयं को फिट न पाना मध्य-वर्गीय मनुष्य की नियति को इंगित करता है। अपनी अधकचरी आकांक्षाएं लेकर वह दर दर भटकता रहा। घर, समाज, नौकरी यहां तक कि पत्नी के होते हुए भी वह स्वयं को अकेला ही पाता है। इसे स्थितियों और दाम्पत्य जीवन के तनाव पूर्ण सम्बन्धों की कहानी भी कहा जा सकता है, जहां आज का मध्यवर्गीय मनुष्य स्वयं को मिसफिट पा रहा है।

"चलता हुआ लावा" : रमेश बक्षी (१९६८)

रमेश बक्षी का यह उपन्यास जीवन की उस विसंगति की ओर इंगित करता है जिस का शिकार आज का मुख्यतः मध्यवर्गीय या नम्न मध्यवर्गीय इन्सान है। एक ऐसा कड़ुवाहट भरा परिवेश जहां आत्महत्या के प्रयत्न होते हैं जहां जीवित व्यक्ति स्वयं को मरा हुआ महसूस करता हैं। दूसरे लोगों के लिए वह महज एक मिट्टी का लोथड़ा मात्र है। इतना होने पर यदि उसे अपने आगे पीछे लाशों की कतारें दिखाई देती हों, और उन लाशों की कतारों में जीवित चिता पर जलने के लिए उसके खुद के अहसास में कोई आश्चर्य की बात नहीं रह जाती। मुक्ति चाहने पर भी उसे मुक्ति नहीं मिल पाती, जहां मुक्ति के अर्थ और शब्द बेमानी हो जाते हैं वहीं नियति के रेशम धागों कीं गाठें उसे इस कदर अपनी लपेट में ले लेती हैं कि हर प्रकार के संघर्ष से वह या तो पलायन करता है या संघर्षरत हो कर खण्डित हो जाता है।

पारिवारिक और दूसरे अन्य प्रकार के सम्बन्धों में मात्र बड़ी सी दरार पड़ जाने के पश्चात। जहां सम्बन्ध हर क्षण, हर दिन बदलते और टूटते रहे हों और जहां महीनों और सालों का इन्तजार न किया जा सकता हो, वहां इन्सान टूट कर बिखरेगा ही।

तनाव की इन परिस्थितियों में नायक कर्लक का जीवन जीता हुआ हर क्षण स्वयं को खोखली हंसी के साथ मुखौटा डाले महसूस करता है। उसने सताइस साल की उम्र में इतने सदमें झेलें हैं कि हर सदमें ने उसे काटा है, हर बात उस पर तेज़ धार के चाकू की तरह आकर गिरी है। यहां तक कि उसका एक-एक टुकड़ा कट-कट कर गिरता रहा है इस कटाव में उसके सम्पूर्ण सताइस

सालों की बेमानी जिन्दगी है ।[1]

नायक को मस्तिष्क की विक्षिप्तावस्था में मृत घोषित करने के पश्चात् भी हम उसे मस्तिष्क के द्वारा ही अपने अपने अतीत के बारे में सोचता हुआ पाते हैं । फंतासी की इस कूक्रता ने लेखकीय अभिव्यक्ति को शक्ति प्रदान की है। नायक अपने जीवन की भयावह अनुभव और विसंगितयों के बीच से गुजरता हुआ अपने अतीत के प्रति बेहद आत्मीय हो कर रह जाता है ।[2]

जिस प्रकार की जिन्दगी वह ढ़ोता है, ऊपरी मुस्कराहट और लतीफों में उसकी विसंगति को घोल कर पीने का प्रयत्न भी करता हैं । शराब में धुत रह कर अपने शरीर के अन्दरुनी अंगों को गंवा कर भी उसे लगता है अब न तो उस पर शराब का नशा होता है और न ही पत्नी का । पत्नी और घर उसके लिए बेमानी हो चुके हैं । सारे उपन्यास में दाम्पत्य जीवन और पारस्परिक तनावों के बीच जिन्दगी से वह समझौता नहीं कर पाता । उसे बार-बार यह लगता है कि या तो उसे स्वयं को या उसकी पत्नी को नहीं होना चाहिए । और इस न होने में उसका व्यक्तिगत जवान और छोटी सी लड़की छुटको से प्रभावित हो जाता है । इस आकर्षण की परिणति होती है उन दोनों के शारीरिक सम्बन्धों में । परन्तु एक बात निश्चित है कि इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में वह आत्महत्या के बारे में सौचन से पूर्णतयः मुक्त भी नहीं हो पाता, उसे टालता भर अवश्य है ।

प्रारम्भ से अन्त तक उसे अकेलापन और ऊब सालती रहती है । पत्नी के होते हुए भी वह स्वयं को विधुर समझता है । अपने अन्दर निरन्तर सुलगते रहत हुए लावे को रोक पाना उसके लिए असम्भव और एक आश्चर्य लगता है। उसे लगता है यदि वह अपने बन्धनों से खुद मुक्ति नहीं पा सकता तो दूसरा भी कोई ऐसा नहीं जो उसे उन बन्धनों से मुक्ति दिलवा सके । जीवन की उन भूलो, विसंगतियों और दुःखों से छुटकारे के लिए उसे लगता है कि कोई भी इन्सान चाहते हुए भी स्वतंत्र नहीं । हर कोई कहीं न कहीं अन्दर से टूटकर बिखर चुका हैं या उसने दिमागी मौत ले ली है । यदि उसके साथ ऐसा नहीं होता तो उसे जान बूझ कर जबरदस्ती मौत दे दी जाती है ।

---

1. चलता हुआलावा—रमेश बक्षी, पृ० 41
2. धर्म''युगः गंगाप्रसाद विमल, 14 सितम्बर, 1969, पृ० 22

उसे दुनियां वालों पर हंसी भी आती है रोष भी होता है। उसे लगता है दुनियां वाले उसे आज मरा हुआ घोषित कर-रहें हैं जबकि एक मुद्दत पहले वह स्वयं को मरा हुआ महसूस करता है। उसका यह मरन बहुत पहले प्रारम्भ हो चुका था जिसे वह भली भांति समझता भी है और जानता भी है। पत्नी के साथ दो कदम आगे बढ़ने पर ही उसका घबराना, शादी के पहले कभी भी पत्नी के होने पर उसके शरीर में डूबे रहने की बात तक न सोचना, उद्दीपन जैसा होने पर दिमाग पर तनाव तक का न आना, जवान होने तक की वैसी स्थिति में किसी लड़की का चेहरा तक सामने न आना उसकी उस पूर्व मरनासन अवस्था के प्रमाण रहे हैं। और जब शरीर का एक उपयोगी हिस्सा उसकी नसों में शराब घोल देता तब जैसे उसे उससे अधिक कुछ चाहिए भी नही ही होता।

निपट अकेला होने की स्थिति में उसे अपनी नियति किसी दोस्त के साथ फिल्म देखने में, काफी हाउस में लतीफे सुनाने में, शहर के किसी भीड़ भाड़ वाले टुकड़े में से गुजर जाने में, मजमा लगाने वालों के भाषण सुनने पर रीछ-बन्दर के तमाशा देखने तक ही सीमित लगती है। पत्नी को वह मात्र अपने साथ शेयर करने वाली चीज़ समझता है। दूसरे शब्दों में जैसा वह है वैसे ही उसका होना भी लाजमी है। परन्तु जब ऐसा बार-बार प्रयत्न करने के पश्चात् भी मुमकिन नहीं हो पाता, जब पत्नी उसे हर मामले में हर बार नामर्द तक साबित कर डालती है, तब वह महसूसता है जैसा बरसों पहले भी वह एक जिंदा लाश थी।

इस प्रकार से वह अपनी लाश ढोते हुए एक शहर से दूसरे शहर तक अनवरत भागता ही रहता है। उसे लगता है बम्बई, दिल्ली, जयपुर, नैनीताल, कलकत्ता, बनारस, मध्यप्रदेश, इन्दौर, भोपाल जैसे शहरों की गन्दगी, उन शहरों का वजन उसके कंधों पर बेमानी है। उन सभी जगहों का अजनबीपन और उन तमाम शहरों की यात्रा का अंत केवड़तल्ला[1] ही है। श्मशान घाट में मुर्दों को मात्र चार इन्सान छोटा सा रास्ता तय करके ही नहीं लाते, बल्कि हकीकत यह होती है कि वह मुर्दा एक लम्बा, बहुत लम्बा रास्ता तय करके आया होता है। यही नहीं उसने यह लम्बा रास्ता बरसों पहले तय कर लिया होता है। शादी के लिए चाहे चमकदार कपड़े पहन कर निकलो, सारा सामान ढोकर चाहे शहर

1. कलकत्ता का पवित्र श्मशानघाट

बदलो या शहर में से खाली जेब गुजरो —वह सब लम्बाई केवड़तल्ला घाट तक ही जाकर खत्म होती है।

कहीं कोई आदर्श भी नपी-तुली दीवार नहीं, कही झूट-फरेब का ढ़ोंग नही, अपने जीवन का साफ चिट्ठा एक एक पहलू बुरी से बुरी हरकतें अपनी ड़ीगे, अपना स्वार्थ, अपनी धूर्तता या कोई या अपनी बेबबसी, अपना अकेलापन, अपना टूटन और एकाकीपन वताते हुए उसे किंचित ग्लानि, शरम या झिझक नहीं। जैसा जीवन वह जी रहा है उसे बताने में कैसा संकोच, कैसी शर्म चाहे शादी से पहले सीलन भरे कमरे में लालटेन की रोशनी में शैक्सपीयर पढ़ना हो या कालेज के प्रिंसिपल के सामने सिग्रेट पीकर बोल्ड कहलानें की बात, या प्रफरीडरी के पैसों से दोस्तों को रिश्वत खिलाकर अपनी झूठी शान वाली बातों को रोब झाड़ने का प्रसंग वह सब जगह साफगोई से काम लेता है।

नायक 'मैं' हर जगह अपने परिवेश से त्रस्त, अपने को एक दम फालतू इन्सानों की श्रेणी का मुखिया तक समझता रहता है। दाम्पत्य जीवन के कड़ुवाहट भरे क्षणों के पश्चात हम उसे दुहरी जिन्दगी जीते हुए देखते हैं। इस दुहरी जिन्दगी में अपना शरीर न छूने देने की जहाँ उसकी पत्नी की शपथ है, वहीं छुटकी के युवा शरीर का आकर्षण भी कम नहीं। उसका दुहरापन उस पर इस कदर हावी हो जाता है कि उसके उठने बैठने के साथ साये की भांति उसके साथ चिपका भी रहता है। इसका परिणाम उसका उदास होने पर लतीफे सुनाने में, सिक करने पर शराब ले बैठने में और सरासर रोने की तबीयत होने पर जबरदस्ती हंसने के विभिन्न आयामों में देखा जा सकता है।

इस स्थिति से उद्धार उसका छुटकी से दोस्ती द्वारा होता लगता है। पारिवारिक खिचाव कुछ देर के लिए दूसरी तरफ अवश्य मुड़ता है। छुटकी से पहचान के बाद, उसके घर में उसकी एक अलग, तस्वीर का ही दर्शन होते हैं, वह तनाव की स्थितियों को तीव्र करती हुई लगती है। पारिवारिक मामलों में घर से वह पूर्णतयः विरक्त सा रहने लगता है। वह चुपचाप खाना खा लेने और चुपचाप सो जाने तक सीमित रहने लगता है। कोई कुछ बोलता तो व्यवहार ऐसा करता है जैसे पीकर आ रहा है। उस बदली जिन्दगी के बारे में वह

स्पष्टतय: कहता भी है—"तब मेरा एक कटा हुआ टुकड़ा हमेशा गुड्डम (छुटकी) के साथ होता और मुझे लगता कि मेरे जिन्दा रहने के सारे तत्व उस हरारत वाले टुकड़े में ही केन्द्रित हो गए हैं—।"[1]

छुटकी में उसका केन्द्रित हो जाना उसके लिए बेमानी साबित होता हुआ उसकी नाटकीयता को दर्शाता है। पत्नी पलायन कर वह जहां भागता है वहाँ बार-बार प्रयत्न के पश्चात् भी आत्महत्या नहीं कर पाता। इसका कारण उसका प्रारम्भ से ही अधूरापन भी हो सकता और निर्णयों का अस्थायीपन भी। इसी कारण वे हर क्षेत्र में न तो संघर्षरत ही हो पाता है और न मर ही सकता है। छुटकी उसके निर्णय को बेमानी और उसके जीवन को नाटकीय घोषित करती हुई अपने एकपत्र में उसे लिखती है—'मैं तो यह भी कहूंगी कि पत्नी के होते जो भागे उसमें कहीं अपराध तो है ही तुम्हारा ? एक अपराध तुम करते हो विलम्बका। जब जिन्दगी नहीं रही थी तो रुकते किस लिए थे तुम ? शायद यूं ही, लेकिन यह छोटी बात नहीं है –तुम जब खुश दिखे हो मुझे नाटकीय लगे हो।[2] यही साथ ही वह उसके व्यक्तित्व के दूसरे पहलू को भी दर्शाती हुई लिखती है—तुम्हारा उदास चेहरा सही होता है, उस पर मेकअप नहीं होता। कई बार मुझे यहाँ तक लगा कि कहीं मुस्कराते समय तुम्हारे चेहरे पर से मुस्कान नीचे नहीं गिर जाये, वैसे ही जैसे नकली मूछ नीचे गिर सकती है।[3]

महानगरी समस्याओं में जुड़ी हुई 'मैं' की यह कहानी निश्चित रूप से केवडातल्ला में जाकर समाप्त नहीं होती जहाँ कि 'मैं' के अनुसार होनी चाहिए थी। शायद इस लिए कि वह वास्तव में मृत न होकर मानसिक विक्षिप्ता अवस्था में मृत घोषित किया जाता है या उसका मरना किसी कारण से न होकर के निश्चय रूप में मन से पहले ही पक्का हो जाता है। हो सकता है मृत घोषित करने के पश्चात् किसी भी एक बिन्दु पर वह स्वयं को खत्म समझ कर अपनी मौत मान लेता है।

अपनी इस तथाकथित मौत से पहले भी और बाद भी वह हरदम मुस्कराता ही मिला है। अर्थी उठाने वालों में से एक उसे मुस्कराता देख कहता

1. चलता हुआ लावा—रमेश बक्षी, पृ० 60
2. वही, पृ० 64
3. चलता हुआ लावा-रमेश बक्षी, पृ 64

है—'यह साला जिन्दगी भर यही करता रहा, कौन जाने ऊपर दिखती इस हवेली के नीचे एक अन्धा तल घर ही हो। ऊपर से मुस्करा रहे हैं और अन्दर लांवा सुलग रहा है। अगर मुस्कान तोड़कर अन्दर की आग जरा भी बाहर आती तो यह उस पर लतीफे फैंक देता कि आग वहीं की वहीं बैठ जाती। इसकी सारी शक्ति उस तलघर का मुंह बन्द करने में लगी रही। वस्तुतः वह निश्चित रूप से उस तलघर का मुंह बन्द करने में निरन्तर प्रयत्नशील रहा सारा जीवन उसके अन्दर लावा सुलगता रहा। परन्तु अन्त में श्मशान घाट से भागने की बात, जीवन के संघर्ष से सम्पूर्ण मुक्ति की बात—कि कितनी भाग दौड़ के बाद मुझे मुक्ति मिली है—कि मेरे आगे अब किसी तलघर का कोई दरवाजा नहीं जिसे नीचे की तरफ खुलना है या ऊपर की तरफ बन्द होना है। और तो और यह भी नहीं जानता कि मैं चलता ही रहूंगा या चलते-चलते जम जाऊंगा—, या एक नए जन्म की बात कहना यथार्थ के विभिन्न आयामों (डामेंशंस) 'में' चलता हुआ लावा' को जाने से जहाँ रोकता है वहीं नायक के स्वरूप को अस्थिरता की ओर ले जाने की एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा भी करता है। अतः नायक के स्वरूप में दरारें पड़ते ही वह ऊपर से चिपकाया गया या आरोपित होकर रह जाता है।

अतीत के प्रति इतना मोह रखने वाला नायक किस प्रकार या कितने अंशों तक नए जन्म की बात सोचकर उस अतीत से छुटकारा पा सकता हैं यह कहना नमुमकिन है। अतीत से इस कदर चिपका हुआ मैं इस प्रकार की कल्पना करता है या घोषणा करता है तब लगता है वह कल्पनाएं वह घोषणाएं मात्र भ्रामिक हैं और भ्रमजाल में उलझ कर वह सतही और खोखली होकर रह गयी हैं।

अन्त में पुर्नजन्म की बात कहना या उसी शहर से पलायन कर उसी शहर को नई नजर देखना या महसूसना अपने आप में अधूरेपन और मानसिक विक्षिप्तता को दर्शाता है जिस विक्षिप्तता के कारण उसे मृत घोषित किया गया है। इन्सान का इस प्रकार के दिवास्वप्नों में डूबे रहना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक रोग की निशानी है जो मनुष्य को स्वनों नार्मल' नहीं होने देती। मनुष्य का इस प्रकार भटकना और अपने ही बनाये भ्रमजाल में खुद ही फंसना इन्सान की उस नियति की ओर इंगित है जिसके लिए वह अभिशप्त है।

'दूसरी बार' : श्री कान्त वर्मा

श्रीकान्त वर्मा का उपन्यास दूसरी बार (1969) स्त्री पुरुष सम्बन्धों के संसार में अनुसन्धान कहा जा सकता है, जिसकी कहानी स्त्री (बिन्दो) की दोबारा उपस्थिति से शुरू होता है। इस उपन्यास का नायक 'मैं' परम्परागत नायक की धारणा से भिन्न और निपट अकेला है। अकेलेपन में भटकने के सिवाय उसके पास कुछ नहीं। बिंदो के पुनः वापिस आने के पहले वह इतना रोता नहीं था जितना उसके आने के पश्चात् महसूसता है। बिंदो के शरीर की जरूरत, गर्म शरीर की जरूरत उसे अन्तिम क्षणों तक रही है जिसे वह झुठलाता नहीं। अवचेतन में अपनी इस आदिम पिपासा को लिए ऊपर से वह बिन्दो से मुहोंमुंह होने की स्थिति में अपनी बेइज्जती का बदला भी लेता है। उसका यह बदला उसे सैडिस्ट भी बनाता है और धुरीहीन क्षणवादी भी। उपन्यास में यदि शरीर की चर्चा अधिक है तो वह लेखक की आत्मस्वीकृति से स्पष्ट हो जाती है—"बदन की आँच से कोई नहीं बच सकता। मगर यह बदन की आँच नहीं थी। अगर होती तब मामला आसान था। यह एक अनोखी घुटन थी—सारे घर में धुंआ और बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं।[1] वस्तुतः यह नैतिक या अनैतिक कुछ भी नहीं। गंगा प्रसाद विमल की यह बात यहां सच्चाई के एक आयाम के पास लगती है जब वह कहते हैं—'इस उपन्यास का कोई दृश्य सामाजिक परिप्रेक्ष्य नहीं है, किन्तु वह ऐक्सीडेन्टल म्यूजिक' के बहुत करीब है, जिसमें आकस्मिकता' ही अस्मिता की पहचान सबसे बड़ा प्रमाण है, जिसे सामाजिक परिवेश और सच्चाई के अनेक स्तरों का पुष्ट आधार प्राप्त है। 'दूसरी बार' एब्सर्ड' का उपन्यास नहीं है, लेकिन 'बेमानी' होते जाते आपसी सम्बन्धों की धुरीहीनता के पक्ष में ऐब्रसर्ड' है।[2]

बिंदो के साथ पहले उसके शारीरिक सम्पर्क इस कदर बढ़ गए थे कि बिंदो उससे ऊब कर कहीं दूसरे शहर चली गयी थी। वह मात्र गयी ही नहीं थी जाते हुए उसके मित्र अनिल से भी कहती भी गयी थी। 'अब आगे नहीं चल सकता,' वह 'मैं' को खबर कर दे।[3] जबकि मैं यह नहीं चाहता था कि उसके

1. दूसरी बार-श्रीकान्त वर्मा, पृ० 59
2. धर्मयुग-गंगाप्रसाद विमल, 14 सितम्बर, 1969, पृ० 22
3. दूसरी बार-श्रीकान्त वर्मा, पृ० 38

सम्बन्धों का गवाह भी हो और बिन्दो थी कि झटके से सब कुछ तोड़ कर एक तीसरे आदमी के आगे स्वयं को मुक्त कर, विच्छेद को दस्तावेज़ में बदलती हुई चली गयी थी।[1] जबकि इस प्रकार की उलझन और मुक्ति की कामना 'मैं' भी चाहता है परन्तु पहल बिन्दो की तरफ से हो जाती है। तब 'मैं' महसूसता है कि बिन्दो उसकी नब्ज जानती है और जाते हुए उसे नंगा कर गयी है। फिर भी कहीं अन्दर से उसे लगता रहा था कि नंगा वह खुद अपने ही जल्दपन के कारण हुआ था, जो उसके लिए घातक रहा।

अपने व्यक्तित्व के विरोधाभास के कारण वह दुहरी जिन्दगी जीता हुवा भी लगता है। सैक्स के मामले में वह निहायत ही कमज़ोर रहा है। जल्द और जल्द खेल समाप्त करने की चाहना ने बिंदो को उससे ऊबा दिया। इस ऊब का परिणाम जहाँ उसका अकेलापन होता है वहीं वह शर्म और क्रोध का एक साथ शिकार भी होता है। उसे लगा बार-बार बिंदो ने उसे नंगा किया है,[2] जबकि यथार्थता वह खुद बखुद नंगा होता रहा। बिंदो से मिलने के नियत समय से पहले ही वहां के चक्कर काटने लगना, बिन्दो के गुस्सा होने पर रोना, गिड़गिड़ाना पांव पकड़ कर माफी मांगना, उसके तैयार होते नंगा हो जाना वस्तुतः खुद को नंगा करने की कम घटनाएँ नहीं थी। अपने अधिकारों को पूर्णतः बिंदो को सोप देना, प्रोग्रामों और योजनाओं के लिए बिंदो पर आश्रित होना, अपनी जल्दबाजी और पूर्ण आत्म समर्पण ने उसे जल्द ही बिंदो का दास बना कर उसे ऊबा दिया।

इस सबकी परिणति उसमें एक दम जहाँ अनिश्चितता को जन्म देती है, वहीं उसे क्लीव भी बना जाती है। बिंदो का उसके हर पुर्जे से भली-भांति परिचित होना उसका सबसे बड़ा डर रहा है—उसके यह शब्द बार-बार 'मैं' को चौंकाते रहे हैं, डराते रहे हैं—"मैं अच्छी तरह समझती हूं,[3] तुम क्यों घुटने टेकते हो। अगर मैं तुम्हें जानती न होती तो तुम कुछ और होते।[4] अपने को खोलते जाना और आखिर में यहाँ तक नग हो जाना कि बीच में कुछ न रहे,

---

1. वही, पृ० 39
2. दूसरी बार-श्रीकान्त वर्मा-पृ० 36
3. वही, पृ० 35-36
4. वही, पृ० 36

इससे ज्यादा खतरनाक खेल कुछ भी नहीं होता।" वह जानता था कि बिन्दो प्रारम्भ और अन्त दोनों जानतीं है और वह अपने प्रारम्भ को जानते हुए अन्त से वेखवर अपनी शरीर की भूख को तृप्त करने में लगा रहा था।

और बाद में अकेला रह जाने पर वह मायूस सा दिल्ली के एकान्त और भीड़ वाले इलाको में इस लिए भटकता है कि वह अपने अकेलेपन, अपने अजनबीपन को दूर कर सके। भावहीन और अजातीयता चेहरा लिए वह चाहता है कि कुछ अनुभव करे, उसे कुछ नया कुछ बदला हुआ नजर आये। आस्थाएँ और विश्वास प्रश्न चिन्हों की सलीबों पर टगी रह जाती हैं। मनुष्य की भावना ही जब जड़ हो गयी तो वह मनुष्य रह ही नहीं गया, केवल एक व्यक्ति रह गया, अकेला, उदास और निस्संग "मैं" की भाँति।

आज खतरनाक खेल खेलने के बाद नया कुछ भी नहीं हुआ बल्कि उल्टा वही पुराना खेल खेलने वाली बिंदो फिर वापिस आ गयी। वह उसे सहज लेना चाहते हुए भी इस स्थिति में कैसे सहज ले सकता है। अपने टूटे हुए विश्वासों से वह इस उपस्थिति से आश्वस्त नहीं हो पाता। उद्वेलित, विघुल्ध और दिशाहीन बिंदो के विरुद्ध जाने के वजाये वह खुद अपने ही विरुद्ध ही चला जाता है। वहां तक जहां आतमहत्या के सिवाय कुछ नहीं। अधूरी और आतमघाती प्रवृत्ति के कारण वह सैडिस्ट होकर अपने ही अस्तित्व को झुठलाता भी है और संसार से डरता है।

उसका बौनापन उसका अकेलापन उसे कुछ भी नहीं करने देता। बिदों के साथ मुहोंमुंह की स्थिति में वह बदले के लिए जितना उस पर चिल्लाता है, जितना उससे भागता है, अवचेतन में वह उतना ही उसके नजदीक आता जाता है। हर चिल्लाहट और हर अपमान के बाद वह बिदो के सामने और छोटा होकर सिकुड़ जाता है और बिदो हंसती-हंसती उसकी नब्ज को फिर पकड़ लेती है। यहाँ तक कि उसका चिट्ठियाँ माँगने पर उसका यह सोचना बेमानी है कि कही मैं निहत्था तो न हो जाऊँगा। अब तक मेरे पास एक हथियार है जिसे मैं बिन्दो से कुछ समय तक निपट सकता हूं। और फिर उसका चिट्ठियाँ लौटा कर भी उसी के बारे में सोचना उसकी क्लीवता उसकी धुरी हीनता को दर्शाता है।

इस स्थिति के बाद वह कभी भी किसी चीज़ की असलियत पर नहीं जाता, इतना जरूर है कि वह उन पर अपनी व्याख्याएं अवश्य थोपता है। कल्पनाएँ भी करता है और एक ऐसा संसार भी रचता है जो है मगर नहीं है। वह मुक्त होना चाहता है, मगर मुक्ति की पीड़ाओं से नहीं गुजरना चाहता। अपनी यंत्रणा के लिए स्वयं जिम्मेदार होने के बाद भी वह यह स्वीकार करने में असमर्थं है कि अपनी यंत्रणा के लिए वह जिम्मेदार है। वह हर बार उसका कारण बिन्दो को मानता है—बिन्दो·· बिन्दो······।

हर क्षण, हर जगह, हर स्थान बिन्दो की छाया उसका पीधा करती है। उसके साथ टैक्सी में, काफी हाउस में या अन्य रेस्तराँ में, घर में या बाहर बाग में, हर जगह वह बिन्दो को पलीज करने की कोशिश करता है। हर छोटी-सी-छोटी बात में अब वह बिन्दो से शुरूवात न करवा खुद शुरूआत करता है। उसकी हर दृढ़ता को हमेशा बिन्दो का सहज, ठण्डा चेहरा काट देता रहा है उसे निढाल कर देता रहा है। उसकी सारी दृढ़ता सारा, संकल्प क्षण प्रवाह मात्र होकर रह जाता है। कोई मामूली दृश्य, कोई साधारण घटना विचलित कर जाती हैं और फिर सब कुछ भंग हो जाता है। कई बार इसकी भी जरूरत नहीं पड़ती—अपने-आप ही सब कुछ बिखर जाता है।[1]

बिंदो को पुनः अपने यहां देखकर उसे गर्व, घृणा, सुख, प्रतिहिंसा और आश्चर्य सभी कुछ इक्ट्ठा होता है। यहीं नहीं उसके पुनः आने के पश्चात नाराजगी के दिनों में उसे रीगल के पास किसी के साथ देखा सुना कर उसका होश हवाश को खो बैठना, बार-बार उसके फ्लैट के चक्कर काटना और अन्त में उसी के फलैट में पनाह लेना जहाँ उसकी बिन्दो के प्रतिआसक्ति को स्पष्ट करता है, वहीं उसकी हार, नियति, उसके अकेलेपन और हीनता को भी दर्शाता है। इसे वह खुद स्वीकारते हुए कहता है—यह हारे हुए व्यक्ति की आन थी—आतम रक्षा का कोई तरीका नहीं था। पीछे लौटने पर दीवार थी जिससे टकराकर सर फट सकता था। आगे क्या था, पता नहीं, हो सकता है केवल अन्धकार हो।[2] वह बार-बार स्वीकारता है कि बिन्दो उसका गंतव्य थी। बिंदो के लिए मेरे मन में न सुख था न दुख, मगर विक्षोम जरूर था। जैसे अंधा आदमी सीधा जाकर एक

1. दूसरी बार-श्रीकान्त वर्मा, पृ॰ 51
2. वही, पृ॰ 86

जगह टकरा जाता है,[1] उसी तरह वह बिंदो से। वह वस्तुत: अपनी नियति के बारे कुछ नहीं जानता अलबता बिन्दो को उसकी नियति का 'अन्दाजा जरूर होता है। 'मैं' कहता है—अपनी नियति कोई नहीं जानता, जो दूसरों की नियति जानता है, उससे अधिक खोफनाक कोई नहीं हो सकता। बिन्दो को मेरी नियति ा शायद बरसों से पता था। आंख उठा कर मैंने देखा, वह मेरे सामने, मेरी तकदीर की तरह खड़ी थी।[2] शराब पीकर सम्भोगरत होने से पहले उसका अवचेतन फिर उस पर हावी हो जाता है। सैडिस्ट प्रवृत्ति अपनी सम्पूर्ण निर्ममता और पाशविकता के साथ बदला लेने के लिए उसे बार-बार झकझोरने लगती है। तब अवचेतन का सारा क्रोध, कुण्ठा, घृणा निकल कर सामने इकट्टी होने लगती है। क्योंकि वह जानता है यही वक्त है बिन्दो को अपमानित करने का, कुचलने का, वह पूरी तरह टूट जाए उसे खुशी होगी। वह शुरू करता है—तुम घटिया हो—बिन्दो पर कुछ असर नहीं, तुम मुझे अब नहीं कुचल सकती—हल्का सा क्षणिक दु:ख, फिर वैसी ही हो जाता है, मैं खाना नहीं खाऊँगा—फिर हल्का सा दु:ख सुनो, तुम अगर समझती हो कि मेल हो सकता है तो तुम्हें वहम है, तुम जैसी औरत से किसी को प्रेम नहीं हो सकता। तुम तोड़ती हो। तुम्हें घमण्ड है। तुम अपने दर्प में किसी को नहीं पहचानती। तुम्हारे साथ बीता हुआ जीवन नरक था। मैं एक बार इस नरक से किसी तरह निकल आया। अब तुम दोबारा क्यों आयी हो? मुझे शांति से क्यो नहीं रहने देती। तुम जाओ या फिर मैं जाता हूं।[3] बिन्दो के चेहरे पर कोई झल्लहाट या दु:ख न देख कर उसे हैरानी होती है। और जब उसे खाना खिलाने के लिए पकड़ कर उठाती है तो उसे लगता है कि उसे 'डिमारलाइज' करने का नया तरीका निकाला गया है। उसका इस प्रकार के प्रश्नों द्वारा बदला उसे क्षणिक सुख तो दे देता है परन्तु विप्लव का क्या हो जिसे न वह और न ही बिन्दो सम्भाल सकते हैं, इसके बारे वह स्वय को असहाय महसूस करता है।

यही नहीं उसका स्वरूप, उसकी विभिन्न मन:स्थितियों, विरोधाभासों और दुहरी जिन्दगी में भी देखा जा सकता है। अपने विवेक से धोखा खा कर

---

1. वही, पृ० 92
2. वही, पृ० 103
3. दूसरी बार-श्रीकान्म वर्मा, पृ० 1०5

वह जार जार रोता भी है और स्वयं को कोसता भी है। बिन्दो के फ्लैट में रात के बारह बजे नशा उतरने पर बिन्दो से यह पूछता है कि उसके बिस्तर पर कैसे आया अन्दर से उसके रहे सहे आत्म विश्वास को खत्म करने से कम नहीं। और जब डरी हुई बिन्दो उसे बताती है कि—हर बार तुम उठ-उठ कर मेरे पैरों पर गिरते जाते थे और कहते थे, मुझे माफ करो। मुझे छोड़कर मत जाओ। मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकता—मैंने प्रयत्न करके देख लिया। तुम नहीं जानती मैंने ये इतने साल कैसे बिताये। तुम जैसा चाहोगी वैसे निभाऊँगा। मुझे मत छोड़ो। तो लगता है मैं' नशे में भावुक नहीं हुआ था और उस सहजता में उसने कटु यथार्थ अवचेन को स्वीकार लिया है। उसका यह स्वीकार उसके खुद के नंगेपन का सशक्त प्रमाण है जबकि वह सोचता है बिन्दो नंगी हुई है। परन्तु दूसरे ही क्षण वह फिर नंगा होता है पहले ढीले रूप में बाद में पूर्ण प्रतिहिंसा के साथ दृढ़ता से। उसे लगता है केवल यही क्षण होता है स्त्री से प्यार करने का। केवल इसी समय वह पराधीन होती है—पुरुष उसका भाग्य विधाता होता है। वह इन क्षणों को हाथ से गंवाना नहीं चाहता। बिंदो ने उसे अपना स्वामी मान लिया है। यहां अविश्वास की फिर छायाएं मंडराती हैं उसे इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता कि यह बदला वह बिंदो से ले रहा है या बिंदो उससे ले रही। उसका बार-बार चौंकना इसके विरोधाभास उसके अविश्वास को बताता है।[1] और दूसरे ही क्षण बिंदो को सम्पूर्ण जकड़े हुए उसका यह सोचना कि मैं इस स्त्री का दर्प तक चकनाचूर कर दूंगा जिसने मुझे छोटा, अदना सा बना दिया है। वह अब मेरी मुट्ठी में है, कुछ ही क्षणों में मैं इसे कुचल दूंगा, उसकी धज्जियाँ उड़ा दूंगा, उसकी आत्मा को जो उसने सहज कर रखी है तहस-नहस कर दूंगा, उसकी प्रतिहिंसा की सैडिस्ट प्रवृत्ति को दर्शाता हैजो अवचेतन से फिर ऊपर आ गयी है। तब दोबारा तैयारी में उसे देरी नहीं लगती। वह स्वयं भी थकता है और उसे भी थकाया जाता है। उसी के शब्दों में—जैसे-जैसे मेरी झुंझलाहट बढ़ती जा रही थी वैसे-वैसे प्रतिहिंसा बढ़ती जा रही थी।[2] परन्तु जल्द ही उसका यह महसूस करना यथार्थ के एक आयाम का उद्घाटन है कि क्या वह बदला अपने आप से बिंदो से या अपनी नियति से ले रहा जिसका उत्तर उसे अन्त तक नहीं मिलता। यहाँ वह फिर बिंदो से भागता है परन्तु जल्द ही बिंदो द्वारा ढूंढ लिए

1. दूसरी बार-श्रीकान्त वर्मा, पृ० 109-110
2. वही, पृ० 113

जाने पर फिर पहले वाली स्थिति में खड़ा मिलता है। उसके पहले वाली स्थिति में खड़ा होना, बिंदो के पास उसकी, गंतव्य उसके लिए अंधकार के सिवाय कुछ नहीं जो कफ की तरह उसके सीने पर जमता रहा है—जिसके आगे कोई रास्ता नहीं, कोई अर्थ या इति नहीं या यूं भी कहा जा सकता है कोई नियति नहीं।

वह वर्तमान से बचने के लिए अतीत में और अतीत से बचने के लिए वर्तमान में आता रहा है। इस प्रकार अपने को अवास्ताविक बनाता हुआ अपनी अन्तिम परिणति में क्लीव, निर्भर और निरर्थक होकर रह जाता है।

राग-दरबारी : श्रीलाल शुक्ल

राग-दरबारी (1968) नायक विहीन उपन्यास की शृंखला की एक कड़ी हो सकती है जिसने नायकत्व की धारणा को नकारा है।[1] इस उपन्यास का केन्द्रीय विषय समूचा शिव पालक गंज और उसकी समस्याएं जो उभर कर सामने आती हैं। गांव की जिन्दगी से घनिष्ठता पूर्वक जुड़ा हुआ यह उपन्यास आधुनिक भारतीय जीवन की मूल्यहीनता और संस्कारहीनता को सहज निर्ममता के साथ अनावृत करता है।[1] इस उपन्यास को एक करुणा और कोमल राग की दृष्टि से भी आंका गया है जिसके पात्रों— स्वरों—को एक टाईप न मान कर, बल्कि उन्हें मानवीय स्तर पर समझने की कोशिश की गई है। यही पात्र कई मनःस्थितियों और जकड़ाव की जिन्दगी जीते हुए अन्त में यथार्थ दृष्टि के पारखी हो जाते हैं।

इस गांव की जिन्दगी भी कुछ अजीब सी है। पिछले बीस वर्षों से प्रगति और विकास के नारों के बावजूद निहित स्वार्थी और अनेक अवांछनीय तत्वों के अघातों के सामने घिसटती रही है। सम्भवतः यह उसी की जिन्दगी का दस्तावेज हो, परन्तु ऐसा लगता नहीं।

उत्तर प्रदेश के अवध इलाके के लखनऊ जिले से किसी शहर से कुछ ही मील दूर सड़क के किनारे स्थित गांव कस्बा शिवपालक गंज नक्शे में ढूंढने पर

---

3. वही, पृ० 123-124

शायद न मिले, पर राग-दरबारी' का शिवपालक गंज आजादी के बाद विकसित हुए हिन्दुस्तान में कहीं भी मिल सकता है। शिवपालक गंज आम गांवों से कुछ ज्यादा तरक्की पर है। वहां इन्टरमीडिएट कालेज है, सहकारी समिति है, वह तहसील और थाने का सदर मुकाम भी है। और तो और वहां दुकाने और शराब की भट्टी भी है। वहां पंचायत है, टाउन एरिया नही है। आजाद हिन्दुस्तान की राजनीति से, इस दौर में चले विकास कार्यों से, सरकार और उसकी नौकर शाही तथा दूसरे औजारों की गतिविधियों से इस दरम्यान किस तरह की औलादें पैदा हुई हैं, उनका व्यक्तित्व शास्त्र, नीति शास्त्र और समाज शास्त्र क्या है—यही राग-दरबारी' की वस्तु है।

एक ऐसे गांव के बारे में क्या कहा जा सकता है जहां राजनीति के मोहरे अपना दाव लगा रहें हों, धर्म कर्म के साथ आजादी के बाद की नयी पीढ़ी कुछ स्वीकार और कुछ अस्वीकार करने की मुद्रा में हो। जहां एक प्रकार का जंगल का नियम, जिसकी लाठी उसी की भैंस ही हो। जहां प्रेम पत्र से लेकर गलत और मारपीट से लेकर कत्ल तक के काम दिन की रोशनी में आसानी से हो सकते हों। शिवपालकगंज एक एसा गांव है जो समूची मानवीय कलुषता को लिए हुए है जिसमें, गन्दगी और बुराई, भ्रस्टाचार और नोचखचोट की खरोंचे हर गांव वाले के मुंह पर देखी जा सकती हैं। वैद्य से लेकर लंगड़ तक उस जीवन को जीते हैं जिसने हमारे गाँवों को सदियों से अभिशप्त कर रखा है।

इस उपन्यास में कथाओं का समूह है जो एक कड़ी की ओर बढ़ती है। यह कथाए मार्मिक होते हुए भी चौंका देने वाली कदापि नहीं हैं। घटनाओं को पढ़ते हुए ऐसा लगता है मानो ऐसा ही होना था या ऐसा ही हो सकता था।

क्या रंगनाथ, प्रिंसिपल, खन्ना, वैद्यजी, रुप्पन, छोटे पहलवान, बद्री, लंगड़, सनीचर और मास्टर दीन दयाल यह सब अपने अपने परिवेश में जैसे भी हो जीना चाहते हैं, और जी रहे भी हैं। परन्तु एक बात जो सबमें समान है वह है अकेलापन और टूटन जो सबमें समान रूप में ही मिलता है। सभी अपने परिवेश से त्रस्त होते हुए भी उसे छोड़ने को तैयार नहीं है। यही तो मानव नियति की विद्रपता है, आघुनिक युग की एक महत्वपूर्ण देन।

रंगनाथ जो शहर से गांव में स्वास्थ्य सुधार के लिए आता है, गांवभर की राजनीति को देखकर दंग रह जाता है । प्रिंसिपल खन्ना मास्टर के वाइस प्रिंसिपल नहीं बना सकते । वैद्य जी सब इमारतों को काबू मेंकर के इंटर कालेज की मैनेजरी को छोड़ नहीं सकते । बद्री पहलवानी दादागीरी छोड़ नहीं सकते । रूप्पन गयादीन की लड़की बेला के पीछे दीवाना है तो लंगड़ क्लर्क से नकल लेने के लिए । सनीचर अण्डरवियर को नही छोड़ सकता और दीन दीयाल समलिंगी यौन सम्बन्धों को नहीं छोड़ सकता । इस प्रकार अपनी अपनी नियति द्वारा बद्व अपने ही केन्द्र में सब पात्र लट्टू की भांति घूमते दिखाई देते हैं ।

राग दरबारी को एक व्यंग्य कृति, एक व्यंग्य दृष्टि, एक क्रीड़ा (कामिक) की दृष्टि से भी आंका है ।[1] जिसे वस्तुत: एक द्विप ही कहा जा सकता है । बेशक इसका सारा ढ़ाचा इस दृष्टि से नैतिक औचित्य पर ही टिकता या मिटता है । डा० नेमिचन्द्र जैन ने इन्हें आज के भारतीय जीवन के इस पक्ष के और विभिन्न परिस्थितियों के प्रभावशाली चित्रों में आंका है जो हमारे अपरिचित अनुभवों को फिर से ताजा कर देते हैं ।[2]

वस्तुत: राग दरबारी किसी साहित्यिक मानदण्ड के समीप होने के बजाय जिन्दगी से ज्यादा समीप होने की कोशिश है । इस बात को राग दरबारी के मुहावरे में भी पहचाना जा सकता है जो लगभग उसी तरंग-लम्बाई पर है जिस तरंग-लम्बाई पर यहां वर्णित जिन्दगी है । इसे रूप्पन बाबू के डंडमार शैली के में भी देखा जा सकता है । देखो यह तो पोलिटिक्स है । इसमें बड़ा-बड़ा कमीनापन चलता है । यह तो कुछ भी नहीं हुआ । पिताजी जिस रास्ते में हैं उसमें इसके आगे भी कुछ करना पड़ता है । दुश्मन को जैसे भी हो, चित करना करना चाहिए । यह न चित कर पाएगें तो खुद चित हो जायेगा और फिर बैठे चूरन की पुड़ियां बांधा करेंगे और कोई टका को भी न पूछेगा ।[3]

उससे लगभग एक फर्लांग की दुरी पर रुप्पन बाबू एक पेड़ की पीघें अपने पैंट की अन्दरुनी सफाई कर रहे थे । अपनी इस निजी समस्या को सार्वजनिक

1. आलोचना-कललेश, अक्तूबर, दिसम्बर 1968, पृ० 101-102
2. साप्ताहिक हिन्दुस्तान-नेमिचन्द्र जैन, 19 जनवरी, 1969
3. राग-दरबारी-श्रीलाल शुक्ल, पृ० 190

ढंग से निबटा कर जब वे उठ खड़ हुए तो रंगनाथ भी अपनी जगह पर खड़ा हो गया। रुप्पन बाबू जब उसकी तरफ नहीं आए तो वही उनकी ओर चल दिया। लगा, कोई नेता अभी अभी किसी संकट के गड्ढे से ऊपर आया है और प्रेस उसका इंटरव्यू लेने जा रहा है।

यहां गांव के परिवेश में (प्रेस इंटरव्यू' का रूपक लाना सिर्फ यह जाहिर करता है कि रोष केवल देहाती जिन्दगी के प्रति नहीं सारी हिन्दुस्तानी जिन्दगी के प्रति है। ऐसे रुपक उपन्यास-भर में है और देहात की जिन्दगी को शहर की जिन्दगी से जोड़ते चलते हैं।[1]

बार-बार लेखक ने रंगनाथ के माध्यम से गांव में होने वाली घटनाओं पर मीठी चुटकियां ली हैं। लेखक का नश्तर कई जगह कचोटता है और गांव सजीव सा हो उठतां है। जंगल में करौंदे, मकौय और बेर के झाड़ हैं और नीची जमीन है। खरगोश से लेकर भेड़िये तक, भुट्टाचोरों से लेकर डकैत तक इस जंगल में आसानी से छिपे रहते हैं। नजदीक के गांवों में जो प्रेम सम्बन्ध आत्मा के स्तर पर कायम होते हैं उनकी व्याख्या इस जंगल में शरीर के स्तर पर होती है।[2]

दमित वासनाओं वाले समाज की ग्रंथियों से ज्यादातर युवक पात्र ही पीड़त हैं। प्रौढ़ पात्रों में या उनमें द्वन्द्ध या गति खोजना और न पाना, इसे 'यथार्थवादी समाप्त' कहना और 'नीचे' कोई और जिन्दगी खोजना, फलस्वरूप इसे एक सीमा के बाद सच्ची तस्वीर न मानना, अपनी जरूरत की मांग गलत जगह पेश करना होगा। इस उपन्यास के पात्रों को संशय नहीं सालते। किसी लक्ष्य में सफलता असफलता का लोक-भाषा में दार्शनिक स्पष्टीकरण कह सोच कर जिन्दगी से आसानी से समायोजन कर लिया जाता है। कहीं कुछ दरकता जरूर है, शायद उसे ही द्वन्द कहा जा सकता है।[3]

प्रिंसिपल साहब अनहोने पात्र नहीं हैं। वैसे वाइस चांसलरों से भी भेंट की जा सकती है। बाबू रंगनाथ शहराती आदमी हैं। उन्हें भी यह भ्रम हो गया

1. आलोचना (7)-कमलेश, अक्तूबर, दिसम्बर, 1968, पृ० 101-102
2. राग दरबारी-श्रीलाल शुक्ल, पृ० 140
3. आलोचना (7)-कमलेश, अक्तूबर, दिसम्बर, 1968, पृ० 103

था कि प्रिंसिपल बिल्कुल जंगली है। फिर प्रिंसिपल में मुंह से पिकासो का नाम सुनकर उनका भ्रम टूटा। और भी बातें फिर उनको सुनने को मिली। वैद्य जी के सामने भी सारी बातें साफ हैं, कोई नैतिक मुगालता उन्हें नहीं है। संशय नयी पीढ़ी के लोगों में, खास तौर पर शहराती बाबू रंगनाथ में उचित होता है और वे प्रिंसिपल और खन्ना मास्टर के झगड़े में पक्षधर होने लगते हैं। पर अन्ततः उनके विचारों में भी पलायन संगीत बजने लगता है, जब खन्ना मास्टर की सारी नैतिकता के बावजूद वैद्य जी उसे इस्तीफा देने की मांग करते हैं और जो उसे देना पड़ता है। उपन्यास का यह महत्वपूर्ण स्थल जहां वैद्य, प्रिंसिपल की जीत और खन्ना की हार रंगनाथ को कहीं अन्दर से झकझोर कर रख देती है।

समूचे चरित्र में भारतीय शहराती बुद्धिजीवी अकर्मण्यता और अज्ञान का चित्र पेश है। यह बुद्धिजीवी दिमागी लड़ाई शुरु करता है, पर संघर्ष का अवसर आने पर फिर शहर की ओर पलायन कर जाता है।[1]

वस्तुतः सभी पात्र कुछ न कुछ विशिष्टता लिए हुए उपन्यास को सजीव बनाने का प्रयत्न करते हैं। लंगड़ सत्यवादी हरिश्चन्द्र बनने में टूटकर, सनीचर चाणक्य बन कर, गयादीन विरोधी पार्टी का नेता बनकर, बद्री पहलवान शैतान बनकर, रुप्पन कहीं अन्दर से टूटे हुए नौजवान के प्रतीक में, भीमखेड़ी भ्रष्टाचारी अभियान के नेता के रूप में गांव के नाम को उजागर करते हैं। उन सब के ऊपर वैद्य जी जो अपने मुर्गों के संग शेर और शिकारी का खेल खेलते हैं। नैतिकता को ताक में रखकर सफेद पोशी राजनीति और वीर्य की गोलीयां बेचने वाला बुड्डा अन्त में सब पापों और अत्यचारों को भंग की ठण्डाई में घोल कर पी जाता है। अमृत समझ कर जिससे आगे के लिए कब्ज न हो। आज के युग में ठण्डाई के साये में इसे तोबा करना कहा जा सकता है। और यही तोबा जब शहराती राजनीतिक नेता करने गांव में आने लगने हैं तब हम देखते हैं शहर का सारा गंदा कचरा उनके भाषणों द्वारा गांव में अपनी बदबू फैलाने लगता है। और तब यह शिवपालक गंज एक गांव तक सीमित न रहकर समूचे देश का प्रतिनिधित्व करने लगता है।

---

1. आलोचना (7)-कमलेश, अक्तूबर,-दिसम्बर, 1968, पृ० 103

'राग-दरबारी' आज की हिन्दुस्तानी जिन्दगी की मुख्य धारा को पकड़ने की कोशिश है। इस धारा में बदलाव है, पर उसका रूप ऐसा है जिसे लेखक नैतिक औचित्य देना नहीं चाहता। वह स्वायत्त कला रुपक में सामंजस्य पा चुकी लगातार स्थिति के बयान को अपनी टीका भी वनाता चलता है। इस टीका को व्यंग्य कहना या इसके बारे में 'साप्ताहिक पात्रों ने बैठे ढाले' स्तम्भों का उल्लेख करना दृष्टि दोष की देन है, क्योंकि यहां किसी भी पात्र का न तो मजाक ही उड़ाया गया है और ही व्यंग्य ही किया गया है और न पूर्णतया क्रीड़ा (कामिक) की ही स्थिति है।[1] स्पष्ट रूप से कहें तो इन प्रसंगों में लेखक ने पूरे समाज को एक विद्रूप के रुप में हमारे सामने पेश किया है।

'अपने से अलग' : डा० गंगा प्रसाद विमल (१९६९)

यह उपन्यास एक ऐसे मध्यवर्गीय टूटते हुए लघु परिवार के सामाजिक सम्बन्धों को दर्शाता है जहां चौबीस घण्टों घर पर काली छाया मंडराती रहती है। एक दमघोटू वातारण जहां, माँ लड़की के लिए नींद की गोलियां लाती हैं। पिता घर वालों से अजनबी बन दूसरा परिवार वसा लेता है। भाई आवारा होकर जेल चला जाता है। उस भाई की दोस्त के संग सोकर दूसरा भाई आनन्द महसूस करता है और मां सबको टूटते देख अन्त में स्वयं टूट जाती हैं और बिखर जाती है उस घर में जहां काली छायाएं मंडराया करती थी।

यह उपन्यास सामाजिक भूमिका के उस बिन्दु को लिए है जिससे कहीं न कहीं आज का मध्यवर्गीय इन्सान जुड़ा हुआ है। यह उपन्यास एक महीन ठण्डेपन, गतिहीन शिथिलता और बीते अतीत की अंतरंग पहचान लिए हुए है। इस उपन्यास का नायक "मैं" एक प्रतीक्षावादी युवक है, जो गतिहीन, निष्क्रिय और शिथिलता में जल्दी बुढ़ा गया लगता है। सारा उपन्यास उसकी माँ और पिता के सामाजिक सम्बन्धों की उपज है। ऐसे सामाजिक सम्बन्ध जिनकी मात्र कड़ुवाहट को ढोया जाये। इन परिस्थितियों में सबके सब बहन, भाई और मां कहीं अन्दर से बुरी तरह कतर कर रह जाते हैं। लड़का और लड़की दूर होस्टल में भी जब इस विषाक्त परिवेश से न बच सके और 'मैं' केवल प्रतीक्षारत् ही रहा तब भी मां स्थिति को सम्भाले रही। परन्तु होस्टल छोड़ लड़के के जेल

1. आलोचना-(7)-कमलेश, अक्तूबर, दिसम्बर, 1968, पृ० 103

जाने पर और लड़की का विकृत मस्तिष्क लेकर घर आने पर उसकी मां पूर्णतय: टूट जाती है। क्योंकि 'मैं' का मां के साथ ही सम्बन्ध था अत अपने उस परिवेश में बुरी तरह हारा और टूटा हुआ 'मैं' भी कुछ न कर सकने की स्थिति में जड़ता का आभास देता है।

'मैं' सारे उपन्यास में भावुक होने से बचता रहा। उसका स्वरुप विकास उसकी मां की डायरी के वे पन्न हैं जिनके चारों ओर वह बहता रहा है। न तो वह मां का ही साथी बन सका और न ही पिता को वापिस ला सका। वह यहां तक निष्क्रिय हो जाता है कि भाई की गिरफ्तारी के पश्चात् मां के इन्तजार करने को भूलकर, स्थिति का सामना करने में 'असमर्थ पहाड़ी स्थान भाग जाता है। यहां भी अतीत उसका पीछा नहीं छोड़ता। स्वतंत्र अनुभव करने की बात यहां भी भ्रामक होने लगती है। और जल्द ही वह उस निष्क्रियता की स्थिति में पहुंच जाता है जिस से वह बचना चाहता था।

वस्तुत: नायक का प्रारम्भिक विकास निहायत ही स्वाभाविक और स्पष्ट है। घर में और घर के सदस्यों में उसे हमेशा एक बौंगारापन दिखाई देता है। उस परिवेश में वह चाहता है अपने पिता का चेहरा याद करे परन्तु लाख चाहते हुए अवचेतन की घृणा से वह अपने पिता का चेहरा याद नहीं कर पाता। घर में पहुंच कर जब उसे घर की 'बू नहीं मिलती तो उसे लगता है वह घर उसके लिए अजनबी हो चुका है। पहाड़ से वापिस आने पर बहुत दिनों पश्चात् माँ का चेहरा देख कर वह कहता है—'मैंने सोचा कितना अच्छा हो वह मौन हो। (वह इतनी कमजोर लगती थी कि पहली बार उसने इस जीवन में जाना जैसे एक खूबसूरत चीज टूट गई हो।'[1] मां की इस अवस्था की जिम्मेदार वह अपने सब परिवार वालो को समझता है। वही मां जिससे इसको पूर्णता मिलती थी, उसे वह देखने भर से डरने लगा था—'उन्हें देखकर मुझे लगता है जैसे यह हम सब की वजह से हुआ हो। जैसे माँ अब ऐसी गम्भीरता में आ गई है जहां से कोई भी वापिस नहीं आ सकता वह मुरझायापन जिसकी कभी भी कल्पना नहीं की जा सकती।'[2]

---

1. अपने से अलग–डा० गंगाप्रसाद विमल, पृ० 192
2. अपने से अलग-डा० गंगाप्रसाद विमल, पृ० 14

यहीं अपनी छोटी बहन को देखकर वह कहता—मैंने गौर से उसकी ओर देखा। झुकी हुई वह लग रही थी जैसे वह हमेशा ही ऐसी रहती हो। जैसे वह उठ ही न सकती हो कोई बीमार अधेड़ औरत । उसकी कमजोरी को देखकर मैं यह कह सकता हूं कि मैंने उस जैसी कमजोर औरत अभी तक देखी ही नही है।[1]

होस्टल में उसे अपना भाई निष्क्रिय और विचित्र लगता हैं । शराब की बेतरतीब बोतलें फैलाए जिसके नाम तक वह नहीं जानता, उसे अपना भाई अन पहचाना और टूटा हुआ लगता है। तब उस बेतरतीवी को वह लाख चाहते हुए भी कोई संज्ञा नहीं दे पाता। उसे लगता है जैसे उसका शब्द-ज्ञान अधूरा है और बहुत सारी चीजों के लिए उसके पास शब्द नहीं है। यही नही भाई के इन शब्दों को सुनकर पूर्णतया अजनबीपन महसूस करने लगता हैं, कि माँ अब मेरे लिए नहीं है। अब आपके लिए है, शेष परिवार के लिए है। मैंने अपना रास्ता चुन लिया है।

इन सब में केवल बड़ी व विवाहिता बहन उसे कुछ सन्तुष्ट लगती है परन्तु उसके साथ भी वह अपरिचितों की भांति मिलता है। इस प्रकार वह अपने को पूर्णततया अजनबी, एकाकी और फिजूल का आदमी समझने लगता है।

समूचे उपन्यास में केवल एक बार वह कामुक हो उठता है। तब जब उसे अपने भाई के दोस्त के संग सोना पड़ता है। उसका इस प्रकार कामुक होना और तनाव की स्थिति से जल्द छुटकारा पाने के लिए निर्णय भी ले लेना स्वाभाविक और सपाट धरातल पर देखा जा सकता है। एक ऐसा निर्णय जिसमें आनन्द का और अर्थ भ्रम से छुटकारा।

सारे उपन्यास मेंनायक निष्क्रिय लगता है। उपन्यास के प्रारम्भ से अन्त तक नायक के घर पर एक काली भयावही छाया मंडराती रहती है। एक ऐसी अन्ध विश्वास, अपशकुन की छाया, जिसके पेट फटे होत हैं और चोंचे आसमान की ओर उटी होती है ठीक वैसे ही जैसे रात को मैं की मां के हाथ और मुंह आकाश की उठे न जाने क्या मांगा करते हैं। यह संकेत है उस मध्यवर्गी

1. वही, पृ० 189

घुटन, त्रास और अनिश्चितता का जिससे छुटकारा नहीं पाया जा सकता।

यह उस मध्यवर्ग की नियति है जहां वह अभिशप्त है। और समय में स्वयं को मिसफिट पा रहा है। सामाजिक सम्बन्धों की टूटन और नये सम्बन्धों की तलाश है। एक ठण्डे पन को लिए हुए वह जीवन जी रहा है। संयुक्त परिवार के टूटने के पश्चात् यह लघु परिवार का टूटना उस मध्यवर्गी की मार्मिकता नहीं तो क्या है। यह चिल्लाहट है जो सिर्फ ओठों और आंखों में ही देखी जा सकती है, छुपाई नहीं जा सकती।

सारे उपन्यास में नायक की संवेदना (सैन्टीमन्टैन्टिटी) लगता है स्वयं ही मरती जा रही है। परन्तु मां के अन्तिम दिनों के क्षणों में उसका भावुक हो जाना और लेखक द्वारा अन्त में सैन्टीमैन्टैलिटी को जानबूझ कर मारना उस स्वरूप को अवरूद्ध कर जाता है। इस लेखकीय बलात्कार से नायक का स्वरूप आरोपित सा लगने लगता हैं। नायक अपने अन्तिम विकास में निहायत भावुक और वचकाना लगता है जो स्वाभाविक हो सकता है। परन्तु इस भावुकता को मारना निश्चित रूप में आरोपण ही हो सकता है।

टूटा व्यक्तित्व लिए वह चिपका हैं तो केवल मां के लिए जी रहा है तो केवल एक भ्रामक प्रतीक्षा के लिए। सारे उपन्यास में वह नास्टोलजिया का शिकार लगाता है। मां की मृत्यु के पश्चात् हम उसे खोखले वृक्ष की तरह ढहते देखते हैं। उसका इस प्रकार टूटना उसकी वह नियति है जिसके लिए आज का मध्यवर्गीय इन्सान अभिशप्त है।

'कन्दील और कुहासे' : गिरिधर गोपाल

गिरिधर गोपाल की 'कन्दील और कुहासे' (969) की रचना दृष्टि-सत्य के संदर्भ में उसी प्रकार इनकी पहली रचना 'चांदनी के खण्डहर'। यदि 'चांदनी के खण्डर' का नायक बसन्त है तो उसका अगला रूप कन्दील और कुहासे' के नायक किशू में देखा जा सकता है। अन्तर केवल इतना है कि बसन्त लन्दन से वापिस आया हुआ मैडिकल ग्रुप का विद्यार्थी है जबकि किशू आटर्स में एम० ए पास है। परन्तु दोनों ही बेरोजगार हैं। यह बात निश्चित रूप से दोनों में साम्य है। कन्दील और कुहासे मध्य वित्त परिवार के सदस्यों की आर्थिक

स्थिति को लेकर, निराशा, कुण्ठा तथा खोखलेपन का मार्मिक चित्रण लिए हुए है। किशननारायण जो एम० ए पास है और जो बेरोजगार है, इस उपन्यास का नायक है। अभावों से घिरे परिवार को सहारा देने के स्थान पर उन पर स्वयं को आश्रित देख वह अपने आप को जहां इसका दोषी समझता है वहां परिवार, समाज और सरकार को भी उतना ही दोषी मानता है। अपने परिवेश के दंश के कारण ही वह हर स्थिति, और हर आदमी के चेहरे से घृणा करता है। अपने परिवार, समाज और हर आदमी के चेहरे से घृणा करता है। अपने परिवार समाज और सरकार को जी भर गालियां उस स्वाभाविक रोष को दर्शाती है जिसने उसे कुछ भी नहीं दिया।

मध्य वित्त परिवार के नौजवानों की भांति उसकी अपनी इच्छाएं आकांक्षाएं हैं जिन्हें उसके समाज ने कभी भी पूर्ण नहीं होने दिया। उसे बार-बार मजबूरी के उस बिन्दु तक पहुंचाया जहां हीन भावना स्वयं ही जन्म ले लेती है। परिवार की चिन्ताओं, आर्थिक समस्याओं, रोग और पिता मृत्यु जैसी बातों ने जहां उसकों कुण्ठित किया वहां उस कुंठा ने उसे समाज के प्रति विद्रोही भी बना दिया। परन्तु मध्यवर्गी नियति की अभिशप्तता ने उसके पास कोई भी तो साधन नहीं छोड़ा जिससे वह इस व्यवस्था से टक्कर ले सके। इस लिए केवल चिल्ला भर सकता है, निरीह घर वालों पर या अपनी प्रेमिका मीरा से रुठ कर उन्हें दु ख दे कर अपने अहं की तृप्ति कर सकता है। या भूखा रह कर किसी बाग के कोने में मौन आंसू बहाकर अपनी घुटन को क्षणिक शांति दे सकता है।

अभावों में घिरे परिवार में प्रारम्भ से अन्त तक आर्थिक समस्या की मार के आगे भी उसने बढ़ने का प्रयत्न किया है। परन्तु उसके विषाक्त परिवेश ने उसे कुछ भी तो नहीं दिया। गंभीर घरेलू हालात में बी० ए पास कर जब वह विश्व विद्यालय की दीवारो के अन्दर गया तो उसे लगा कि उसका परिश्रम वेकार हो गया है।

अध्यापक रोल नं० के साथ रटे रटाए वाक्यों तक ही सीमित रहते हैं या फिर इश्क करने को प्रोत्साहन देते हैं। कुछ अध्यापक गजलें सुनाते हैं तो कुछ विश्वविद्यालय राजनीति पेंतरे बाजी भर दिखाने के लिए आते हैं। लड़के छुट्टी होने पर टीलियों में बंटकर उनकी नकल करने के सिवाय कुछ भी नहीं कर पाते। तव बी० ए०, एम० ए० की डिग्रियां उसे एक बेमानी और अध्यापक

लापरवाह लगते हैं। उसे लगता है जैसे उसके हाथ में कुछ बेमानी डिग्रियां हैं और दिमाग में एक अधकचरेपन का बोध। वह विश्वविद्यालय जब गया था तब दुःख की एक निराधार छाया, एक अव्यक्त विद्रोह, अभावों का तीव्र दर्शन, कुछ न करने की छटपटाती आकांक्षा से और एम० ए० करने के पश्चात् उसने जाना था वह दुःख घटने की बजाए बढ़ता ही गया था। विद्रोह मुखर होने लगा था छटपटाहट टूटने की सीमा तक पहुंच गयी थी। कभी-कभी थोड़ी निराशा और कुछ अंधेरे भी उसे घेरते लगे थे।[1] उसने यह भी जाना था कि सभी लड़के अपने घर से ऊब कर यहां शहर में आए हैं। सभी जिन्दगी में कुछ करना चाहते हैं। सभी का विश्वास है कि पढ़ाई खत्म करने के बाद कोई बहुत बड़ी चीज़ उन्हें मिल जायेगी। लेकिन यह चीज़ क्या होगी न वह जानता था न ही दूसरे लोग। यूनिवर्सिटी के अपने प्रारम्भिक दिनों में उसे लगा था कि लड़कों की एक भीड़ निर्लक्ष्य, दिग्भ्रमित-सी एक बहुत बड़े जंगल में चक्कर काट रही है। एक मृग मरीचिका-सी सजी हुई है। आश्चर्य, कौतुहल, विश्वास, और अभिलाषाएं, सपने, मूर्खता के स्तर पर पहुंचने के व्यवहार, अश्लीलता के स्तर पर उतरती जुमलेबाजियां, सब का एक अजीबो गरीब सम्मिश्रण उसने देखा उसे लगता है कि इन लड़कों के सामने एक रोज एक नयी समस्या खड़ी होती है। तब उसे वे लड़के लड़के न लगकर अनगिनत प्रश्न चिन्ह लगते जो साकार होकर कभी सड़कों, कभी क्लास रूमों, कभी कैफे में अपना लक्ष्य खोजते, भटकते दीखते हैं। अध्यापक उसे ऐसा ब्लैक बोर्ड लगते हैं जिस पर लिखी इबारत किसी ने पोंछ दी हो। लैक्चर रूम उसे रास्ते में पड़ने वाली पुरानी सराये सी-लगती है, जिसे वही होना ही है।[2] इन सभी प्रश्न चिन्हों में साकार हुआ वह कभी सड़कों, कभी क्लास रूमों, कभी कैफ़े में अपना लक्ष्य खोजता है। अपनी लाख कोशिशों के बावजूद भी उसे न तो अपना लक्ष्य ही मिलता है और न उद्देश्य ही।

बाढ़ के दिनों में हुई मीरा से मुलाकात और शारीरिक सम्बन्ध उसके योन-आकर्षण के सशक्त प्रमाण हैं। मीरा का स्नेह उसे बेरोजगारी और आन्तरिक अशांति से बचा नहीं पाता। चुम्बनों की प्राप्ति में वह कई बार क्षणिक हल्का-सा हो लेता है, परन्तु फिर जल्द उसका उन सबसे मोहभंग भी हो जाता है।

---

2. कन्दील और कुहासे, गिरिधर गोपाल, पृ० 70
1. वही, पृ० 70

अपने पांव पर खड़ा होने की हर कोशिश उसे पहली स्थिति में ला पटकती है। जहां खामोश और बीमार मां, घर के टूटे प्याले, तश्तरी, फटे परदे, टूटी बेंत की कुर्सियाँ, मिर्च—मसाले, आटा-दाल के खाली डिब्बे, गंदी धोतियां सब उसे कही अन्दर से कुतर कर रख देते हैं। उसे लगता है जैसे वह स्वयं ही नहीं हजारों नौजवानों का वर्तमान भी कहीं भटक रहा है। उसकी ही नहीं सब की मंजिलें खो गयीं हैं। उनके कदम भी सधे हुए नहीं पड़ रहे हैं। भ्रष्टाचारी चरित्रहीन अपढ़ नेताओं को मौज उड़ाता देख वह बार-बार मुट्ठियाँ कसता है परन्तु भारत-चीन और भारत-पाक युद्ध के दौरान वह सब कुछ भूल कर, अपनी हीन भावना भूल कर, अपने आप को भूल कर देश सेवा भी करता है। परन्तु जल्द ही मोह भग की स्थिति मे अपनी हीन भावना और अपन मिस फिट पन के कारण वह मत्रियों को बास्टर्ड, साले और कुत्ते की औलाद जैसी गालियां भी देता है जिस उसका स्वाभाविक कम कहा जा सकता है। नौकरी पाने के लिए किसी की चिरोरी या जी हजूरी नही करना चाहता। परन्तु जब मजबूरन उसे सब कुछ करना पड़ता है तब उसका अह चोट खाता है और उ. लगता है जैसे वह जिन्दगी मे खाली हो गया है। एक बड़ा-सा शून्य, जो न जाने कब भरेगा ?' इस निराशावादी स्थित को यथार्थ के सही आयामों में मीरा को दिये गये उसके उत्तर सशवत परिणाम हैं—न जाने क्यों अजीब सी मनहूसियत छा गयी है किसी काम में किसी भी जगह किसी भी के साथ मेरी तबीयत नहीं लगती। कुंठित होता जा रहा हूं मैं। तुम्हीं देखो आठ महीनों से ज्यादा बीत गए। लेकिन अभी तक कोई छोटी नौकरी भी नहीं मिली।[1] निराशावादी स्थिति उसकी हीन भावना को बढ़ाती है और उसे लगता है या तो वह व्यवस्था से समझौता कर ले या उसके प्रति जेहाद बोल दे। अपनी मजबूरी के कारण वह व्यवस्था के साथ अंत में समझौता ही करता हैं तो पल भर की खुशी दफ्तर की टूटी कुर्सी और गन्दे मेज़ को देख कर हवा हो जाती है। उसे यह देखकर एक बार पुनः अपने आप पर ग्लानि होती है। इस हत्था-टूटी कुर्सी और गंदे मेज़ के लिए पूरे दो साल वह और उसका भाई दौड़ धूप करते रहे। तब एम० ए० की पढ़ाई लुटे पिटे लोगों के साथ बीतने वाले क्षण, दीमक लगी फाइलों से उठती दमघोट दुर्गन्ध में उसे अपनी सही कीमत का अन्दाजा होता है।[2] इस अन्दाजे की कल्पना

1. क़ंदील और कुहासे—गिरिधर गोपाल, 223
2. वही, पृ० 254-55

से और यह सोच कर कि यह उसकी आखरी नौकरी होगी उसे लगता है जैसे वह इस जाल से अब कभी नहीं निकल सकेगा। इसका आभास उसे अपने साथी उनियाल द्वारा दफतरी राजनीति जान लेने के पश्चात् एक दम से हो जाता है। जब उसे इस व्यवस्था से समझौता करना पड़ता है। उनियाल के शब्दों में—जिस कागज़ पर अत्यावश्यक लिखा रहे वह दो महीने के बाद और जिस पर आवश्यक लिखा रहे उसे चार महीने के बाद उठाना। 'विचाराधीन स्लिप' लगा कागज़ कोने में रखी अलमारी में डम्प कर देना। इन कागजों का कोई मतलब नहीं होता। यही बात पत्रों पर भी लागू होती है। साधारण खत फाड़ कर फेंक देना। डी० ओ० लेटर पर चार महीने के भीतर और जी० ओ० पर दो महीने के भीतर कार्यवाही करना। तब दफतरी राजनीति में अपने सभी प्रयत्नों और अभावों द्वारा मजबूरन उसे उस व्यवस्था से समझौता करना पड़ता है। परन्तु यह समझौता स्थायी नहीं हो सकता। जल्द ही छंटनी में उसे निकाल कर पुनः बेरोजगारों की लाईन में खड़ा कर दिया जाता है। पुरानी स्थिति में उसको लौटना तब बहुत ही अपमानजनक लगता है जिसको वह किसी भी हालत में बर्दाश्त नहीं कर पाता। परन्तु फिर भी वह पुनः अखबारों में नौकरी के कालम देखता है, पत्र भेजता है, इन्टरव्यू अटैण्ड करता है। लेकिन हर जगह पहले ही वह स्थान भर दिये जाने के कारण उसे लगता है उसकी भागदौड़ ने जहाँ उसके पैरों के तलुओं में गट्टे डाल दिए हैं वहीं उसके दिमाग में भी गांठें पड़ गयी हैं। मीरा का साथ-संग, उसकी प्रेरणा उसके आश्वासन एक नन्हीं कन्दील क समान उसे प्रेरणा देते हैं परन्तु अथाह कुहासों मे वह नन्हा कन्दील कभी भी खो सकती है। यह वह भलिभांति जान जाता है। अपनी सरकार, समाज के प्रति ही नहीं पूरे परिवेश पूरी व्यवस्था के प्रति उसके मन में तीव्र विद्रोह धधकने लगता है। जब वह विद्रोह क्रियात्मक रूप नही ले पाता तब वह निष्क्रिय हो जाता है और बच रहता है उसका अकेलापन, खीझ, हीन भावना, घर वालों के प्रति एक अजीव उपेक्षा। इस उपेक्षा की चरम परिणति होती है शराब और सिग्रेट पीने में, देर रात तक बाहर रहने, सड़कों पर आवारा घूमन में।

वस्तुतः अपने संस्कारों के कारण, अपने ही समाज के डर से न तो कुली -गीरी ही कर सकता है और न छोटा मोटा काम ही। इस नियति की अभिशप्तता में आज का मध्यवर्गीय इन्सान कुलबुला रहा है। वह कुछ करना चाहते हुए भी कुछ नहीं कर पाता। जहां तक आधुनिकता की चुनौती का समष्टि सत्य के

आधार पर संवेदना के स्तर पर स्वीकारा है वहां तक तो नायक का स्वरूप स्वाभाविक विकास पाता रहा है। जहां लेखक आधुनिकता से विमुख होकर भावुकता को स्वीकारता है वहां नायक का स्वरूप अवरूद्ध हो जाता है। अन्त में ट्रक के नीचे लाकर नायक की मृत्यु दिखाना इसी आधुनिकता से विमुखता का और संवेदना से भावुकता का परिणाम है।

जल टूटता हुआ: रामदरश मिश्र (१६६६)

राम दरश मित्र का प्रस्तुत उपन्यास नायक-विहीन उपन्यास की कड़ी को आगे ले जाने वाला एक और सशक्त कदम है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद उत्तर प्रदेश के कछार अंचल की समस्याओं, सम्बन्धों तथा मूल्यों के तनाव, विघटन और जीवन-अंचल ही के रूप में उभर कर हमारे सामने आता है।

इस ज्वार का जीवन ही जल है। वह जल जो पहले एक साथ बहता था, बाढ़ में उमड़ता था, गर्मी में सूखता था एक-सा था। नए-नए बांध बंधने के पश्चात् भी वह बांध पुखता नहीं है, जगह-जगह से दरक जाता है। जहां से देखो थोड़ा पानी बह जाता है, थोड़ा कहीं और दरकता है, तो कुछ पानी और बह जाता है दूसरी दिशा को। और यह पानी कहीं मिल नहीं पाते, विपरीत या समानंतर, धाराओं में बहते ही चले जाते हैं। । वस्तुत इस उपन्यास के मूल में भावनावादी गांधीवादी सुधारवादी दृष्टि है जो इसके पात्रों को रुपायित करती है। स्वतंत्रता के पश्चात गांधी के स्वप्नों वाला गाँव, स्कूलों, हस्पतालों वाला गाँव, बीमारी और बेरोजगारी रहित गाँव पंचायती राज्य के अन्तंगत सुखी गाँव तो यह कतई नहीं। यह गाँव है स्कूलों और हस्तपतालों से रहित गाव, (जो स्कूल है वह न होने के बराबर है) बीमारी और बेरोजगारी वाला गाँव, और पंचायती राज के अन्तर्गत एक दुखी गाँव। वैसे पन्द्रह अगस्त यहाँ भी मनाई जाती है, तिरंगा यहां भीं लहराता है, मिठाई यहां भी बंटती है, जैय हिन्द के तोतले और ऊंचे नारे यहां भी गूंजते है। परन्तु इन सब के पीछे कई दिनों के भूखे पेट, गंदे कपड़ों और बाढ़ तथा अभाव से घिरे लोगों की व्यथा मात्र मिठाई को ललचायी नजरों से देखने के सिवाय कुछ नहीं कर सकती। सुग्गन मास्टर को कई दिनों से वेतन नहीं मिला। बाढ़ और गंदगी में न तो कोई डाक्टर वहां आने को तैयार है और न ही वहां कोई हस्तपताल खुल सकता है। इसी लिए सांप के काटने पर एक और अन्धविश्वास से घिरे गांव वाले अपनी आंखों के सामने सलौना की

बच्ची को दवा के बिना ओझा के मंत्रों के बीच मरते हुए देखते हैं तो दूसरी ओर वकील की पत्नी को डाक्टरी सहायता न मिलने पर तड़प-तड़प कर अपने बच्चे के साथ दम तोड़ते हुए देखते हैं।

बाढ़ से घिरे गाँव में एक ओर खेतों के डूब जाने पर आम जनता भूखी और बीमारी में अवश है जहां इसका मार्मिक चित्रण हैं वहां जमीदारी टूटने पर भी गांव में अकड़ कर चलने वाले जमींदारों और अमीर लोगों के ऐश्वर्य पर चुटकियां भी ली गई हैं। टूटते हुए जमींदार महीप सिंह और उभरते हुए सेठ दीन दयाल गांव की राजनीति मूल जड़ है। वस्तुतः यह दो ही नहीं गांव में हर एक की अपनी टोली है, उनकी अपनी राजनीति है, अपने स्वार्थ हैं। परन्तु एक बात सब में समान है वह यह कि सब अन्दर ही अन्दर एक दूसरे को काट रहें हैं। महीपसिंह, दीनदयाल, रामकुमार, दर्लासिगार, बलई, रघुनाथ, फैकू बाबा आदि सभी अवसर आने पर अपने सहयोगी को दोहरी मात भी दे सकते हैं और अवसर आने पर अपने दुश्मन से समझौता भी कर सकते हैं। उदाहरणतः रामकुमार पहले सतीश से गठजोड़ करते हैं फिर महीपसिंह से और फिर अवसर आने पर दीनदयाल की जी हजूरी करने से भी बाज नहीं आते। रामकुमार की दलबदलू नीति पंचायत चुनाव के समय अधिक उजागर हो कर आती है, जब वह सतीश के ही खेत खरीद लेता है। प्रायः ऐसी ही स्थिति हर पात्र की है, लगता है जैसे एक दूसरे के घरों की दीवारों को इशारा मिलते ही वह ढेर कर के रख देंगे। इसी कारण महीप सिंह की ठोकरें खा कर जगपतिया जहां मायूस हो जाता है वहीं उसकी जान का प्यासा भी, बलई और बिरजू महीपसिंह और दीन दयाल के इसी आतंक से उनकी जान के प्यासे हो जाते हैं।

स्वार्थ, घृणा भाई भतीजावाद, घूंस, मार-काट, आग और व्याभिचार के साथ अपनी गरीबी और अभाव के पूरे परिवेश के साथ सारा गांव सजीव रूप में सामने आ जाता है। इसे सजीव बनाने में सतीश, शाम कुमार, रघुनाथ, फेंकू बाबा, दर्लासिगार, बंसी, मास्टर सुगन, बिरजू, बलई, डलवा, शारदा, मास्टर, महीपसिंह, दीन दयाल, कुंजू, बदमी आदि पात्रों की एक लम्बी कतार भी है जो अपनी सारी संगतियों और विसंगतियों के साथ जहां अपना स्वरूप दर्शाते हैं, वहां गांव को सजीव और संवेदनशील भी बना जाते हैं।

महीप सिह और दीनदयाल अपने पैसे के बल पर जहां कत्ल करवा सकते हैं, आग लगवा सकते हैं, पके पकाये गरीबों के खेत कटवा सकते हैं, बैल, भैंस

की चोरी करवा सकते हैं, सेंध लगवा सकते हैं या किसी बहु बेटी की इज्जत लूट सकते हैं वहां गरीब तब के लोग उनकी जी हजूरी करके भी भूखे, प्यासे और कर्जदार के कर्जदार ही रहते हैं। अपने खेत रहन रख कर अपनी बेटियों के हाथ पीले तो वह कर देते हैं। परन्तु उस कर्जदारी में कम पैसे के कारण उनकी जवान बेटियों के पल्ले में दुहाजू अथवा बूढ़े ही पड़ते हैं। इस सबका परिणाम जहां सैक्स की अतृप्ति होता है वहीं पर पुरुषों से शारीरिक सम्बन्धों का आकर्षण भी। इस प्रकार का आकर्षण कम होते हुए भी प्रायः हर एक पात्र के दूसरे के संग शारीरिक सम्बन्ध हैं। दल सिंगार, और दुलवा, शारदा और मास्टर, कुंजू और बदमी, पारबती और हसिया आदि के सम्बन्ध प्रायः इसी प्रकार के हैं।

यही नहीं देश की स्वतंत्रता के पश्चात गांव की राजनैतिक अवस्था पर, राजनैतिक नेताओं पर टूटती हुई जमींदारी प्रथा पर और सरकारी लाल फीताशाही पर लेखक ने भरपूर व्यंग्य किया है चन्द्रकान्त के इस भाषण द्वारा राजनैतिक अवस्था और नेताओं की यथार्थता का पता चलता है। चन्द्रकान्त जिसे भाषण देने के लिए बुलाये जाने पर भी उस को भाषण देने के लिए तब कहा जाता है जब कि अध्यक्ष पद से अंतिम भाषण हो चुका होता है। चन्द्रकान्त, के शब्दों में "मैं नहीं समझ पाता कि अध्यक्ष के भाषण के बाद क्या बोलूँ? अध्यक्ष के भाषण के बाद केवल धन्यवाद देने का काम बचता है, लेकिन उस काम के लिए यहां अनेक लोग हैं। मुझे तो लगता है इन नेताओं के सामने रोना भी बेकार है पहले के भाषणों में जो समस्याएं रखी गयी हैं उनका सीधा समाधान खोजने से नेताजी लोग कतराते हैं। पता नहीं यह लोग जनता को क्या समझते हैं। जिस जनता ने इन्हें अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा है उसकी आवाज उन्होंने कभी विधान सभा या संसद में उठाई ही नहीं। तमाम क्षेत्रों के नेता दहाड़ते हैं और ये लोग हाथ उठाते हैं। इसके अलावा इनसे यह भी सवाल किया जा सकता है कि ये जनता के बीच इसका दुख-दर्द समझने के लिए कितनी बार आयें हैं? आज कल के नेता लोग तो जनता में पिकनिक करने आते हैं, दो घड़ी को मन बहलाव करने को।[1] यह स्थिति तो हुई राजनीतिक नेताओं की अब पुलिस के शब्दों में टूटते हुए जमींदारों की स्थिति का भी जायजा लें। 'हम लोग तो

---

1. जल टूटता हुआ—रामदरश मिश्र, पृ० 444

परेशान हैं। इस टूटे हुए जमींदार से (महीपसिंह), टूट गया लेकिन शान नहीं गयी। हर जगह बरजोरी, हर जगह अन्याय, हर जगह गुंडई। यह आदमी जमाने की आवाज को पहचानता ही नहीं और मुश्किल यह है कि इसके खिलाफ हमारा कोई साथ नहीं देता, सभी लोग सोचते हैं कौन पड़े भरसांई के मुंह में। हम लोग तंग आ गए हैं। यहीं रिश्वत खोर लाल फीताशाही के काले कारनामों का भी पर्दा फाश किया गया है। भूपेन्द्र लाल ए० सी० ओ० हैं। चकबन्दी आफीसर के नाते उन्हें हक है कि वह रिश्वत लेकर किसी का भी बढ़िया खेत दूसरे के नाम लिख दें। वह काम यह हंसते-हसते हुए ही पूरा कर डालते हैं। इस अवसर का फायदा उठा गांव वालों की स्वार्थ भावना जो गुल खिलाती है, उसका रोचक वर्णन लेखक करता है। दीन दयाल, वकील, फेंकू बाबा, के साथ साथ रामकुमार भी साईकिल से अकसर गांव आ जाता और एकांत में भूपेन्द्र लाल से मिल आता। वैसे बनवारी बाबा आते-जाते रहते थे। दल सिंगार कभी दौलतराय के साथ, कभी दीनदयाल के साथ लुटर-लुटर चलता हुआ साहब के दर्शन कर आता। इसके अलावा आस पास के तमाम गांव के लोग घेरे रहते, हमेशा मेला सा लगा रहता। सुग्गन मास्टर दो जोड़ी जनेऊ देकर बोले दुहाई सरकार की, मैं गरीब हूं, मेरी लड़की भी मर गइ है मेरा ख्याल रखिएगा। सब की बातें भूपेन्द्र लाल सुनते और मुस्करा देते।[1] जिन लोगों ने गांव की राजनीति में अन्याय दूर करने की कोशिश की उनके प्रयत्नों को विफल कर दिया गया। गाँव का सरपंच सतीश जहां अपने खेत गवां बैठा वहीं मरते-मरते बचा परन्तु बुरी तरह जख्मी होकर। सुग्गन मास्टर और बंगाली क्लक्टर बीहड़ तराई वाले इलाकों में सड़ने के लिए भेज दिए गए।

वस्तुत: इतना कुछ होने पर भी अन्दर ही अन्दर कुछ बदल रहा था। यह परिवर्तन या बदलाव धीरे-धीरे बाद में जाकर स्पष्ट होता दीखता है जब दीनदयाल अपनी बेटी शारदा का हाथ मास्टर के हाथ में देने को तैयार हो जाते हैं। महीप सिंह जब अपनी टूटी जमींदारी छोड़ कांग्रेस टिकट के लिए कांग्रेसी बन जाता है। रामकुमार दलबदलू नीति को अपना लेता है। चन्द्रकांत कलक्टर बन जाता है। बंसी कलकत्ता से लौटना नहीं चाहता। दीनदयाल का लड़का छुआछूत मानने से इन्कार कर देता है। फैंकू बाबा का लड़का वकील बन कर शहर चला जाता है। इस सबका परिणाम आधुनिकता की चुनौती को

1. चल टूटता हुआ—रामदरश मिश्र, पृ० 461

समष्टि सत्य पर स्वीकार करता है। परन्तु सतीश का गुंडों और डाकुओं के हृदय परिवर्तन की बाहट जोना आदर्शवादी, सुधारवादी दृष्टि का परिणाम है जो कृति में दरारें तोड डालता ही है पात्रों का स्वरूप भी अवरूद्ध कर देता है।

फिर भी सारा गांव डकैती, कत्ल, भ्रष्टाचार, गुंडई, बलात्कार, विपरीत-रति, समलैंगिकता, (होमोसेक्सुआलिटी), अन्धविश्वास, भूख और गरीबी के साथ बाढ़ जैसे प्राकृतिक प्रकोप के साथ, अपने सारे परिवेश की संगतियों और विसंगतियों के साथ हमारे सामने सजीव रूप में आता है। अरक्षित भविष्य, आतंक और यथार्थ की सही अभिव्यक्ति तब उसे उत्तर प्रदेश के मात्र एक कछार का ही नहीं बल्कि समस्त भारत के किसी भी गांव के रूप में हमारे सामने ला देती है जिसे हम भारत के नक्शे में कहीं भीं देख सकते हैं।

'एक नन्ही कन्दील' : उपेन्द्र नाथ अश्क (१९६९)

प्रस्तुत उपन्यास 'एक नन्ही कन्दील' (1969), जहां गिरती दीवारें (1947) और शहर में घूमता आईना (1964) उपन्यासों की अगली कड़ी हैं, वहीं नायक चेतन के स्वरूप-विकास की तीसरी अवस्था भी। यह उपन्यास व्यष्टिसत्य के आधार पर अहं और सैक्स, विशेष कर 'समलैंगिकता' (होमो सैक्सुअलिटी) को लिए हुए हैं। विभाजन से पूर्व भारत के महानगर लाहौर में मध्यवर्ग के संघर्षरत नायक की कशमकश तथा उसके ग्राहस्थ्य जीवन के छोटे-छोटे ब्यौरों की विशाल गाथा है। इस उपन्यास का नायक चेतन एक भाव-प्रवण निम्न मध्यवर्गीय युवक हैं, जिसके संघर्षों और स्वप्नों, इन्छाओं और महत्वाकांक्षाओं, अन्तर्द्वन्द्वों और उलझनों के बीच अपने अहं के कारण वह जीवन के निर्णायक मोड़ों पर एकाकी, कुछ तृप्त और कुछ अतृप्त-सा खड़ा दिखता है। शिमला में कवि रामदास से छुटकारा पाकर जब वह जालन्धर अपनी मां और पत्नी से मिलकर वापिस लाहौर आता है तो उसे लगता है कि वहां जैसे सब कुछ बदल गया हैं। उसका भाई दांतों की प्रेक्टिस कर रहा है पर आगे बढ़ने को पैसा नहीं। वह खुद अब 'बन्देमातरम्' (पत्रिका) में वापिस नहीं जाना चाहता। इसका कारण जहां अधिक काम और कम पैसा है, वहीं वह ऐसे लोगों से भी छुटकारा चाहता है जो उसे हर दम वासना की दृष्टि से देखते रहे हैं। अतः पण्डित 'रत्न' के प्रयत्नों से वह 'वीर भारत' में दिन की शिफ्ट में काम करने लगता है तो लगता है 'गिरती दीवारें' और शहर में घूमता आईना' के नायक ने अब कवि,

उस संगीतज्ञ, चित्रकार, और अभिनेता आदि बनने के चक्कर को छोड़कर कथा लेखक और पत्रकारिता को अपना लिया है। अत: इस उपन्यास का नायक न तो पहले वाले उपन्यासों की भांति निष्क्रिय ही है और न ही कमजोर रीढ़हीन व्यक्तित्व वाला ही। बेशक यहां भी उसे अपनी नियति का पता नही। चाहे यहां भी हर घटना-दुर्घटना, आशा-आकांक्षा, सफलता-असफलता, प्यार और चोट उसके स्वरूप विकास को आगे बढ़ाने में सहायक हुए हैं। परन्तु एक बात निश्चित है कि उसे हर घटना, हर बात, और सारे परिवेश की एक गलीज़ बू से छुटकारा न मिलते हुए भी उसने समझौता कही नहीं किया। अपनी हार लाचारी को कहीं नहीं माना। अपने ऊपर गंदे और झूठे समलैंगिकता के आरोप सुन कर डटकर उनका मुकाबला किया।

'गिरती दीवारों' और 'शहर में घूमता आईना' में जहां जालन्धर शहर का वर्णन है, वहीं यह उपन्यास लाहौर शहर के वर्णन से भरा पड़ा है। वह वर्णन उसके अतीत के सम्बन्धों को लाहौर के माध्यम से दर्शाता है। 'बन्दे मातरम्' में नौकरी छोड़ने और 'भूचाल' पत्रिका के ऐडीटर पद से इस्तीफा देने के बीच चेतन के स्वरूप विकास के विभिन्न पहलुओं को देख जा सकता है। 'बन्दे मातरम्' में नौकरी छोड़ने के पश्चात् यहां नई नौकरी की तालाश में पण्डित रत्न के साथ उसे लाहौर भर के पत्रकारों के दरवाजे खटखटाने पड़ते हैं। इसी दौड़ धूप में जब उसका मिलना अनेक जाने-पहचाने चेहरों से होता है तो उसको अपना अतीत याद हो आता है। अपने जीवन के मृदु कटु प्रसंगों में वह अपने बचपन को याद करता है तो उसे लगता है मानो वह छोटा चेतन कोई दूसरा ही था। बचपन से मां, बाप और मास्टर के डर से झूठ बोलने वाला चेतन है। अंग्रेजी और गणित में कमजोर चेतन, शराबी बाप और 'भूतना' मास्टर द्वारा पीटे जाने वाला चेतन, हर जगह त्रस्त और कुंठित रहने वाला चेतन झूठ बोल कर बचने के सिवाय क्या कर सकता था। अभावों से घिरे परिवार में उसने हाई स्कूल पास किया। फिर बी० ए० हाई स्कूल पास करते ही उसकी शादी चन्दा नामक अपढ़ लड़की से कर दी गई जो उसके लिए अप्रत्याशित ही थी। हाई स्कूल पास करने के बाद उसने नौकरी की तलाश में जाना कि नौकरी पाना जहां कठिन है, वहीं दूसरे लोगों की हवस का शिकार होना आसान है। यों उसने अपने बचपन में हीं छोटे लड़कों (लौंडों) पर बड़े लड़कों को आशिक होते देखा हैं परन्तु उसें यह कतई बर्दाशत नहीं कि कोई पुरुष उसका आशिक हो।

परन्तु नौकरी के दौरान में उसे बार-बार लगा कि उसको बुरी तरह वासना भरी दृष्टि से देखा जाता है। भीष्म (पत्रिका) में काम करते हुए जब उसके पिता की उम्र का बलोची उसे दबोच कर चूम लेता है और उसका पीछा करता है तो अपना बदला लेने के लिए चेतन जहां कसरत करने लगता है वहीं एक चाकू भी रख लेता है।[1] अपवाद रूप में शिमला में कवि रामदास की पत्नी उसे अपनी ओर आकर्षित लगती है, परन्तु वह अपनी तरफ से उसे उत्साहित बिल्कुल भी नहीं करता। यही स्थिति कमला, जमुना और सिम्मा सूरी के साथ भी देखी जा सकती है। बेशक वह जमुना को जी भर कर देखता है परन्तु ठोस रूप से हर जगह कुछ भी नहीं करता अपने विपरीत रति और समलैंगिक आकर्षण के क्षणों में वह संयत और ठण्डा रहता है।

पण्डित रत्न के साथ नौकरी की तालाश में घूमते हुए वह बेशुमार पत्रिकाओं के मालिकों और ऐडीटरों से मिलता हैं। उनमें कुछ चेहरे उसके जान पहचाने होते हैं। कुछ बिलकुल अनजाने अपरिचित-से। अपरिचित चेहरों से वह उनके अन्त:करण पढ़ने में कोशिश करता है। उसे यह जान कर आश्चर्य होता है कि उनमें अधिकांश तथाकथित बुद्धि जीवी समलैंगिकता (होमोसैक्सुअलिटी) के शिकार हैं। पण्डित रत्न के प्राय: सभी मित्र ज्ञान चन्द, आडिट आफिस के हेडक्लर्क, एग्जेकटिव इंजीनियर, पुराने जर्नलिस्ट, गुरुघण्टाल के मालिक सम्पादक जीवन लाल कपूर, महाशय धर्मचन्द्र मालिक 'बहार' आदि ने लौंडे पाले हुए हैं।[2] इन सब की प्रतिक्रिया हम उसकी डायरी में लिखी गयी बातों से जान सकते हैं। मुझे उर्दू रोजनामा और हफतावारों के अकसर ऐडीटरों, ट्रांसलेटरों, और अखबार के अपने शायरों पर तरस आता है। ये समाज को सुधारने, उसमें और उसके समाज में इन्कलाब लाने में सपने ही लोगों को देते हैं। लेकिन खुद उनकी समझ, सोच और अमल का दायरा इतना महदूद (सीमित) है कि मुझे कभी-कभी लगता है मैं कहां फंसा हूं।[3] इस प्रतिक्रिया के परिणामस्वरुप हम उसे इन्तजार करते हुए देखते हैं। अपने भाई की प्रैक्टिस जमने का. जिसे वह पत्रकारिता को छोड़ स्वतत्रं लेखन शुरु कर सके। परन्तु यहां भी उसके और पण्डित रत्न के सम्बन्धों को व्यंग्य और फूहड़ मजाकों में

1. एक नन्ही कन्दील—उपेन्द्रनाथ अश्क, पृ० 116, 121
2. वही, पृ० 156-169
3. एक नन्ही कन्दील-उपेन्द्र नाथ 'अश्क', पृ० 159

लिया जाता है। परन्तु चेतन यहां भी हार स्वीकार नहीं करता और झूठ के सामने सीना तान कर चलता है। उसी के शब्दों में 'इस स्कैण्डल का असर दूर करने का यही तरीका है कि पण्डित जी के साथ खुले आम घुमूं और लोगों को बकने दूं। लोग सच की खोज करना नहीं चाहते। वह अपना एक निजी सच (जो सौ फीसदी झूठ होता है) गढ़ लेते हैं और उसी को सच मानकर उसका प्रचार किया करते हैं। जिन्होंने झूठ को सच समझ रखा है, उसे कभी नहीं छोड़ेंगे। अगर एक छोड़ भी देगा तो कोई दूसरा उसे थाम लेगा। मैंने तय किया है कि पहले अगर हफ्ते में दो तीन बार पण्डित जी के यहां जाता था तो अब रोज़ जाऊंगा। पण्डित जी के मन में मेरे लिए वैसी बात नहीं है, जैसी बलोची के मन में।[1] अपनी इसी निडरता के कारण वह चौधरी साहब से अपनी कहानियों के पैसे भी ले लेता है जो पैसे मारने में अपनी प्रसिद्धि पा चुके होते हैं। यही नहीं तीरजी और उसके पिता 'समाज' के ऐडिटर को साथ, जीवन लाल कपूर 'गुरु घंटाल' और 'भूचाल' के मालिक के साथ पण्डित टेजाराम शाही 'देश' के ऐडीटर के साथ, अजादयाला 'हिमालय' पत्रिका के मालिक के साथ जहां अपने सम्बन्धों को जहां बताता है, वही उनकी ब्लैकमेल, और विकृत मनः स्थिति के बारे में भी अपने पास एक लम्बी डायरी रखता है।

इस प्रकार जहाँ चेतन हमें अपने परिवेश के तथाकथित बौद्धिक लोगों के यथार्थ पहलुओं से अवगत कराता है वहीं उनके प्रति अपनी प्रतिक्रिया बताकर अपने स्वरूप को भी दरशा जाता है। वस्तुतः उसकी एक स्थिति यदि बाह्य परिवेश में उसके सक्रिय रूप में पत्रकारिता और लेखन के प्रति रुचि को दिखाती है तो दूसरी स्थिति उसकी घरेलू मामलों की यथार्थता में सक्रिय अथवा निष्क्रिय रूप में देखी जा सकती है। घर में वह अपने भाई तथा भाभी के प्रति निहायत ही ईमानदार है। अपनी पत्नी के गहने बेचकर उसकी दांतों की प्रैक्टिस चलाने मे पूरी आर्थिक सहायता भी देता है और उनका प्रचार भी करता है। भाभी को टी० बी० जैसी बीमारी में बड़े से बड़े डाक्टर को रिश्वत देकर पहले दिखलाने का प्रयत्न भी करता है। परन्तु वह खुद अपनी पत्नी चंदा के बारे में विरोधाभास की-सी स्थिति में मिलता है। कभी तो चंदा को उच्च शिक्षा देने और संगीत सीखने पर मजबूर करता है और कभी उसके सरल और सहज,

1. वही, वही, पृ० 160

व्यवहार पर, जो उसे उपनी अपेक्षा लगता है, खीझकर उसे रूलाने लगता है और फिर दूसरे ही क्षण उसके भोलेपन और सरस हृदय के कारण उसे जी भर प्यार करने लगता है। अपने ससुर के पागलपन के दिनों में, अपनी सास के दूसरें लोगों का चौंका बरतन करने पर वह पहले तो स्वयं को संयत रखता है परन्तु बाद में सास और पत्नी को खरी खोटी सुना कर रुला देता है। उसका अहं यह स्वीकार नहीं कर सकता कि एक ऐडीटर की सास किसी का चौका बरतन करे। परन्तु जल्द ही सास और पत्नी सरस व्यवहार द्वारा और उसकी वस्तुस्थिति का यथार्थ साक्षात्कार कर वह उस स्थिति से समझौता भी कर लेता है।

घरेलू मामलों के बाहर उसकी एक स्थिति अधिक सक्रिय और दृढ़ स्थिति स्वतन्त्र लेखन में देखी जा सकती है। अपने सम्पूर्ण अहं को किसी कोने में दबाकर वह पत्रकारिता की नौकरी तो करता है परन्तु उसको असल सन्तुष्टि असल तृप्ति तो स्वतंत्र लेखन में ही मिलती है। अपने आगे बढ़ने के प्रयत्नों में वह जानबूझ कर कवि चातक की जी हजूरी करता है। साहित्यिक गोष्ठियों में खुले आम कवि-चातक का समर्थन कर उन्हें प्रसन्न करता हुए वह अवसर वादी होने में भी नहीं चूकता। साहित्यक वर्ग में उसे 'मुनीन्द्रजी' और मुंशीचन्द्र शेखर ही प्रभावित कर पाते हैं। अपनी इसी चाटुकारिता के कारण वह अपने उर्दू कहानी संग्रह की भूमिका मुंशी चन्द्रशेखर से लिखवा लेता है।

साहित्यिक क्षेत्र में ही वेदालंकार से नफरत की भावना उनको निब्बू के टंकार समय सैडिस्ट प्रवृत्ति को बताने के लिए ही लगती है। परन्तु चेतन का अन्तिम निर्णय उसकी वस्तुस्थिति उसके अहं को वस्तुत: उसके सम्पूर्ण स्वरूप को स्पष्ट और स्वाभाविक रूप में उभारता है। अपनी खस्ता आर्थिक हालत तथा अपने अरक्षित भविष्य के बावजूद वह जीवनलाल कपूर (सम्पादक भूचाल) के धीरे काम करने की शिकायत करने पर ऐडीटर पद से इस्तीफा दे देता है। उसके अहं की यह ठेस मात्र उसके धीरे काम करने की शिकायत से नहीं बलिक उसके सम्पूर्ण चरित्र और उसके भद्दे मजाकों के कारण लगती है जब वह उसके लौंडा होने के बारे में मजाक करता है। अपने क्रोध की इस भूमिका की प्रक्रिया को वह निश्चित रूप से स्वीकार करता, कहता है क्रोध तो उसी वक्त आया था, जब उसने दरवाज़े के पास से होकर अपने कमरे में जाते हुए उनके मुंह से 'लौण्डा-ए-खुदरंग' शब्द सुना था और उसे लगा था कि लाला जी उसी को लेकर कोई मजाक मौलवी से कर

रहे हैं। इसी लिए जब वह कुर्सी पर जाकर बैठा था और उन्होंने वह लतीफा सुनाया था तो उसके मन में उसी वक्त वह नौकरी छोड़ें देन का विचार आया था।[1] तब वह स्पष्ट शब्दों में काम के प्रति अपनी इमानदारी के बारे में जीवन लाल कपूर से कहता — "मैं निहायत ईमानदार वर्कर हूं। जिससे जैसा पैसा लेता हूं, और आप मेरी ईमानदारी पर शक करते हैं। सुबह से आप मुझे लेख पर लेख दे रहे हैं। यह इतना वड़ा थब्बा आपने लेखों का दिया है। दस बार में उठकर आपकी मेज पर गया हूं और दस बार आकर बैठ गया हूं। जितने वक्त में आपने इन्हें पढ़ा है, उतना वक्त ही मैंने इन्हें पढ़ने में लगाया है। आध घण्टे पहले आपने छुट्टी दी है, सो यह एक सफा तरजुमा किया है। और मैं क्या करता। आप अपना काम संभालिए और मुझे छुट्टी दीजिए।[2] अहं पर ठेस उसे कतई बर्दाश्त नहीं। ऐडीटर पद से उसका इस्तीफा जहां उसे जीवन लाल कपूर का लोंडा होने से बचाता है वहीं उसके स्वाभाविक स्वरूप को भी दर्शाता है। वेशक पहले के दो उपन्यासों की भांति यहां भी चेतन के असल शांति अपनी पत्नी चंदा के गोद में ही मिलती है।

इस प्रकार यह रचना चेतन को जीवन के निर्णायक मोड़ पर खड़ा कर मात्र उसकी नियति की ओर ही इंगित नहीं करती बल्कि आज के मध्यवर्ती वर्ग की नियति की अभिशप्तता को भी रेखांकित करती है

'सबहिं नचावत राम गोसाई' : भगतीचरण वर्मा (१९७०)

प्रस्तुत उपन्यास नायक विहीन उपन्यास की कड़ी का एक और सशक्त उदाहरण है जो नियति वाद को लिए हुए हैं। उपन्यास राधेश्याम—बुद्धि, जवरसिंह-भाग्य, राम लोचन पाण्डे-भावना, और उठा-पटक शीर्षकों से बंटा हुआ है। वस्तुत: पात्रों की यथार्थवादी तस्वीर हमारे सामने लिए यह उपन्यास अपनी सम्पूर्ण विविधता के साथ लेखक के पहले कृतित्व से भिन्न व्यंग्य-प्रधान उपन्यास है। द्वितीय-विश्वयुद्ध के पश्चात देश स्वाधीन हुआ और सर्वत्र कांग्रेस की सत्ता का प्रादुर्भाव हुआ। इस लम्वे अरसे के बाद देश स्वाधीन हुआ और सर्वत्र कांग्रेस की सत्ता का प्रादुर्भाव हुआ। इस लम्वे अरसे में देश में चोर बाजारी भ्रष्टाचार

1. एक नन्ही कन्दील-उपेन्द्रनाथ 'अश्क', पृ9 773
2. वही, पृ० 765

और डाकेजनी का बोल बाला रहा। लोगों के भाग्य बदल गए और जिनके नहीं बदले उन्होंने अपने बाने को बदलकर कामयाबी का सेहरा बांध लिया। राजनीतिक उठा-पटक के बीच से बहते सामाजिक तंत्र को तीन-तीन पीढ़ियां कहां-से-कहां पहुंचा देती हैं, यह उपन्यास के सजीव पात्रों के क्रिया-कलाप में देखते ही बनता है। त्यागमूर्ति, राधेश्याम, जबरसिंह, रामलोचन, धनवंत कुंवर और रश्मि-हमीदा जैसे जीवट वाले व्यक्ति हमारे चारों ओर जी रहे हैं और हम उनमें जी रहे हैं।

लेखक व्यंग्य के माध्यम से हर स्थिति के साथ अपने को जोड़ता हुआ मिलता है। वह कपट-गाथा अनास्थत भाव से नहीं कहता, वरन् अपने को इस गाथा का एक पात्र समझता हुआ चलता है और हर गलत परिस्थिति के प्रति विद्रोह करता हुआ देखा जा सकता है। वह उस स्थिति के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं ठहराता। ऐसा लगता है लेखक के हाथ में एक कोड़ा है और वह कोड़ा उन सभी व्यक्तियों के ऊपर बरसता है जो समाज में ली हुई बुराइयों के लिए, लेखक की दृष्टि से उत्तरदायी है।

देश स्वतंत्र हुआ। सभी प्रदेशों और केन्द्र में कांग्रेस सत्ता रूढ़ हुई। लोगों की बड़ी आशाएँ थीं कि अब प्रगति के नये रास्ते खुलेंगे। नए रास्ते खुले, लेकिन उसका लाभ किन लोगों ने उठाया, छोटे दुकानदार का लड़का किस तरह करोड़ों की संपत्ति का मालिक बना, किस तरह एक एक डाकू का लड़का मंत्री बना और किस तरह वह मंत्री उस करोड़पति के हाथ की कठपुतली बन गया। सम्पूर्ण कहानी को तीन-तीन पीढ़ियों के रूप में उपन्यासकार ने हमारे सामने रखा है। घासी राम दादा, पुत्र मेवालाल और पौत्र राधेश्याम की कहानी में राधेश्याम आधुनिक ढंग से और वैज्ञानिक स्तर पर अपना जीवन जीता हुआ हमारे सामने आता है। यहां न बाप को चपत मारने की घटनाएं है और न तीर्थ यात्रा पर इहलोक और परलोक सुधारने की घटनाएं ही। मात्र बुद्धि के बल से इंगलैण्ड में आई. सी. एस. की परीक्षा बीच में ही छोड़ कर जैसुखलाल नामक मित्र के सहयोग से फलावर मिल की मशीन लाकर अपने और अपने परिवार का कायाकल्प कर देता है। माया से माया पैदा करना वह जानता है। युद्ध काल के दौरान तीन फलावर मिलों चार तेल मिलों एक चीनी मिल का और बड़े-बड़े ठेकों की फर्म का मालिक बन जाता है। यहां ब्लैक मार्केटिंग और स्वतंत्रता के पश्चात् ब्लैक मनी को बचाने के लिए खद्दर की ढाल भी है, हजारों

भिखमंगों की मौत की दस हजार में खरीदारी भी है। और प्रदेश के गृहमंत्री के रिश्वत और पार्टी चन्दा देकर सरकार को अपने साथ शेयर खरीदन पर राजी किये जाने की बुद्धि भी।

दूसरी कहानी जबरसिंह के विश्वासघात की और धनवंत कुंवर की धर्मपरायणता की है। जबर सिंह खानदान से डाकू वंशज होते हुए ठाकुराइन धनवंत कुंवर से शादी करवा बैठते हैं। धनवंत कुंवर जहाँ स्वभाव से हठी और भारतीय संस्कृति, नेम धर्म वाली है वहीं जबर सिंह मुहंफट, भ्रष्टाचारी, और स्वार्थी कांग्रेसी हैं। बचपन से ही जालसाजी तिकड़म और मारपीट में अग्रणी होने के कारण राज्य के गृह मन्त्री बना दिये गये। यह फिर जालसाजी बड़ी-बड़ी पार्टियों और उनके ऊपर हल्का-सा सरकारी वक्तव्य आम जनता को भ्रम में डालने के लिए पर्याप्त है। दोनो मुट्ठियाँ भर जनता को लूटना और पार्टी चन्दा अधिक से अधिक इकट्ठा कर अपनी कुर्सी कायम रखना, भ्रष्टाचार को बढ़ावा और अच्छाई को बुराई साबित करने वाले जबर सिंह को अन्त में प्रादेशिक चुनाव में रामलोचन पाण्डे (उनके द्वारा मुअत्तिल डी० एस० सी०) से हम हारते हुए देखते हैं। इस हार की पूर्व पीठिका में जहां धनवंत कुंवर हैं वहीं उतना ही अंशों में लेखकीय अभिव्यक्ति की साम्यवादी विचारधारा भी।

लेकिन इन सारी परिस्थितियों से जबरसिंह की धर्मपत्नी धनवंत कुंवर जिस प्रकार विद्रोह करती है, वे परिस्थितियां और विद्रोह दोनों बहुत सजीव बन पड़े हैं। धनवंत कुंवर को लेखक ने एक कोड़े की तरह प्रयोग किया है। जो अपने पति मंत्री जबर सिंह पर उसकी लोलुपता के विरुद्ध बरसता है और करोड़-पति राधेश्याम पर भी, जिसका विश्वास यह था कि धन से हर चीज खरीदी जा सकती है। सदाशिव गौतम ने जबरसिंह को पार्टी का कार्य सौंपा उसे मिनिस्टर बनवाया, बाद में जबरसिंह द्वारा हम सदाशिव गौतम को चुनाव में हारते हुए भी देख सकते हैं। यहाँ जबर सिंह युद्ध राजनीति की विकृतियों का प्रतीक है वहीं उसकी पत्नी धनवत कुंवर को हम धर्म परायणता के प्रतीक रूप में देख सकते हैं।

जबर सिंह के गृहमंत्री बनते ही उसका आंतक जनता पर पड़ा। वह जानता है कि अपनी राजनीतिक सत्ता किस तरह कायम रखी जाए। उसने देखा कि आदर्शवाद का युग देश के स्वतंत्र होते ही समाप्त हो गया है। अब आदर्शवाद

एक नारा भर रह गया हैं, असली चीज है अपनी सत्ता की रक्षा केवल पैसे के बल पर ही हो सकती है।[1] धनवंत कुंवर पति के एकदम उलट, पति की बुराईयों की ग्लानि में डूबी हुई गौतम के हारने पर देर तक रोने वाली, वह जानती हैं कि जबर सिंह का विश्वासघात ही एक मात्र कारण है उसे हराने का। उसका मस्तक नीचा हो गया था शर्म से।[2] पारिवारिक कलह, पति पत्नी के स्वभाव और मान्यताओं की विभिन्नता हमारे आज के समाज की विशेषता है जिसे प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त किया गया है।

उपन्यासकार को जो किस्सा बयान करना था, उसे उन्होंने बखूबी बयान किया है। स्थितियों का ज्ञान कराने के लिए उन्होंने पात्र उत्पन्न किये हैं और उनसे पूरा फायदा उठाने के बाद उन्हें लावारिस छोड़ दिया गया है। उपन्यास का कोई नायक या नायिका नहीं है। कथा का राजमार्ग प्रशस्त करने के लिए जिसकी जरूरत होती है, वह सामने आता है। अपना काम पूरा करने के वाद उसे पेंशन दे दी जाती है। खूबी यह है कि छोटे से छोटा पात्र भी अपनी छाप पाठक के मन पर छोड़ता है क्योंकि कोई भी पात्र अकारण प्रकट नहीं होता। सेठ राधे श्याम की पहली दो पीढ़ियों की क्या सामाजिक और मानसिक हैसियत थी? यदि यह बताना आवश्यक है तो राम गोसाई (भगवतीबाबू) उन्हें नचाते हुए मंच पर लाते हैं और काम समाप्त होने के बाद उन्हें बद्रीनाथ भेज देते हैं।[3]

बंगलों, कारों, वर्करों और बड़ी-बड़ी पार्टियों के लिए यह कहानी एक पीढ़ी से तीसरी पीढ़ी तक अनवरत चलती रहती है। जहां पाप, भ्रष्टाचार और अपराध है। सफेद पोशी, शराब की भट्टियां, ऊपरी तड़क-भड़क, जी हजूरी के साथ जहां ईमान बिकता है। वहां साफ लेकिन दृढ़ अहंमी है जो इन सब को एक ही ठोकर में बिखेर कर रेशे-रेशेभी कर देता है। कोई भी चीज गैरकानूनी नहीं क्योंकि मुख्य मंत्री और गृहमंत्री और अन्य मंत्रियों के भाई, भतीजे ऊंची ऊंची सरकारी और गैर सरकारी नौकरियों पर हैं। सब कुर्सी हथियाने और उसे बचाने के चक्कर में हैं।

---

1. सबहिं नचावत राम गोसाईं—भगवतीचरण वर्मा, पृ० 97
2. वही, पृ० 97
1. सुरेन्द्र तिवारी—धर्मयुग, 16 अगस्त, 1970, पृ० 16

आज अफ़सर वर्ग किस कशमकश में काम कर रहा है, इस ओर श्री लाल-शुक्ल को छोड़कर किसी लेखक का ध्यान सम्भवतः नहीं गया हैं। भगवती बाबू ने अफसर वर्ग जिस परिस्थिति में फंसा हुआ है, उसका चित्रण बड़ी बेरहमी के साथ किया है। रामलोचन जबरसिंह के गांव के हैं और इस नाते भतीजे भी, धनवंत कुंवर उसे पुलिस की नौकरी में लगवा देती है। योग्य और परिश्रमी व्यक्ति होने के नाते और अंशतः इस नाते भी कि गृहमंत्री का आदमी है, रामलोचन डी० एस० पी० बना दिया जाता है। सेठ राधेश्याम गृहमंत्री के घनिष्ठ मित्रों में हैं लेकिन धनवंत कुंवर को सेठ राधे श्याम की पत्नी उसी मिट्टी का बना समझती है जिस मिट्टी के जबर सिंह हैं। वह धनवंत कुंवर को खरीदने का प्रयत्न करती है। ठाकुराइन को इस हरकत से आग लग जाती है और उनका प्रिय भतीजा रामलोचन पाण्डे डी० एस० पी० कसम खाता है कि वह राधेश्याम से बदला लेगा। स्मग्लिंग के एक केस में वह, बावजूद गृहमंत्री जबर सिंह के सेठ राधेश्याम को जेल में बंद कर देता है। जबरसिंह के आदेश से राधेश्याम छूट जाते हैं और रामलोचन मुअत्तल कर दिया जाता है। जबरसिंह उससे सेठ राधेश्याम से माफी मांगने को कहते हैं, लेकिन रामलोचन उसके बजाए इस्तीफा दे देता है और धनवंत कुंवर की सहायता से जबर सिंह को हराता है और विरोधी दल का नेता बन जाता है।

वस्तुतः सारा वृत्तांत बड़ा ही रोचक है और घटनाएं बड़ी तेजी से घटित होती हैं। भगवती बाबू को 'पोएटिक जस्टिस' के नाते रामलोचन से जबर सिंह को हरवा देना न्याय की दृष्टि से उचित होकर उन्हें संतुष्ट तो कर जाता है परन्तु यथार्थ की कड़ुवाहट क्या होती है इससे उपन्यास अनभिज्ञ रह जाता है। इसमें कोई शक नहीं कि इस प्रकार की घटनाएं असम्भव नहीं परन्तु क्या इस प्रकार की घटनाएं वास्तव में होती हैं? प्रश्न यहीं रह जाता है।

नियति सब कुछ कराती है, इंसान के किये धरे कुछ नहीं होता, वह किसी अदृश्य शक्ति के हाथों कठपुतली की तरह नचाया जाता है। घटनाएं जो घटित होतीं हैं वह पहले ही घटित हो चुकी होती हैं। नियतिवादी होना भगवती बाबू की नियति है। कौन जाने वही सही हों? क्योंकि रामलोचन की नियति डी० एस० पी० से साम्यवादी दल के नेता के रूप में आंकी गयी है।

'धूप छांही रंग': गिरीश अस्थाना

गिरीश अस्थाना का उपन्यास 'धूप छांही रंग' (1970) (दो भागों में) 'झूठा: सच' के बाद यशपाल परम्परा की अगली कड़ी हो सकता है। बेशक 'झूठा सच, की भांति यह विशालकाय उपन्यास नहीं है फिर भी यशपाल की भांति इनकी उपन्यास कला के उद्देश्य के मूल में एक जीवन दृष्टि को देखा जा सकता है। गिरीश अस्थाना ने भी यशपाल की भांति मार्क्सवादी चिन्तन के प्रभाव को स्वीकार कर उसे चरम सत्य के रूप में मानने से इन्कार किया है। यह उपन्यास देश विदेश की भूमि पर, निम्नमध्यवर्गीय और मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों और कलाकारों की कुंठा, क्लेश आदि को समेटे हुए है। एक तरफ स्वतंत्रता से पूर्व अंग्रेजों की रंग भेद नीति की धज्जियाँ उड़ाता है तो दूसरी ओर स्वातंत्र्योत्तर राज्य-व्यवस्था का पर्दाफाश भी करता है। वस्तुत: यह कहानी एक तरफ विदेशी शासक की 'लड़ाओ और राज्य करो' की नीति तथा दूसरी ओर स्वदेशी लाल फीता शाही के भाई भतीजवाद के एकाधिकार के दो पाटों के बीच पिसते हुए एक मध्यवर्गीय युवक चित्रकार की कहानी है। या यूं भी कहा जा सकता है कि यह एक ऐसे कलाकार के संघर्षमयी जीवन की कहानी है जो स्थिरता और सुरक्षा के लिए पूंजीवादी शक्तियों से अन्त तक संघर्षरत रहा। यह संघर्ष कला के प्रति निष्ठा, अदम्य साहस और त्याग का भी हो सकता है और एक दिशाहीन जीवन बोध का भी।

इस उपन्यास का नायक सुकान्त अंग्रेजी पढ़ा लिखा मध्यवर्गीय युवक है जो अपने परिवेश से त्रस्त है। उसकी अपनी इच्छाएं हैं। जहाँ वह चित्रकार बनना चाहता है वहीं दुनिया की सैर के लिए भी वह मचलता है। उसकी इस आकांक्षा को पूर्णता देता है दूसरा विश्वयुद्ध जब वह घर वालों से बिना पूछे फौज में भर्ती हो जाता है। मन ही मन चित्रकार बनने के स्वप्न को दफन कर तब सुदूर पश्चिम में उत्तरी अफ्रीका चला जाता है, जहां अंग्रेजो के साथ मिल उन्हें फासिस्ट फौजों से लोहा लेता है। इस प्रकार उपन्यास का प्रथम भाग जीविकोपर्जन के लिए तथा परिवेश से छुटकारा दिलाने के लिए सुकान्त को विदेश ले जाता है। यहां भी अंग्रेजों की रंग भेद नीति उसे खुलकर जीने नहीं देती। कम वेतन पाने वाले और नेटिव कहलाने वालों भारतीय फौजियों की अगली पंक्तियों में मरते देख और हर जगह आगे रखे जाने वाले तथाकथित विशिष्ट अंग्रेजों को पीछे की पंक्तियों में खड़ा देख उसे विदेशी शासक की नीति

और खुद विदेशियों से भी घृणा होने लगती है। वह कर्नल हावर्ड की कमान में रायल इण्डियन आर्मी सर्विस कोर में मात्र क्लर्क ही नहीं, फौजी शिक्षा प्राप्त जवान (सिपाही) भी है। घायलों के मरने की रिपोर्ट भेजते हुए जहां उसके हाथ कांपे हैं वहीं वह हाथ अंग्रजी शासक की कूटनीति के कारण खुजलाए भी हैं। स्वयं को तीसरे दर्जे का नेटिव समझे जाने पर उसे जहां दुःख होता है वहीं अंग्रेजों को अधिक वेतन मिलने का रंज भी उसे सालता है। परन्तु कहीं अन्दर से वह स्वीकारता भी है कि उनकी खुद की रंग भेद की नीति ने समाज को कहीं दूर तक खोखला कर दिया है। उसे बार बार लगता है कि हम खुद अन्दर से कमजोर है और इसकी फायदा अंग्रेजी शासक उठा रहा है। स्वदेश में ही नहीं विदेश में भी समुद्र पार जहां वह स्वतंत्रता और समता की लड़ाई लड़ने आये हैं, रंग भेद और जातिभेद नए नए रूप धारण कर सामने आया है। इण्डियन क्रिश्चियन सार्जेन्ट और कार्पोरलों को ऐंग्लो इस इण्डियन घृणा से देखते हैं। और अंग्रेज, एंग्लो-इण्डियन तथा ईसाई, दोनों को ही 'नेटिव' समझते हैं। वह न तो एक ही कमरे में इकट्ठे हो सकते हैं और न ही एक ही कमरे में इकट्ठा करवा ही सकते हैं। सुकान्त इस वर्ग भेद भावना का परिहास भी करता है और कठमुल्लाओं की भीड़ से उबरने का प्रयत्न भी। यही नहीं वह इस सम्पूर्ण परिवेश को अपनी स्कैच बुक में उतारने का प्रयत्न भी बीच बीच में करता मिलता है।

साक्षात मौत के जाल में से गुजरते हुए हम उसे आस्थावान और जीवन क्षेत्र में संघर्षरत ही पाते हैं। मौत की छाया में मृणाल से बाँसुरी सुनने का आग्रह जीवन के प्रति उसकी आस्था का एवं महत्वपूर्ण प्रमाण है। उसकी दृष्टि हर सूक्ष्म से-सूक्ष्म सौन्दर्य और यथार्थ को पकड़ने का प्रयत्न करती है। समुद्री जहाज़ से टकराती ज्वार-भाटा की लहरें रेतीले इलाकों में लड़ते और मरते फौजी, रेत की ढूह, विध्वंसक शहर की मीनारें, नील नदी का सौन्दर्य और इटालियन बम वर्षकों को वह कभी न भूलने के लिए अपनी स्कैच बुक में क़ैद कर लेने का जिज्ञासु भी है। परन्तु माँ की मृत्यु का तार या वह विचलित भा होता है और भावुक भी और स्वदेश न लौट, आगे युद्ध क्षेत्र में जाने का बहाना भी करता है।

वस्तुतः वह साधारण मानव है जो हर प्रकार की सहज भावना का शिकार हो जाता है। युद्ध क्षेत्र में रहते हुए भी वह प्रायः हर सिपाही की भाँति कहीं अन्दर घर से जुड़ा हुआ है। माँ की मौत की सूचना पा अपने शराबी

पिता को कोसता भी है और सहानुभूति भी करता है। सैक्स की भूख उसकी सहज भूख है। शहनाज़ के चुम्बनों को याद कर सिहरता भी है और होने वाली पत्नी का चित्र एकान्त में चूम कर तृप्त भी होता है। अकेलेपन से छुटकारा पाने के लिए शराब और सिग्रेट भी शुरू करता है। कट्टरपंथी लोगों की क्रियाओं को खुला पाखण्ड कहकर उनकी निंदा भी करता है। पिता के अकेलेपन पर तरस भी खाता है और मां द्वारा चुनी गयी लड़की से शादी के बारे 'हाँ' कर मां के प्रति प्यार को भी दर्शाता है। भारत पाक बंटवारे में शहनाज को खो दुःखी भी होता है। और चपला जैसी पत्नी पाकर प्रसन्न और तृप्त भी। वस्तुतः वह समझौतावादी है। हर स्थिति हर घटना, हर पल वह अपने से और अपने परिवेश से समझौता करता रहा है और जहां ऐसा नहीं कर सका वहाँ उसने पलायन किया है।

स्वदेश वापिस आने पर वह पुनः तूलिका पकड़ जीवन के धूप-छाँही रंगों को फिर केनवास पर उतारना शुरू कर देता है और दिल्ली में अपने चित्रों की प्रदर्शनी भी लगता है। इस प्रदर्शनी में जहाँ उसे कोई भी चित्र न बिकने पर दुःख है वहीं नविनिप्रमर नवभारत वितरण एवं निर्यात प्रतिष्ठान के मैनेजर जोहरी से मिलकर अपार प्रसन्नता भी होती है। उपन्यास के दूसरे भाग में वह जीविकोपार्जन और सुरक्षित भविष्य के लिए संघर्षरत मिलता है। पहले उसे अंग्रेजी रंगभेद नीति ने बेबस किया। अब वह स्वदेशी लाल फीताशाही में स्वयं को बेनाम, अरक्षित और मिसफिट पाता है।

जोहरी द्वारा वह नविनिप्रमर प्रतिष्ठान में अफसर तो लग जाता है परन्तु जौहरी का स्वार्थ उसे कहीं का नहीं छोड़ता। कम वेतन और अधिक काम के कारण कलकत्ता जैसे महानगर में कुछ न कर पाने की स्थिति में वह प्रतिष्ठान को इस्तीफा दे देता है। परन्तु जौहरी के इंक्रीमेंट के चोगे के लालच में मछली पुनः जौहरी के जाल में फंस जाती है, सुकान्त इस्तीफा वापिस ले लेता है। परन्तु एक बात निश्चित है नायक का स्वरूप यहां विकास के उन आधारभूत कारणों पर टिका है, जिसके पीछे उसका पहला इतिहास रहा है। यहाँ वह पहले से अधिक चालाक, व्यावहारिक और अपनी सुरक्षा भावना के कारण दृढ़ है। जोहरी द्वारा फुसलाने पर उसका यह कथन उसके इसे स्वरूप के नए पहलू को दर्शाता है—देखिए जोहरी साहिब, मेरे सब्र का पैमाना भर चुका है, मैं अब

उम्मीद के सहारे लटका नहीं रहना चाहता हूं जो बात कही जाए, पक्की की जाए।—मैं जानना चाहूंगा कि मुझे कुल-मिलाकर कितना फायदा होगा।[1] यहाँ वह अपने को पहले से अधिक अरक्षित महसूस करता है। असुरक्षा उसकी विवशता बन जाती है। इस्तीफा वापिस लिये जाने पर आस्तित्व का संकट भी टल जाता है तथा उसकी पत्नी और बच्चे के इर्द-गिर्द सुरक्षा का वह भ्रमात्मक घेरा कायम रहता है।

नौकरी पर पुनः आकर भी लगता है वह नौकरी से पूरी तरह नहीं जुड़ पाया। दफतर के विशाक्त परिवेश में, काकटेल पार्टियों और डैलीगेशनों के रंगीन स्वभावों में उसकी अंगुलियाँ हमेशा केनवेस पर कुछ उतारने को व्याकुल रही हैं। इसका कारण उसका वह कलाकार मन है जो बार-बार इसे अपने उद्देश्य के लिए चेतावनी देता है। वह उस कलाकार मन की सुनता भी है और दफ्तर से छुट्टियों ले कर अपने अधूरे चित्रों को पूर्णता भी देता है। कलकत्ता की चित्र प्रदर्शनी में अपनी सफलता के पश्चात वह जल्द ही कलकत्ता छोड़ दिल्ली फ्रीलाँसिग करने का निर्णय ले लेता है। इस निर्णय पर जहां वह प्रसन्न है वही कलकत्ता छोड़ने का भी उसे रंज है। इन क्षणों में वह बेचैन और भावुक हो उठता है। भावुक वह पहले भी हुआ है—फौज में मृणाल की मृत्यु के समय, मां की मृत्यु का तार पाकर, शहनाज से बिछुड़ कर, अपनी कम्पनी से अलग होकर जान से विलग होकर वह अकेला होता गया है। उसका इस प्रकार अकेला होना उसके नए संबंधों के विस्तार को दर्शाता रहा है—जिन्दगी के सफर में पुराने परिचित चेहरे अक्सर खो जाया करते हैं, शहनाज सदा-सदा के लिए खो गयी, मृणाल उसे कलपता छोड़ कर चल बसी। कर्नलहावर्ड, सूबेदार गुरंग और अन्तोनियो—कुछ खोये जाकर पुनः मिलते हैं और फिर बिछुड़ जाते हैं, जैसे जान गिल्बर्ड।—और चूंकि जिन्दगी का सफर लम्बा है, राह में नये-नये चेहरे बराबर मिलते रहते हैं—बाबू, अग्रवाल, आनन्द, सक्सेना, प्रकाश चटर्जी, मिन्टो, मनोरमा सरकार, मृदुलानाग, बाल मुकुन्द 'कोशाइजा', मधुसूदन, सुनील, और सुमिता राय चौधरी। मगर इन अनगिनत नये पुराने चेहरों की भीड़ में कुछ थोड़े से ही अंधेरी रात में कन्दील के समान चमकते रहते हैं (शहनाज, जान, मनमोहन, मृणाल, कर्नल हावर्ड, कुक डिसूजा, भाईराम खलासी, कार्पोरल

---

1. धूप छांही रंग—गिरीश अस्थाना, पृ० 650

गिबसन, सुबेदार गुरंग अन्तानियो, सुनील, सुमिता, शेष विस्मृतियों के अंधकार में खो जाते हैं।[1] यह ठीक है कि वह एक खूटें से बंधकर नहीं रहना चाहता, वह भी ठीक है कि उसका विश्वास है कि चेहरों की पहचान समाप्त होने पर कहीं और चल देना चाहिए। परन्तु दस साल की पुरानी नौकरी छोड़कर यकायक दिल्ली जाने का निर्णय उचित नहीं लगता, जबकि व्यवहारिक रूप में उन दस वर्षों में वह बहुत सी चीजों का आदी हो चुका है, उसके घरवाले भी कुछ चित्रों के आदी हो चुके हैं। सब से बड़ी बात यह है कि दिल्ली में कोई स्थाई नौकरी नहीं। ऐसा लगता है मानो पूंजीवादी व्यवस्था के प्रति अपने रोष के कारण लेखक ने जानबूझ कर उसे पूंजीवाद के पंजे से मुक्त कर चित्रकार की साधना के बहाने उसे दिशाहीन फ्रीलांसिग के लिये पटक दिया हो। उस समय जब कि वह खुद अपने भविष्य के निर्माण में जुटा हुआ है। उसका इस प्रकार का अन्त अपने आप में आरोपित है जो स्वाभाविक न होकर ऊपर से चिपकाया गया लगता है। नायक का स्वरूप अन्त में अव्यवहारिक और आदर्श या मानवतावाद की दुहाई पर यथार्थ से कोसों दूर हो जाता है। जहाँ लेखकीय जीवन दृष्टि काम करती है।

यह जीवन दृष्टि उपन्यास के हर पन्ने पर और मुख्य रूप से दूसरे भाग के हर पन्ने पर देखी जा सकती है। लेखक ने पूंजीवादी शक्तियों के लगातार विकसित होने के कारणों को और उनकी ऐय्याशी को ही मुख्यतः महत्व दिया है। ब्लैकमेल और पूंजीपतियों के गुर्गों का भण्डा फोड़ किया है। सुकान्त का सर्कस वाला स्कैच पूंजीवादी राजनीति और लालफीताशाही को एक विद्रोह में आँकता है। जोहरी द्वारा गुलाम युग के अधिकारी की कल्पना कर पूंजीवादी शक्तियों द्वारा मानव का हनन और शोषण बताया है। यही नहीं फोरटाईप की खड़खडाहट में छटपटाते कलर्कों के वर्णन लेखकीय जीवन दृष्टि के स्पष्ट प्रमाण तो स्वयं सुकान्त है जो इस उपन्यास के अन्त तक पूंजीवादी शक्तियों के शोषण द्वारा बुढ़ा गया है।

अतः नायक का स्वरूप एक जीवन दृष्टि द्वारा निश्चित रूप से संचालित एक आरोपित अन्त है! ऐसा अन्त जो जोहरी के व्यहारिक शब्दों से मेल खाता है—आर्टिस्ट लोग अत्याधिक भावुक और आदर्शवादी मनोवृत्ति के होते

---

1. धूपछाँही रंग—गिरीश अस्थाना, पृ० 750

हैं। उसका दृष्टिकोण मानववादी होता है। कभी कभी यही मानवतावाद वस्तु-स्थिति से मेल न खाकर अव्यवहारिक हो जाता है। यदि वह अपने संकल्प में सफल होना चाहते हैं तो उनको इस आदर्शवाद से पीछा छुड़ाना होगा।

'कभी न छोड़े खेत' : जगदीश चन्द्र : १९७६

जगदीशचन्द्र का यह उपन्यास नायक विहीन उपन्यासों की कड़ी का एक और उपन्यास है जिसमें पंजाबी आँचलिक्ता के साथ-साथ परम्परागत सजीव नायक का स्थान कंखाले गांव ले लेता है। कखाले गांव जहाँ जाट है, ठाकुर है, ब्राह्मण है, नीची जात वाले हैं। जाटों की आपसी खानदानी दुश्मनी है। यह दुश्मनी मामूली नहीं बल्कि खूनखराबे को रगों में लिये हुए है। एक तरफ नम्बरदार वंचित सिंह, करतार, जगतसिंह, नागर और जसवन्तकौर आदि है तथा दूसरी तरफ नीलो वालियों के खानदानों में नत्थासिंह, प्यारा, राजू और ठाकुर आदि हैं। एक दूसरे पर किरपाणों और लाठियों के हमले के पश्चात् पूरे गांव की संवेदना कभी खुलने लगती है कभी लंगड़ाने लगती है और कभी घिसटने लगती है। गांव में 'थाना' आने पर जहाँ गाँव के अन्य लोग भयभीत हैं वहीं गाँव के दुकानदार मुंशी और फेरूमल के लिए दोनों हाथों से चाँदी कमाने का समय है। दोनों ही बनिये है और आदमिथत नाम की चीज से वाकिफ नहीं है। नम्बरदारों और नीलोवलियों के खेतों पर ही उनकी नजर नहीं है बल्कि उनके घरों में रखी गेहूं की बोरियों और उनकी औरतों के गहनों पर भी है। धीरे-धीरे गाँव में तीन पार्टियाँ बन जाती है। लोग नम्बरदारों के साथ मिलकर उनको अन्दर तक खोखला करने की कोशिश करते हैं और कुछ नीलोवालियों को। बाकी के लोग तो तमाशबीन हैं, मजा लेते है और चटखारे ले ले कर दोनो टब्बरों के गुप्त सम्बन्धों पर बातें करते हैं। पर इतना तो निश्चित है गांव की राजनीति में मरता जाट ही है। मिलखा सिंह कहता भी है कि इसमें कोई शक नहीं कि लड़ाई, झगड़ा, दंगा-फसाद, मार-मीट बहुत बुरी चीज है। आदमी का नाहक खून गिरे, किसी को अच्छा नहीं लगता—पर कभी कभार का दंगा फिसाद हमारे हक में अच्छा ही है।[1] यह नहीं वह उन लोगों से आतंकित भी है और पूरी कोशिश में है कि जाट कहीं समझदार न हो जाये,

1. कभी न छोड़े खेत—जगदीश चन्द्र पृ० 25

वह लगातार उन्हें आपस में भिड़ाते ही रहते हैं। यदि जाट आपस में एक हो जाय तो गाँव में इज्जत के दिन काटना मुश्किल हो जाय। इनकी कसी जितनी जल्दी जमीन पर आती है, उतनी जल्दी ही हम पर भी आ सकती है।—हमें जमीन में ज़िन्दा गाढ़ दे तो किसी को कानों-कान खबर नहीं होगी। अगर जाट को अपनी कमाई संभालनी आ जाये तो सारी खुदाई समेटकर घर में डाल लें[1] हर गाँव की एक अपनी नीति होती है अपनी परम्पराएं, विश्वास और डर होते हैं जिनमें डूबते उतराते ही उनका जीवन चलता रहता है। यहाँ भी वही सब चीजें हैं तमाशबीन स्त्रियां सहानुभूति जताने के लिए कैसे एक दूसरे के घरों के चक्कर लगातीं है। इस गाँव में मंगल चौकीदार का उतना महत्व हो जाता है कि ज़ाट पीछे छूट जाता है।

मुंशी और फेरुमल पुलिस वालों के तलवे चाटते हैं उनको खिलाते-पिलाते अवश्य है पर उनकी वसूली करना भी वह जानते हैं। पुलिस वालों की साइकलों से लेकर थानेदार की घोड़ी तक की सेवा है और सारा गांव मुंह बाए सरकार की सेवा में हाजिर हो जाता हैं। हाकिम का भय इस कदर है, कि वह सब से अधिक पैंसा देकर पुलिस से पीछा छुडाना चाहते हैं क्योंकि हाकिम का क्या पता, किस वक्त मन में क्या आ जाए। किसी को हथकड़ी लगा दे, हवालात में बन्द कर दें, मुकदमें में फंसा दें, कोई भी पूछने वाला नहीं है।[2] पुलिस वालों का रिश्वत लेने का ढ़ंग भी गाँव की भूमि से जुड़ा है, हवलदार प्रहलाद मौके का मुआना करके गाँव वालों के साथ खड़े थानेदार से कहता है, जनाब तलाशी में आलमे जरबात बरामद हो गये हैं। खेती के समान के अलावा वहाँ पन्द्रह सालम ईटें और पांच रोड़े पड़े हैं। इसका मतलब है कि पन्द्रह सौ रुपए नकद मिले हैं और पांच सौ का वायदा है। दोनों खानदानों से गांव के लोग खाते हैं। शहर में इन सबसे डाक्टर, वकील कभी कम्पाउडर और छोटे से छोटा सिपाही और मुलजिम भी खाता हैं। ढाई साल में दोनों टब्बरों के खेत या तो उजड़ जाते हैं या बिक जाते हैं। असमय ही उन्हें बुढ़ापा घेर लेता है। जगतसिंह का शरीर टूट कर टहनी हो गया। नत्थासिंह की कमर झुक गई। घर वाले जेलों में सड़ने लगे। सारी उम्र के लिये वह कर्जदार हो गया। एक मुद्दत के बाद जगतसिंह के

---

2. वही, वही पृ॰ 25
1. कभी न छोड़े खेत—पृ॰ 52

आने पर घर का सूनापन कम होने को बजाए और भी बढ़ गया । वो आपस में बहुत कम बाते करते । हर समय अपनी-अपनी सोच में डूबे रहते । पांच साल से न तो मकान पर लेप हुई और न ही किसी प्रकार की मरम्मत । जो चीज टूट जाती वह उसी हालत में पड़ी रहती । वे घुटनों पर हाथ रखकर उठते, मरे-मरे से घूमते फिरते और छोटे-मोटे काम निपटाकर फिर अपनी-अपनी सोच में डूब जाते ।[1] अन्त में जसवन्त कौर के यहां पुत्र लेखक ने बहुत ही जल्दी पैदा करवा कर मात्र सूचनाओं के साथ उपन्यास का अन्त कर दिया है । इस प्रकार पूरे उपन्यास में गांव अपने सारे दुख दर्द और संवेदना के साथ परम्परागत नायक का स्थान ले लेता है जहां किसी भो पात्र को नायक की संज्ञा से पुकारा नहीं जा सकता ।

इन्द्र सुने : गिरिराज किशोर . १९७८

यह उपन्यास सामाजिक प्रासंगिकता में सबसे महत्वपूर्ण आदमी कीं बात से शुरु होकर आदमी की बात पर ही समाप्त होता है । आधुनिक पूंजीवादी परिवेश को 'इन्द्र नगरी' के 'मिथ' के रूप में फंतासी के आधार पर प्रस्तुत करने वाला यह नायकविहीन उपन्यास वास्तव में मनुष्य की व्यथागाथा का जीवंत दस्तावेज है । उपन्यास का अन्त भी मनुष्य की इसी व्यथा की कहानी कहता है—'मनुष्य की परिभाषा फिर अपनी शाश्वत परिभाषा की ओर लौटने लगी थी मनुष्य, मनुष्य होता जा रहा था ।' उपन्यासकार का अभिष्ट लक्ष्य पूंजीवादी देशों के पंजों में फसे नवविकसित राष्ट्रों की उस छटपटाहट को उजागर करना है जहां वह 'मुक्ति' के लिए संघर्षरत हैं ।

मृत्युलोक यदि इस उपन्यास में नवस्वाधीन देश की धरती के रूप में आया है तो देवलोक उन पूंजीवादी शक्तियों का प्रतीक है जो नवविकसित देशों को विकास के नाम पर ठग रही है । संघर्ष की शुरुआत इस मृत्युलोक पर परलोक-वासियों की सहायता से देवलोक की स्थापना तथा उनके द्वारा मृत्युवासियों के शोषण के साथ शुरु होती है । मानवीयता के हनन के साथ-साथ देवलोक सब मूल्यों को झुठलाकर मनुष्यमात्र को उन सब अधिकारों से वंचित कर देता है जिनके द्वारा ममुष्य स्वतंत्र मनुष्य कहलाने का अधिकारी हो सकता है । पूंजीवादी

---

1. वही, पृ० 203

वैज्ञानिक शक्ति के आगे वह आंख कान और जिव्हा के बिना इशारों पर नाचने वाला यांत्रिक मानव (रोबट) बनकर रह जाता है। अंविश्वासों में भटकता धर्मभीरु साधारण इन्सान शक्ति-सम्पन्न राष्ट्र के लोगों को अपने अन्नदाता और मिनि भगवान के रूप में देखने लगता है। भूख से निजात दिलाने में पैसे की चकाचौंध धीरे-धीरे नौजवान पीढ़ी में अपने खूनी रिश्तों तक को झुठलाने पर मजबूर कर देती है। किसी भी देश में संक्रांतिकाल अक्सर उस- देश का विपत्तिकाल हुआ करता है। ऐसी अवस्था में न तो पुरानी पीढ़ी अपने परम्परगत मूल्यों को छोड़ पाती है व ही नयी पीढ़ी पूरी तरह नए मूल्यों को आत्मसात् कर पुरानी मान्यताओं के मोह से मुक्त ही हो पाया करती है। इस प्रकार की आपाधापी की स्थिति में लोग एक भटकन से दूसरी भटकन तक की प्रक्रिया में एक तनावपूर्ण जिंदगी जीने को मजबूर हो जाया करते हैं। इसे ही उपन्यासकार ने यहां अविकसित राष्ट्रों की नियति के रूप में आंका है। देवलोक में यह नयी स्थिति नयी कल्चर मृत्युवासियों की नौजवान पीढ़ी को हांट करने लगती है। वह लोग अपने व्यक्तित्व विकास के लिए उनकी तरह मुस्कराना, चलना, खाना-पीना तो शुरु कर देते हैं परन्तु यह नही समझ पाते कि वह किस जमीन पर खड़े हैं। नकल की प्रवृति में असफलता उनको चिल्लाने पर मजबूर करती है। उनकी चिल्लाहट और स्वतंत्रता की बातों को देवलोक अपनी असुरक्षा के रूप में आंकने लगते हैं। नौजवान पीढ़ी इससे क्रुद्ध हो क्रांति का आह्वान करती है। अपने सुरक्षा कवच को मजबूत बनाए रखने के लिए देववासी हर प्रकार की कूटनीति का आश्रय लेने लगते हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि कोई भी देश जब तक आर्थिक, बौद्धिक तथा सामरिक दृष्टि से आजाद न हो तब तक अपना स्वतंत्र निर्णय नहीं ले सकता। मृत्युवासियों की इस कमजोरी का लाभ उठाते हुए वह जहां एक तरफ अनपढ़ जनता का हृदय जीतने के लिए हर कोशिश करते हैं वहीं दूसरी ओर सम्भावित खतरे के डर से देवलोक की दीवार की ऊंचाई भी बढ़ाते जाते हैं। उधर प्रतिक्रियावादी शक्तियों के खिलाफ हेवस और हेव नाट की खाई जनसाधारण के संघर्ष को और भी मजबूत करती है। नौजवानों द्वारा प्रचार और ऐजूकेशन नयी मान्यताओं पर प्रश्न चिन्ह लगाते है। जनसाधारण की परम्परागत देवी-देवताओं पर आस्था डगमगाने लगती है। इस विस्फोटक स्थिति में आस्था के टूटते ही अंतिम विकल्प के रूप में शोषित देवलोक का घेराव करते हैं और देवलोक द्वारा स्थापित चमत्कारी विज्ञान की दीवार का तोड़ डालते हैं। शोषितों द्वारा देवलोक का घेराव जहां पूंजीवादी शक्तियों के अत्यचारों से मानव

मुक्ति का संकेत देता है वही भविष्य की तकनीकी प्रणाली पर एक प्रश्न चिन्ह भी लगाता है।

मानवीय अधिकारों की वकालत का यह नायकविहीन उपन्यास पूंजीवादी राजनीति और राजदूतों पर ही व्यंग्य नहीं बल्कि प्रगतिशीलता, प्रतिबद्धता धार्मिक गुरुआई, धर्म भीरुता अन्धविश्वास, निष्क्रियता, सुविधाभोगी विलासी प्रवृतियों तथा मानवमुक्ति में बाधक प्रवृतियों को अस्वीकार भी करता है। कुछ समकालीन पात्रों की स्पष्ट और अस्पष्ट आकृतियों को उभारता है। वहीं पाठक को फंतासी के आधार पर कहीं न-कहीं पहुंचाता भी है। कुछ स्थानों पर धटनाओं की पुनरावृति जैसी खामियां हैं। वस्तुतः यह सब बीसवी शताब्दि के मानव मुक्ति प्रसंग के ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में हैं जिसमें मानव गाथा ही नायक का स्थान लेती है।

एक चिथड़ा सुख : निर्मल वर्मा : १९७९

प्रस्तुत उपन्यास अपने ढ़ेर सारे पात्रों के साथ उनके अधूरेपन की गाथा कहने वाला एक नायक विहीन उपन्यास है। इसमें बहुत से पात्र हैं परन्तु उन पात्रों में बिट्टी, डेरी, नित्ती इरा से लेकर मुन्नू तक कोई भी पात्र नायक की तथाकथि सम्भावनाओं पर पूरा नही उतरता। महानगरी का अंधेरा और पात्रों की भटकन तथा अधूरापन ही अपने पूरे परिवेश की संवेदना के साथ यहां परम्परागत नायक का स्थान ले लेता है। आधे-अधूरे क्लीव टूटे हुए पस्त आधुनिक पीढ़ी के युवक युवतियां जिन्हें एक अनजानी चीज की खोज है इस गाथा के हिस्से हैं। अपने घरों और परिवार वालों से बिछुड़े हुए अपने शर्मनाक दुःख को छिपाने में लगे रहते हैं। काले दुःस्वपनों में भटकती जिन्दा प्रेत आत्माएँ जीवन के सुख और दुःख की परिभाषा में भटकने लगी हैं। हर पात्र एक चिथड़ा सुख की तलाश में है। इसी सुख की तलाश में उनके रिश्ते बनते और बिगड़ते हैं। कुछ रिश्ते ऐसे रेगिस्तान से हो जाते हैं जिन्हें उन्हें हर रोज लांगना पड़ता है। धीरे-धीरे टूटते यह पात्र अपने से घृणा करने लगते हैं। वह अपने उस होने को कब्र के छोड़ चुके होते हैं। समय का अन्तराल उन्हें कुछ और ही बना देता है। दूसरे शहरों में भटकते हुए बार-बार एक शब्द उनके जहन में अटक जाता है 'आल अलोन' वह बेशक बिट्टी, मुन्नू, इरा, नित्ती, डैरी, मिसेजपन्त हो या उसके कुत्ते। अजनबी शहरों में भटकते हुए अचानक उनमें से एक को

कभी -कभी लगता कि सामने की गली पार करते ही जैसे उनका घर आ जायेगा। 'घर और अपनी अस्मिता की खोज ही इस उपन्यास के पात्रों की जिन्दगी का मानो उद्देश्य बन जाता है।

प्रस्तुत उपन्यास में निजामुद्दीन का रेलवे स्टेशन हर पात्र की अलग-थलग और उजाड़ जिन्दगी का प्रतीक है। ऐसी नयी पीढ़ी के लोग जो 'एक ही दिन में सब कुछ बदल देना चाहते हो। वह लोग कोशिश करते और सिफर हो जाते। डेरी को देखकर लगता जैसे उसके कई चेहरे रास्ते में छूट गए हों। सेटस्टीफेंन्स कालेज में, बिहार के गाँवों में, स्टूडियों के स्टेज पर, मुन्नु को लगता जैसे वह उम्र का दलाल है, दो झूठों के बीच एक सन्त जिसे अग्रेजी में पिम्प कहते हैं। एक ऐसा लड़का जिसे किसी भी समय फोन करके बुलाया जा सकता हो। इन सभी पात्रों को अन्त में हैरानी होती हैं जब उन्हें लगता है कि कई बार स्टेजवाली जिन्दगी ही जी रहे हैं। असल और नक्ल के बाद जब सच बर्दाश्त नहीं होता नित्ती आत्महत्या कर लेते हैं और इरा लंदन अपने परिवार वालों के पास जाने का फैसला कर लेती है।

'एक चिथड़ा सुख' अपने भाषाई प्रयोग के बावजूद एक नीम बहोशी का माहौल जहन पर छोड़ जाता है जहां कथावाचक पूरी डायरी सुना कर इलाहाबाद लौट जाता है। बाकी के लोग अब भी टूटी स्लेट से लटके आकाश के नीचे केवल याद की तरह हवा में रह गइ ठण्ड से ठिठुरते रहते हैं।

जिन्दगी नामा : कृष्णा सोबती : १९७९

प्रस्तुत उपन्यास पंजाब प्रदेश के पारिवारिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन प्रवाह का पुट लिए एक आंचलिक स्वरुप को हमारे सामने लाता है। नायक विहीन उपन्यासों की कड़ी के इस उपन्यास की यह विशेषता है कि कथा की दृष्टि से आदि, मध्य और अवसान नायक बिन्दुओं से होकर कथा किसी चरम बिन्दु पर जाकर समाप्त नहीं होती। वस्तुत: यह उपन्यास न तो टुकड़ों का संग्रह है और न ही हवा में उड़ते हुए पत्तों की ही संज्ञा को पूरा करता है।[1] यह उपन्यास नायकत्व को प्रश्नाप देने वाली प्रकृति से हटकर पंजाब प्रदेश की

1. समीक्षा : देवराज उपाध्याय: जनवरी-मार्च, 1980 पृष्ठ 20

विभिन्न संस्कृत जातियों की रहन सहन, रीति रिवाजों का ऐतिहासिक दस्तावेज है। चाहे इसमें घटनाए नहीं उसका चूरचार है परन्तु वह जीवन के निकट के बहुत से कोमल सांस्कृतिक पहलुओं को भी दर्शाता है। उपन्यास पढ़कर लगता है कि संस्कृतियों के माध्यम से मानव के व्यक्तित्व विभाजन को समझाया गया है। विभाजित मनुष्य और उसकी 'स्त्र' की अनुभूति जिस प्रकार लुप्त हुई है उससे आदमी विश्व को आँखे फाड़-फाड़ कर देख रहा है। यही कारण है कि इस अविभाजित मानव के संस्कारों को खोलने के लिए लेखक को अलग भाषा का सहारा लेना पड़ा है। वास्तविक जीवन की रेल-पेल, उठापटक, छीनाझपटी, निराकार, अन्धविश्वास को साकार रूप देने के लिए उसने प्रयोग की दृष्टि से आँचलिक भाषा के बहुत से शब्द अपने आप में समेट लिए गए हैं।

'जिन्दगीनामा' एक धरती के छोटे से खंड से उठती गाथा है जो शाहनी और शाह से होती हुई अंग्रेजी हकूमत की खिलाफत पर आकर खत्म होती है। इन सबके बीच वह सब कुछ घटता है जो मानवीय सम्बन्धों को बनाता है और बिगाड़ता है। इसमें मां, बाप, भाई, बहन, पुत्र से लेकर दूसरी जातियों के साथ उन सब रिश्तों को सहेजा गया है जिन से संस्कृतियाँ मरा नहीं करतीं। इसमें मन्दिर है, गुरुद्वारा है और मस्जिद भी है। इसमें गाँवो में बसे लोगों की मर्यादा भी है। सिपाही और सरकार का दमन चक्र भी है। शाहनी जैसा पारखी राजनीतिज्ञ भी है और उसकी मानवीय दृष्टि भी है। शाहनी भी है और गंवई औरतें भी है और उनके दुख-दर्द, रीति-रिवाज, जादू टोने, भगवान से मनते भी है, कोट-कचहरी की रौनक से लेकर जज के अमिट फैसले भी हैं। यही नहीं भरे पूरे परिवार में जहाँ पुत्र का अभाव है वहीं एकाकी टूटे हुए लोग भी है जिनका सब कुछ खत्म हो चुका है। पर लोग है कि फिर भी किसी अनजान आशा, प्यार और हमदर्दी में जी रहे हैं। अगर आपसी सम्बन्धों की यह कड़ी उनमें गुम हो जाए तो हो सकता है वह कब के मर चुके हों। इस उपन्यास की सफलता ही यही है कि उपन्यास दो संस्कृतियों के नंगेपन को काफी सफलता के साथ चित्रित करता है। यही नंगापन जब ठण्डेपन में बदला करता है तब तक दो संस्कृतियों की टक्कराहट हुआ करती है।

'जिन्दगीगमा' 1 जिन्दा रुख का यह भाग पंजाब की हरी-भरी धरती, चनाव और जेहलम नदी गेहूं की बालियाँ, सुनहरी धूप, सरसों के पीले खेतों, मटियारों और नखरीली मूछों वाले वहां के वासियों, चूड़ा छनकाती मवसा

सी खिली शरबती आंखों वाली नयी ताजी बहूटियों, फुलकारियों, चरखों, रंगीली पीढ़ियों, महीन सूत, तन्दूरों, सोन्धी महक वाली रोटियों, बैलों, हलो, गठीले नौजवानों, पंजाबी सूरमों, बैसाखी, लोहड़ी, फकीरों, मनौतियों, अल्हड़ मुटियारों, गुली, डण्डों, चौड़े सीने वालों कड़े जिगरों वालों, घोड़ियों, पालकियों और देश पर मर मिटने वाले योद्धाओं की कहानी कहने वाला ऐतिहासिक दस्तावेज है। इसके इतिहास में तख्तगाहों को प्रमाणों और सबूतों के साथ दर्ज नहीं किया गया बल्कि उसकी जगह इसमें दर्ज है लोकमानस की भगीरथी के साथ बहता/पनपता और फैलता/और जनमानस की सांस्कृतिक पुख्तापन में जिन्दा रहता[1] आदमी का इतिहास।

'श्वेतपत्र' : विवेकी राय १९८०

'श्वेतपत्र' नायक विहीन उपन्यासों की कड़ी का एक और सशक्त उपन्यास है जिसमें 1942 की क्राँतिकारी स्थितियां जीवित हो उठती हैं। वस्तुतः यह उपन्यास आज़ादी की लड़ाई का एक श्वेतपत्र हैं जिसमें सन् 42 के संघर्ष की गाथा है। पूरा उपन्यास पढ़ने के पश्चात एक प्रश्न ज़हन में अटक जाता है कि 42 के वह मूल्य जिनके पीछे हजारों जानें गयी उनका आज क्या हुआ ?

प्रस्तुत उपन्यास गाजीपुर, बलिया तथा भोजपुर में हुए आज़ादी के संघर्ष का विश्वसनीय खाका प्रकट करता है इसमें तात्कालिक आम आदमी की भूमिका में जय प्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्धन, लोहिया, श्रीमती अरुणा आसफ अली, शिब्बनलाल सक्सेना, इंदिरा गांधी, फिरोजगांधी, चित्तूपाँडे को चित्रित किया गया है।

पूरा उपन्यास अंग्रेजियत की उस बौनी तंत्र शाही को नंगा करता है जो अंग्रेजों के जाने के पश्चात् भी वैसा का वैसा है। स्वतंत्रता की आहुति में जिन मूल्यों को लेकर लोग शरीक हुए उन मूल्यों का आज कहीं नाम निशान नहीं इसमें कोई शक नहीं कि आज भी स्थितियां वैसी ही हैं। आज भी अंग्रेजी अधिनायकवाद को पूरे होशों हवास में जिन्दा देखा जा सकता है। आज़ादी की लड़ाई में बलि देने वालों का आज कोई नाम लेता नहीं। आजादी की लड़ाई

---

1. ज़िन्दगीनामा—कृष्णा सोवती—जनवरी, 1979,—पृष्ठ लेखिका का पन्ना

को कुचलने वाला नौकरशाही हाथ हमेशा शासन तंत्र पक्का रहा है। इस प्रकार स्थिति पहले से भी बदतर हो रही है। इस उपन्यास में भी अपने मूल्यों के लिए देश के लिए प्राणों की बाजी लगा देने वालों में तिवारी जी, हैडमास्टर साहब, रामचीज, शिवबहाल राय, सच्चानंद राय, पंडित राजेश्वर पाँडेय, सुदामा ओझा, लक्ष्मी शंकर त्रिवेदी, स्वामी ओकारनंद, शिवपूजनराय, वंशनारायण, वशिष्ठ नारायण, राजनारायण, सीताराम, रामाधार, कृपाशंकर, जमुना, रामनरेश, भगुनाथ, बृजनाथ, आचार्य रामसिंहासन शास्त्री तथा मुंशी पृथ्वी लाल आदि पात्रों के नाम गिनाये जा सकते हैं।

रचनाकार इस उपन्यास के माध्यम से केवल वर्तमान मानवीय चेतना उद्वेलित ही नहीं करना चाहता बल्कि रचना के माध्यम से ऐसे नवीन जीवन-मूल्य भी देना चाहता है, जिनसे वह अपने को व्याख्यापित कर सके। आज मानव-मूल्यों के नाम पर अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश मूल्यहीनता की स्थिति से बच नहीं सकता। पूरे विश्व में इस समय अमानवीय दृष्टि और मूल्यहीनता का राज देखा जा सकता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य के शरीर का भूगोल समय काटने का जरिया तो हो सकता है, पर वह उसके अस्तित्व की सार्थकता को प्रकट नहीं कर पाता। ऐसी विषम स्थिति मानवीय स्थिति में विवेकीराय का श्वेतपत्र अत्यंत महत्वपूर्ण कृति है।[1] विवेकी राय ने अपनी प्रेरणा को स्पष्ट करते हुए कहा है कि अब अपने इन (आजादी के) दस्तावेजों को देखता हूं, सोच-सोचकर हंसता हूं, हंस-हंस कर रोता हूं। बात विचित्र है, परन्तु आज की हमारी हालत ही ऐसी है। तब का जोश, तब के सपने, तब की दृष्टि तड़पन, सब क्या हो गया ? गहरे-गहरे स्वार्थों की आँधियों में देश का ख्याल तिनके की भांति उड़ गया और बिखर गयी सब बात पुरानी। पदपरस्ती, परिवार परस्ती, और शरीर परस्ती, के बाद बहुत उठे तो नौकरपरस्ती तक। देश की चर्चा तो बहाना होती, झूठा। यही आज़ादी के बाद हुआ। आज़ादी का लाभ चंद लोगों की जेबों में कैद हो गया। महेन्द्र कार्त्तिकेय के शब्दों में यह नायक हीन उपन्यास है, जो मन को कुरेद-कुरेद कर उन मूल्यों पर सोचने के लिऐ विवश करता है, जिन मूल्यों के लिए, 42 का संघर्ष सर्मपित था।[2]

---

1. धर्मयुग : 8 जून, 1980, पृष्ठ 23
   अस्मिता और सार्थकता के प्रश्नों से जूझती तीन कृतियां : महेन्द्र कीर्त्तिकेय
2. धर्मयुग वही

परिच्छेद 4 | पुनश्च

आज के हिन्दी उपन्यास और उसमें नायक के स्वरूप की खोज के विशिष्ट आकार परिचय के बाद इसकी सम्भावनाओं एवं सीमाओं की जाँच, विषय की अर्थवत्ता को और अधिक गहरा सकती है।

कहा गया है कि आज का हिन्दी उपन्यास अपने नए प्रयोगों के बावजूद अराजकता की स्थिति में है। इसका एक कारण सृजन के प्रति कथाकार की अवहेलना हो सकती है और दूसरा सृजन (कृति) के प्रति आलोचक की निजी धारणा जिसने प्रायः कृति को अपने संसार में ले जाकर व्याख्यायित किया है; अर्थात् कृति को स्वयं न बोलने देकर उसे अपने ढंग से बुलवाया है। कथाकार की अवहेलना ने कथा-नायक को अपने बिम्ब में पूरी तरह उभरने नहीं दिया और आलोचक की निजी दृष्टि ने कथा-नायक की प्रवृत्तियों में से उसकी प्रकृति को निकाल कर अपनी धारणाओं को उसके स्वरूप पर आरोपित किया है। इस प्रकार नायक का स्वरूप दो तरह से बलात्कृत माना जा सकता है। पहले, लेखकीय आग्रह के कारण और दूसरे आलोचकीय मान्यताओं के कारण। इन दोनों संकटों को विशेष ध्यान में रखते हुए ही हिन्दी उपन्यास में नायक के स्वरूप की कोई प्रामाणिक खोज सम्भव हो सकती है। इसे कोई निश्चित प्रयाण देने के लिए आज के हिन्दी उपन्यास को उसके निजी सृजन-संसार में से ही खोजना सार्थक हो सकता है। इसके साथ ही बदलते हुए वैश्विक मान-चित्र में भारत की समसामयिक अवस्था एवं स्थिति को पहचानना विषय को अनुकूल दिशाएं देना है। इन दिशाओं के आश्रय में ही उपन्यास में नायक के स्वरूप का कोई आकार रेखांकित किया जा सकता है, वह समाजशास्त्रीय आधार-भूमियों से परे नहीं है।

नायक के वर्गीकरण की भारतीय महाकाव्यगत परम्पराओं से इसका कोई सम्बन्ध इस लिए भी नहीं है, क्योंकि केन्द्रीय सदर्भ उपन्यास का है और उपन्यास को पूंजीवादी संस्कृति की देन माना गया है इस दृष्टि से यह आधुनिक विधा है, जिसका कोई आधुनिक आकार (कथा कहने की बात छोड़ कर) भारतीय कथा-परम्पराओं में उपलब्ध नहीं होता। अतः स्वभावतः इसमें नायक का स्वरूप भी पुरानी कथा-परम्पराओं के अनुकूल नहीं माना जा सकता; साथ ही मध्यवर्ग-जो आधुनिक काल की एक ऐतिहासिक उपज है—के उदय और विकास ने उपन्यास की प्रकृति के अनुकूल ऐसे अनगिनत कथा पात्रों को जन्म दिया है जो समूची वैश्विक स्थितियों का गुणात्मक परिचय हो सकते हैं। आज के हिन्दी उपन्यास में नायक के स्वरूप पर विचार करते हुए यह वह पहला स्थापना बिन्दु हो सकता है जो पूर्व और पश्चिम की कोई विलक्षण विभाजक रेखा भी नहीं खींचता क्योंकि आज विज्ञान की अन्यतम अभिनव गतिविधियों से पूरा विश्व किसी-न-किसी स्तर पर जुड़ा हुआ है। अतः नायक के वर्गीकरण की परिसीमाओं से बाहर निकाल कर व्यक्ति की प्रवृत्ति एवं प्रकृति के समानान्तर रखना होगा। यह प्रवृत्ति एवं प्रकृति एक-समूचे कालबोध की परिणति भी हो सकती है, और समूचे समाज-बोध की भी, साथ ही इसमें व्तक्ति का आंतरिक संसार भी अभिनव मुद्राओं सहित आकलित हो सकता है।

आज का हिन्दी-उपन्यास कथा-केन्द्र को अमूर्त्त परिप्रेक्ष्यों की ओर ले जाकर नायक के अमूर्त्त स्वरूप की व्यंजना भी करता है। इस भूमिका के अन्तर्गत नायक की मुद्रा शहर गांव, अंचल अथवा किसी मनुष्येतर वस्तु ने ग्रहण कर ली है। वस्तुतः यह मुद्रा वह मुद्रा नहीं है, जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। यह आलोचना का संकट है कि आलोचक कथा में नायक की खोज के लिए विवश है। यदि वह किसी अ-नायक अथवा प्रति-नायक की खोज करता है, तो भी नायक शब्द का आग्रह बीच में बना रहता है, अतः इसी भूमि पर शहर, गाँव, अंचल इत्यादि की भूमिकाओं को नायक की भूमिकाओं में लेना अध्ययन की एक विवशता हो सकती है। तथापि मध्यवर्गीय नायक के ह्रास के साथ शहर इत्यादि के मूर्त्त-अमूर्त्त आकारों का उपन्यास में केन्द्रीय स्थान ले लेना 'नायक, का 'विलुप्तीकरण' माना जा सकता है। अतः जिन उपन्यासों का केन्द्र ये अमूर्त आकार है, उन्हें नायक-विहीन उपन्यास कहना अधिक समीचीन हो सकता है। इसकी पुष्टि के लिए यह कहना असंगत नहीं होगा कि आज का हिन्दी उपन्यास मनः

स्थितियों, समस्याओं परिवेश की समग्रताओं अथवा वैश्विक स्थितियों में से व्यक्ति, समूह, पीढ़ियों के द्वेष, वर्तमान वैज्ञानिक, संकट, मूल्यहीनता तथा भविष्यहीनता आदि के विलक्षण प्रश्न खोजता है, केवल किसी एक पात्र, किसी एक व्यक्ति अथवा किसी एक चरित्र को रेखांकित नहीं करता। इस स्थिति में 'नायक' का स्वरूप खोज पाना सहज नहीं है क्योंकि 'नायक' के शब्दार्थगत आग्रह संकट पैदा करते हैं। यह बहुत निश्चित है कि 'नायक' शब्द का प्रारम्भिक अर्थ अब विसंगत हो गया है। इसके अर्थ का अथवा स्वयं इस शब्द का रूपान्तर जरूरी हो गया है। प्रायः इस स्थिति में 'कथा-केन्द्र' ही नायक का स्थान ले सकता है, परतु वह समस्या को और अधिक जटिल एवं विवादास्पद बना सकता है क्योंकि आज का हिन्दी उपन्यास कथा नहीं कहता, मनोभावों एवं मन:स्थितियों की व्याख्या करता है।

नायक के स्वरूप की खोज के इस विवादास्पद कोण पर पहुंचकर नायक-विहीन उपन्यासों की परिकलपना इस लिए भी सार्थक लगने लगती है कि मानव मूल्यों के विघटन की एक बहुत स्पष्ट भूमि समूची वैश्विक-सृष्टि में आरम्भ हो चुकी है। मानव गौरव की प्रतिष्ठा को क्रमशः घटाने वाले अनेक ऐसे तत्व हैं जिन्होंने विघटन की पूर्व पीठिका के रूप में महत्वपूर्ण काम किया 1। परिणामतः सिद्धान्तों के स्तर पर मनुष्य की सार्वभौमिक सत्ता स्थापित हो जाने पर भी भौतिक स्तर पर कुछ ऐसी परिस्थितियां और व्यवस्थाएं पनपती रही है जिन्होंने कालान्तर में ऐसी चिन्तन धाराओं को प्रेरित किया जो मनुष्य की सार्थकता और मूल्यवता में अविश्वास करने लगीं। बहुधा ऐसी विचारधाराएं नाम के लिए मानवसावाद के साथ विशिष्ट विशेषण जोड़ कर उसका प्रश्रय लेती रही, किंतु मूलतः वे मानव की गरिमा को कुंठित करने में सहायक हुई और मानव का अवमूल्यन करती गयी। अवमूल्यन की यह स्थिति आज के परिवेश में पहले से अधिक सशक्त रूप में उभर कर सामने आयी। आज जब हमारा जीवन प्रतिदिन विश्व की ओर अपने देश की आन्तरिक हलचलों से प्रभावित हो रहा है, आज जब हम निरन्तर एक उत्कम्प की स्थिति में जी रहे हैं। इस उत्कम्प में मिले हुए हैं कुछ संकुल स्वार्थ, कुछ ईर्ष्या द्वेष, कुछ नन्हीं-नन्हीं चोंचों की-सी महत्वकांक्षाए, कुछ थैली पर बैठे सांपों जैसे अहं और इन सबके प्रति असन्तोष, विद्रोह और इन सब को उखाड़ फैंकने की प्रवृति। इसके साथ ही राजनैतिक हलचलें जीवन पर इस कदर हावी हो रही है कि जीवन का हर पहलू रूखा और

फीका पड़ता जा रहा। कुछ बड़े-बड़े केन्द्रों की बात छोड़ दें तो अन्यत्र हमारा सांस्कृतिक जीवन बहुत कुछ मिटता सा जा रह गया है। पुरानी परम्पराएं छूटती जा रहीं है और नई परम्पराएं विकसित नहीं हो पा रही है। इकाइयों में उबलती हुई चेतना हैं. पर उस चेतना के सामूहिक उफान के अवसर नहीं आ पाते। आज वर्तमात की यही संकुल पृष्ठ भूमि हमें प्राप्त है। इस पृष्ठभूमि के आगे, तेजी से बनते इतिहास की साक्षी में, हम जो कुछ देख रहे हैं, जो कुछ अनुभव कर रहे हैं, जैसा जीना चाहते हैं और जैसे जी रहे हैं, इस सबका चित्रण जहां कहीं भी उपन्यास में उपलब्ध होता है वह जीवन के निकट एक प्रामाणिक तलाश है जिसे नायक-विहीन उपन्यास में आंकलित लिया गया है।

बीसवीं शताब्दी में उपन्यास जब नयी परम्पराओं, नयी मान्यताओं को लेकर चलता है अथवा किसी भी तरह की परम्परा या मान्यता को केन्द्र में लेकर नहीं चलता तो कहीं-न-कहीं इसकी भूमिका उपन्यास की नयी खोज से जुड़ी होती है। परिवेश से बुरी तरह छीला गया पात्र बिल्कुल अनजाने लेकिन गहरे क्षितिजों को उभारता है। उदात्त मानव के बाद लघु मानव की स्थापना, सम्भव है, इसी लिए की गई है। बहुत निश्चित है कि जिन अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों की उपज को हम जी रहे हैं वह हमारे लघु मानव को अमानवीय स्थितियों की ओर ले जाए। पश्चिमी उपन्यासकारों ने मानव के इस स्वरूप पर अपना अध्ययन शुरु कर दिया है। हमारे यहां मध्यवर्ग और निम्नवर्ग से उठा हुआ पात्र नायकत्व की इसी प्रवृति और प्रकृति का शिकार जाने बूझे और अनजाने हो जा रहा है।[1]

वस्तुतः आज का हिन्दी उपन्यास भी मानव-मूल्य की इस विघटन प्रक्रिया का साक्षी है। यद्यपि आस्था के नए स्वर इसमें उपलब्ध होते हैं, तथापि वे जीवन को सुस्पष्ट आकार नहीं दे पाते। नायक को प्रश्रय देने वाली औपन्यासिक प्रवृत्ति इसका प्रमाण हो सकती है जहाँ औपन्यासिक नायक इस सीमा तक निष्क्रिय, कमजोर, क्लीव और नपुंसक हो चुका है कि हम

1. इनमें समाज सुधार, राष्ट्रीय आन्दोलन, औद्योगीकरण, अन्तर्राष्ट्रीय-विचारधारा, विज्ञान, सन् 47 का बंटवारा, सांस्कृतिकरण, आधुनिककरण, पंचवर्षीय योजनाएं, आर्थिक नीति, उत्पादन, उपभोग, जनसंख्या, भीड़, शहरीकरण, पूंजीवाद और भारत-चीन व भारत-पाक युद्ध आदि जैसी बातें अथवा तत्व काम करते रहे हैं।

उपन्यासों के ढेर सारे पात्रों में किसी एक पात्र पर अंगुली रख कर उसे नायक के नाम से अभिहित नहीं कर सकते। यहां तक की परम्परागत नायक अपने गौरव से पद्च्युत होकर स्वयं 'नायक' शब्द को ही आधुनिक परिप्रेक्ष्य में कोई उपयुक्त एवं संगत अर्थ नहीं दे पा रहा। ऐसी स्थिति में 'नायक' की परिकलपना भ्रामक लगने लगती है क्योंकि उसके रुढ़ अर्थ उपन्यास की प्रकृति के समकक्ष उपयुक्त नहीं बैठते और एक पुराने शब्द को नए अर्थ देने में एक भीतरी विसंगति का आभास भी मिलने लगता है।



जगमोहन चोपड़ा की अन्य कृतियां :

काले रथ (1979)/फीनिक्स जल रहा है (प्रेस में)/वक्त की मौत नहीं होती (प्रकाश्य)

पुस्तक सम्पादन :

आज की कविता/कहानी के आस-पास/ कविता का समकालीन परिदृश्य ।

पत्रिका सम्पादन :

अभिव्यक्ति

बहरहाल (साल में दो बार) तथा बहरहाल बुलेटिन/आदि ।

सहयोगी लेखन :

हिन्दी कहानी का समकालीन परिवेश/प्रेमचन्द साहित्य कोष/ एक कविता नगर/ समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच/ अन्य अनेक सहयोगी प्रयास ।

देश की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कविताएं/कहानियाँ/ लेख प्रकाशित ।

अंग्रेजी/पंजाबी में कुछ कविताओं के अनुवाद ।

रंगमंच : रेडियो, दूरदर्शन :

चण्डीगढ़ की नाट्य-संस्था अभिनेत से लम्बे समय तक सक्रिय रंगकर्मी के रूप में सम्बद्ध/थैंक्यू मिस्टर ग्लाड का निर्देशन/ सम्प्रति पंजाब विश्वविद्यालय के पत्राचार निदेशालय के स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग से सम्बद्ध ।

सम्पर्क : 1083/37-बी चण्डीगढ़—160036.

VIKRANT PRESS
32, DSIDC Industrial Complex
Wazirpur Delhi-110052
Phones 713205.